Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अविचारी, अज्ञानी लोगों के लिए संसार रमणीय है, तत्वतः (विचार करने पर) अत्यन्त भयंकर है। सभ्य नागरिक के लिए अत्यन्त भयंकर या तो जंगल है या सागर। संसार की भयंकरता को प्रगट करने के लिए ही श्रीमद्भागवत में स्कन्ध ५ अध्याय १३ में 'भवाटवी' (संसार रूपी जगल) का वर्णन किया गया है। 'भवाटवीं याति न शर्म विदन्ति' संसार रूपी जंगल में भटक जाता है, शान्ति नहीं मिलती। 'यस्यां इमे षण्नरदेव दस्यवः' उसी जंगल में यह ६ डाकू रहते हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। वह इसका पुण्य रूप धन लूट लेते हैं। विविधि वासनाएँ ही इस जगल की झाड़ी, झंखाड़ी हैं, जिनके कारण मार्ग प्रशस्त नहीं, अवरोध और उलझाव आता ही रहता है।

इसी प्रकार कभी संसार की भयंकरता को समझाने के लिए इसे अखण्ड नृत्य की तरह बताते हैं—

नाचत ही निसि दिवस मर्यो।

(वि०प०)

एक प्रसिद्ध (सखी भाव निष्ठ) सन्त से किसी ने पूछा, 'शरम नहीं आती, मदं होकर जनाने वेष में इधर उधर नाचते फिरते हो। उन्होंने कहा, 'कौन नहीं नाचता ? क्या आप दहीं नाचते ? भेद इतना ही है कि कोई माया से बँधा हुआ है (वानर या भालु की तरह) विवश होकर नाचता है, कोई प्रभु के प्रेम में नाचता है। अखण्ड नृत्य के रूपक से भी संसार की भयंकरता दर्शाई गई है।

भवसागर के रूपक से यह भयंकरता और भी स्पष्ट हो जाती हैं। अपार सागर में डूबता हुआ मनुष्य जिस कष्ट में है, जगल में भटकने वाला उससे कम कष्ट में ही है, वैसे जलचरों अथवा वनचरों के द्वारा मारे जाने का भय उभयवर्ती ही है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वेदान्तियों ने ब्रह्म को अधिष्ठान रूप, साक्षीमात्र, निरीह, निश्चेष्ट बताया है, उसमें कोई लहर (ऊर्म्भि) या कम्पन (स्पन्दन) क्रिया नहीं होती, जब कि जगत् गतिशील है. संसरण करने से ससार नाम है, ब्रह्म अच्युत है, संसार सतत् परिवर्तन शील है। ब्रह्म प्रशान्त है, जगत् अशान्त है। ससार सिन्धु में पड़े हुए जीव के भीतर राग द्वेष की लहरें बराबर उठा करती हैं। इन लहरों से जीव स्थिरता या शान्ति का लाभ नहीं ले पाता। लहरों में पड़ा हूआ डूबता उतराता रहता है। प्रबल लहरों का स्थान सागर ही है, इसलिए रूपक की उपयोगिता है। काम क्रोध आदि विकार ही 'मकर, नक्र, झख, व्याल' आदि जलजीवों की तरह निगल जाने को तैयार हैं। अत: समझने वाले के लिए यह भव-सागर ही है। इसमें जो भगवान् में चित्त को स्थिर कर लेते हैं, उन्हें भगवान् बचा लेते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यातेशित चेतसां।।
(गीता १२.७)

श्री भगवान् ने भी गीता जी में जगत् को संसार सागर कहा। वे अनन्य भक्तों का इस संसार सागर से शीघ्र ही उद्धार करते हैं।

इस संसार सागर में कुछ लोग डूब रहे हैं, मगर अपने दु.ख से अचेत हैं, कुछ घबरा और चिल्ला रहे हैं, कुछ तैरते हुए थक रहे हैं, कुछ कहीं थाह पा गए, पैर टेक पाए हैं, कुछ थोड़े से सागर से निकलकर तट पर पहुँच गए हैं, सुरक्षित हो गए हैं, कुछ दूसरे डूबने वालों को बचाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

जो संसार में अपने को सुखी पाते हैं, जिन्हें समझ में ही नहीं आता कि इस संसार को जंगल या सागर की तरह भयंकर क्यों बताया,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऐसी कल्पनाओं को जो विकृत बुद्धि की उपज मानते हैं वह अपने कष्ट से अचेत हैं, जैसे सरसाम का रोगी अपने रोग की भयंकरता को नहीं जानता, जैसे जंजीर में बँधा हुआ पागल भी अपने को बादशाह समझता है, परन्तु विवेकी को उसकी इस दशा पर करुणा आती है, और इस दशा को दूर करने के लिए पागलपन की निवृत्ति हेतु इलाज चलता है। वैसे ही मोहवश जीव सन्तों के लिए अनुकम्पा का पात्र हैं। जैसे कोई कोई अबोध बालक जब परीक्षा में शून्य पा गए और किसी ने परिहास में कह दिया कि लड्डू मिला, तो स्वयं घर आकर खुशी से बोले, 'लड्डू मिला।'

बातुल भूत विवश मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन सँभारे।
जिन कृत महामोह मद माना। तिनकर कहा करिय नहिं काना॥
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

जो महामोहवश निरा अचेत नहीं हैं, वे डूबने और बेहोशी में रहने वालों में नहीं हैं। होश में आए हुए, होश हवास ठीक रखने वालों को जगत् सुख निधान नहीं लगता। उन्हें बोध होता है कि 'चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुःखानि च'॥ इसलिए यदि वर्तमान् में सुखावस्था भी हो तो वह स्थिर नहीं रह सकती। फिर वर्तमान के सुख को भी बिगाड़ती हुई समस्याएँ, चिन्ताएँ, कुन्ठाएँ घेरे रहती हैं। निश्चिन्त होकर सुखभोग नहीं हो पाता। अभ्यास से भोग का सुख क्षीण होता है, परन्तु निर्भरता बढ़ती है। अतः सुख जो कुछ प्रतीत होता है, वह दुःख मिश्रित, दुःखदग्ध है, दुःख से अस्पृष्ट (अछूता) कभी नहीं। गए सुख की याद, भावी सुख की आशाएँ, वर्तमान् की चिन्ताएँ सुख को व्यर्थ बनाती हैं।

लहर की उछाल से अगर सुख है तो लहर के गिरने से दुःख है, और इन्हीं लहरों में पड़े रहना ही असली दुःख है। लहरों के झझकारों में झूलता हुआ विचारवान् व्यक्ति सुखी नहीं होता, घबराता ही है। यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संसार सागर रागद्वेष की लहरों से भरा हुआ है। जैसे बड़ी बड़ी लहरों से सागर का ऊपरी तल चंचल रहता है, वैसे ही रागद्वेष (रोष) के संस्कारों से अन्तःकरण का ऊपरी (चेतनता का) स्तर भी चंचल रहता है। इससे चित्त शान्त नहीं रह पाता। वह विक्षिप्त रहता है। संसार में सुखाभास जितना घटता जाता है उतना ही रागद्वेष की लहरें कम उठती हैं, और कमजोर हो जाती हैं। यदि बाह्य जगत् का सुखाभास बिल्कुल मिट जाय, तो रागद्वेष की लहरें अन्तःकरण में उठेंगी ही नहीं। क्योंकि सुखदायक विषय में ही राग होता है, उससे विपरीत दुःखदायी विषय से द्वेष होता है, द्वेष से ही रोष (क्रोध) होता है। विषयों में सुख न भासने पर रागद्वेष शान्त हो जायेंगे और चित्त समाहित होगा। क्षोभ नहीं होगा। मोक्ष का अधिकार बनेगा अर्थात् भवसागर से पार होगा।

रागद्वेष रहित अन्तःकरण मुक्त होगा, परन्तु स्वयं पार हो जाने से सदा दूसरों को पार करने की वृत्ति नहीं बनती। पूर्व छन्द १० में कह चुके हैं कि परोपकाराय पारमार्थिक प्रीति का निर्वाह करने वाले सन्त बिरले ही होते हैं। बहुत से ज्ञानी मोक्षदान की भी वृत्ति नहीं रखते। तथापि यह समझना और मानना अच्छा होगा कि मुक्त और त्रिगुणातीत पुरुष का व्यवहार भी त्रिगुणानुसार ही होता है। मुक्त सन्त का व्यवहार तीन गुणों की कसौटी पर कसा जा सकता है। उसका व्यवहार सतोगुणी होगा। यद्यपि वह सतोगुण से भी बँधा नहीं हैं। सतोगुणी वृत्तियाँ 'करुणा मैत्री मुदिता उपेक्षा' सन्त के व्यवहार से सिद्ध हों तो यह स्वाभाविक है, आश्चर्यजनक नहीं। भवसागर से पार होने में सहायता करना 'करुणा' का ही परिणाम है। यथा—लागि दया कोमल चित सन्ता। (रा०च०मा०) इस अभयदान के कार्यक्रम में तात्कालिक करुणा पर्याप्त नहीं है, स्थिर करुणा चाहिए। यह सबके लिए स्वाभाविक नहीं है। वैसे दुखियों पर करुणा उत्पन्न होना सतोगुणी के लिए स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से कहा गया है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सन्त सहज स्वभाव खगराया । पर उपकार वचन मन काया ।।

संसार वाले लोग प्राय: यह कल्पना करते हैं कि राग द्वेष रहित मनुष्य रूखा होगा, कठोर होगा, दूसरों के प्रति बेरुख, लापरवाह होगा। यह सब अविवेक है, इसकी जड़ में यह विचार है कि मृदु व्यवहार, शील, दूसरे की सुविधा का ध्यान रखना, यह सब ममता (राग) से ही होता है। निर्मोही कठोर का पर्यायवाची सा हो गया है। इस विचार की एक त्रुटि तो यह है कि जो शिष्ट और मृदुल व्यवहार ममता प्रेरित है, वह ममता के क्षेत्र तक ही सीमित होगा, व्यापक नहीं होगा। यदि कोई ममतावश शिष्ट है, तो द्वेषवश अशिष्ट भी होगा।

साधु चरित शुभ सरिस कपासू । निरस विशद गुणमय फल जासू ।

विषय रस से अलग रहने के कारण साधु चरित अविवेकियों को नीरस लगता है, परन्तु कपास जैसे नीरस होते हुए भी अत्यन्त गुणमय है, वैसे ही साधु चरित परम कल्याणकारी होने के कारण विवेकी की दृष्टि में सरस है। सन्तों के कल्याणकारी चरित्र तो पढ़ने, सुनने कहने में भी मनोहर होते हैं, फिर लाभान्वित व्यक्तियों के लिए उनकी सरसता की क्या सीमा हो सकती है।

महर्षि दधीचि ने बिना किसी ममता की प्रेरणा के देवकार्य के लिए अपनी हड्डिया दे दीं। क्या यह चरित्र सरस नहीं माना जायगा। सन्तों के चरित्र में मैत्री और करुणा है पर ममता व अहंकार नही है। (गीता १२.१३)।

सिद्धान्त पर आग्रह रखना, नीति पथ को न छोड़ना, यह भी मूर्खो की दृष्टि में अति कठोरता है। इस विषय में सन्त वज्र से भी कठोर हो सकते हैं, परन्तु वैसे फूल से भी कोमल सिद्ध हो सकते हैं। 'सन्त हृदय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नवनीत समाना। कहा कविन पर कहै न जाना ।। निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुःख द्रवै सन्त सुपुनीता ।। मक्खन स्वयं गर्मी पाकर पिघलता है, सन्त हृदय अपने दुःख से नहीं, दूसरे के दुःख से पिघलता है। जिस तरह की मृदुता दुनियाँ चाहती है और पाती है, उससे कैसा अनर्थ परिपाक होता है यह देश और दुनियाँ के सामने है, छिपा नहीं है।

महान् चिन्तक श्री बट्रैण्ड रसेल ने एक जगह शिकायत की है कि धार्मिक लोग प्रायः न दुनियाँ का सुख उठा सकते हैं, न दूसरों को उठाने देते हैं। यह बात सच्चे सन्तों पर लागू नहीं होती—

'पर दुःख दुःख सुख सुख देखे पर। (रा०च०मा०) यह सन्तों का लक्षण है। यदि किसी को किसी दूसरे का लौकिक सुख देखकर दुख या डाह होती है तो उसकी आसक्ति का ही यह प्रमाण है, अर्थात् रागद्वेष निर्मूल नहीं हुआ। श्री सौभरि ऋषि मछलियों को देखकर पारिवारिक जीवन के सुख में प्रवृत्त हुए परन्तु समर्थ स्वामी रामदास जी विवाह मण्डप में सावधान हो गये और विवाह को त्यागकर चल दिए, फिर कभी विवाहित जीवन को अधिक सुखी नहीं माना। रागद्वेष रहित चित्त वाले यही चाहते हैं कि दुनियाँ की स्पृहा रखने वालों को दुनियाँ के भोग मिलें, अपने लिए वे सन्तुष्ट हैं, भोगेच्छु नहीं। यह उदार वृत्ति तृष्णा के त्याग के बिना नहीं बन सकती। तृष्णा यदि निर्मूल न हुई तो रागद्वेष की लहरें पुनः जोर से उठ सकती हैं। यह लहरें अनुकूल संग पाकर बात की बात में समुद्र बन जाती हैं (ना०भ० सूत्र)। इसलिए कच्चा साधक भवसागर के जहाज का काम नही कर सकता। यदि कहीं भी वासना रूपी छिद्र (छेद) है तो पानी भर सकेगा। उस दशा में डूबते हुओं को बचाने के कार्य हेतु ऐसा जहाज नहीं भेजा जा सकता है। उसके स्वयं डूब जाने की आशंका का पहले निवारण होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तृष्णा थोड़ी भी हो तो सहसा बहुत बढ़ सकती है, कालक्रम से बूढ़ी और कमजोर नहीं होती—तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा। (भर्तृहरि) मनुष्य के बुढ़ापे में उसकी तृष्णा जवानी पर देखी गई है। आध्यात्मिक उद्धार कार्य करने वाले के लिए पहले तृष्णा का निर्मूल करना आवश्यक है।

श्री गोस्वामी जी ने तृष्णा त्याग के साथ साथ शील, सन्तोष का ग्रहण भी आवश्यक बताया है। आर्जव (सरलता) (गीता १६.१) तथा मार्दव (मृदुता) (गीता १६.२) दैवी सम्पत्ति के लक्षण हैं। ऋजुता, सरलता, निष्कपट व्यवहार सच्चे सन्त का सहज लक्षण है, सन्त विरोधी को भी धोखा नहीं देना चाहते। 'नवम सरल सब सन छल हीना। (रा०च०मा०)। मृदु व्यवहार, आतंक रहित, दर्परहित, अभिमान रहित, दीनता सहित, माधुर्यपूर्ण, सुखद व्यवहार, (जहाँ तक वह धर्म का विरोधी न हो) शील का अनिवार्य अंग है। दुनियाँ वाले सज्जनता में सन्तों की बराबरी नहीं कर सकते। फिर यह भी है कि दुनियाँ वालों की सज्जनता दिखावटी शिष्टाचार मात्र सिद्ध हो सकती है जबकि सन्त की सज्जनता सहज और स्वाभाविक गुण है, निरत निरन्तर सज्जन धर्मा। (रा०च०मा०) सन्त की सज्जनता स्वार्थ प्रेरित या तात्कालिक कारणों से नहीं होती, अतः वह निरन्तर बनी रहती है।

सन्तों में राजनैतिक दाँव पेंच नहीं होता, दक्षता व सतर्कता तो मिल सकती है पर कपट छल नहीं होता। इसलिए उनकी व्यावहारिक सफलता एक सीमा तक उनके शील पर निर्भर है। शील गुण के धनी सन्त अधिक लोकप्रिय होते हैं, उनकी छाप लोगों के दिलों पर अधिक पड़ती है, और इसलिए उनके द्वारा उद्धार कार्य भी अधिक सक्षमता से हो जाता है। इस प्रकार जहाज के रूप में उनकी कार्य क्षमता अधिक होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सन्तोष गुण का भी महान् उपयोग है। 'सन्तोषादनुत्तम सुख लाभः' (योगसूत्र)। कोउ विश्राम कि पाव तात सहज सन्तोष बिनु। (रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)। बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।। (रा०च०मा०) उदित अगस्त्य पंथ जल सोषा। जिमि लोभहिं सोखइ सन्तोषा।।

समन्तात् तोषः स सन्तोषः, जिसकी भली भाँति (पूर्ण) तृप्ति है वह सन्तोष युक्त है। जिसे इस प्रकार की सम्यक तृप्ति नहीं है, वह अपनी तृप्ति की फिक्र छोड़कर दूसरों की निष्काम सेवा कैसे करेगा? उद्धारक कैसे बनेगा?

नृप सब भए योग उपहाँसी। जैसे बिनु बिराग सन्यासी।

सन्तोष से ही वैराग्य की दृढ़ता और शोभा है। स्वार्थ के नितान्त त्याग से ही जीव मुक्त हो सकता है, भवसागर से पार हो सकता है। ऐसे स्वार्थ त्याग की प्रेरणा वह नहीं दे सकता जिसका स्वार्थ अभी कुछ बाकी है, नितान्त अस्त नहीं है। अतः सन्तोष का गुण भी अनिवार्य है।

राग का अन्त, द्वेष (रोष) का अन्त, तृष्णा का त्याग, शील गुण का प्राबल्य, सन्तोष की दृढ़ भूमिका, यह सब गुण जिस किसी सन्त में दृढ़ हों वह इस जगत् में जहाज की तरह है अर्थात् उसका आश्रय लेकर जीव सरलता से णवसागर से पार हो सकता है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम ।
तुलसी रहिए एहि रहनि, सन्त जनन को काम ॥१७॥

स्वयं शीलवान् रहते हुए सबकी कठोर वाणी व व्यवहार को सहन करते रहना, मन में और मुख से भी सदा भगवन्नाम लेते रहना—श्री तुलसीदास जी की सम्मति में यही सन्त जनों कीं रहनि है, इसी प्रकार रहना चाहिए ।

श्री गोस्वामी ने यहाँ पर तीन लक्षण बताए हैं जिनसे युक्त रहनि को अपनाने की संस्तुति की है क्योंकि वही सन्तों की रहनि है । श्री गोस्वामी जी की सम्मति में आदर्श सन्त में यह लक्षण पूर्णरूप से पाए जाने चाहिए । तीन लक्षण इस प्रकार हैं—

१—शील गहनि २—सबकी सहनि ३—कहनि हीय मुख राम । इनमें उत्तरोत्तर अस्मिता त्याग और अनन्य शरणागति के सोपान हैं ।

अहंमन्यता अधिक होने पर शील गुण नही ठहर सकता । घमण्ड की तो यह माँग है कि और सब लोग हमारे प्रति विनयशील शिष्ट और मृदु हों, न कि हम औरों के प्रति । अपने को बड़ा औरों को छोटा समझना ज्ञान का भी विरोधी है, भक्ति का भी ।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ।।
(रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवम् ।
अभिमानं सुरा पानं, त्रयस्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।।
(योग वासिष्ठ)

जो अपने में श्रेष्ठता, दूसरे में कनिष्ठता देखता है, वह सब में समान रूप से व्यापक ब्रह्म को नहीं देखता अत: ज्ञान की स्थिति से अलग है। अनन्य भक्त अपने को सेवक और सचराचर जगत् रूप में अपने प्रभु को ही देखता है, अत: उसकी दृष्टि में सबसे छोटा वही है, सब उसके पूज्य हैं।

झुका दो सर उसी को सामने आ जाय जो कोई।
कि जब सिज्दा ही करना है, तो अल्लाह सब में रहता है।।

कर्म के क्षेत्र वालों का भी ऐसा हाल है कि अपनी श्रेष्ठता और दूहरों की हीनता देखने वाले प्रचारक, नेता, अधिकारी, सेवक, शासक आदि अभिमानवश हो जाते हैं, सेव्य जनता को हेय दृष्टि से देखने लगते हैं, मूर्ख, स्वार्थी, बेवफ़ा आदि समझते हैं, परन्तु विवशतावश उसी जनता को रिझाने के लिए तरह तरह के यत्न करते हैं और भयभीत रहते हैं कि कब पाँसा पलट जाय। फिर ऐसी स्थिति आती है कि ये नेता स्वयं ही ऐसे आरोपों से ग्रस्त होते हैं और पराभव को भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार कर्म उपासना ज्ञान किसी भी क्षेत्र में अभिमान के साथ अच्छा निबाह नहीं हो सकता। अभिमान हर एक क्षेत्र में साधना का घातक है। विद्या और कला के क्षेत्र में अभिमान प्रगति और लोक-प्रियता का अवरोधक है। अत: अभिमान धारण करना अविवेकपूर्ण और त्रुटिपूर्ण है।

जिमि शिशु तन ब्रण होइ गोसाईं। मातु विराव कठिन की नाईं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यदपि प्रथम दुख पावै, रोवै बाल अधीर।
व्याधि नास हित जननी, गनै न सो शिशु पीर ।।
तिमि रघुपति निज दासकर, हरैं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहिं, कस न भजहु भ्रम त्यागि ।।
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

सन्त अभिमान नहीं करते—

सबहिं मान पद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी।

श्री भगवान् दीन बन्धु हैं। उन्हें दीन ही प्रिय हैं, अभिमानी नहीं।

कबीर जी ने कहा है—

यह तौ घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं ।।

खाला = मौसी।

प्रेम मार्गी साक्षात् अपना सिर काट करके जमीन पर तो नहीं रख देते परन्तु कबीर के दोहे का भावार्थ यह है कि उन्हें मरने को तैयार रहना पड़ता है। परन्तु घमन्ड को तो सिर से उतार कर जमीन पर रखना ही पड़ता है।

ते सिर कटु तूमरि सब तूला। जे न नवहिं हरि गुरु पद मूला ।।

शीलवान् भगवान् का प्रिय बन जायगा क्योंकि भगवान् का अभिमान से बैर है; दैन्य से प्रेम है (ना०भा० सूत्र)। अभिमान और शरणागति परस्पर विरोधी हैं, साथ साथ नहीं निभ सकते।

जाउँ कहाँ तजि चरण तिहारे।
काको नाम पतित पावन जग, केहि अति दीन पियारे।
(वि०प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निदरि गनी आदर गरीब को, रीति सदा चलि आई ।
(वि०प०)

मोटो दशकन्ध सो न दूबरो विभीषन सो,
जानि परी रावरे की प्रेम पराधीनता ।
(वि०प०)

दीनता प्रभु की कृपा के लिए पहली अर्हता (योग्यता) है, अभिमान अयोग्यता है ।

राम गरीब नेवाज हैं, हौं लही न गरीबी ।
तुलसी प्रभु निज ओर ते, बनि परै सो कीबी ।
(वि०प०)

दूसरी अर्हता सहनशीलता है । सहज सहन शीलता का ही श्रेय है, विवशता के कारण सहना पड़े तो कोई श्रेय नहीं । सन्तों की सहनशीलता सहज होती है, विवशताजन्य नही ।

हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ ।
(रा०च०मा० अयोध्याकाण्ड)

देखने में कारण कुछ भी हो, माध्यम कोई हो, सुख दुःख प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होते हैं ।

काहूहि दोष देहु जनि ताता । निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ।।

सन्त इस रहस्य को जानते हैं अतः माध्यम व्यक्तियों पर रीझते खीझते नही, प्रभु प्रसादवत् सुख दुःख को एक समान स्वीकार करते हैं, भोगते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उनका जालिम (अत्याचारी) या करीम (करुणाकर) जो भी है, एक ही है, और वह उनका प्यारा प्रभु ही है।

हर जुलुम हर सितम गवारा है।
कह दे एक बार तू हमारा है।।

और अपने कर्मानुसार फल मिले तो सितम कैसा ? सन्त कर्मफल से बचने के लिए प्रार्थी नहीं हैं, भोग स्वीकार है। वे तो मुक्ति के भी प्रार्थी नहीं हैं। अतः जो भी सुख दुःख होता है सहते हैं। शायद हम लोग सोचें कि दुःख सहने का सवाल है, सुख के सहने का क्या सवाल है। परन्तु विशेषतः सन्तों के जीवन में, कभी कभी औरों के भी जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं, जब जगत् में सुखवत् मान्य किया हुआ भोग प्राप्त होता है और अनिच्छा होते हुए भी भोगना पड़ता है सहन करना पड़ता है। इसीलिए गीता जी में भी तान् तितिक्षस्व भारत २.१४.) कहा है।

जिन सन्त के आशीर्वाद से, संकल्प मात्र से दूसरों के कष्ट दूर होते देखे जा सकते हैं, वे अपना कष्ट सहते रहें, न उसके दूर होने का संकल्प करें न प्रभु प्रार्थना करें, यह अलौकिक धैर्य ही है। ऐसे सन्त कुरान शरीफ के अनुसार 'साबिर' कहलाते हैं, जो दीन परस्त (धार्मिक व्यक्ति ऐसे सन्तों के योग क्षेम का विचार करके उन्हें आवश्यक पदार्थ पहुँचाते रहते हैं, उन पर भगवान् की विशेष प्रसन्नता रहती है।

ऐसे सन्त 'तितिक्षु' हैं, तपस्वी हैं। वे एक की नहीं सबकी सहते हैं। अबोध बालक, मनचले युवक, दुष्ट जन, चोर, डाकू, पशु पक्षी सबकी सहते हैं, दुर्भावना तक किसी के प्रति नहीं रखते हैं। यही उनकी अहिंसा का उच्च सोपान है। क्रमशः इस तपस्या का यह फलोदय होता है कि फिर कोई उन्हें नहीं सताता। परन्तु सहन करने में वे धीर और सन्तुष्ट रहते हैं। न भगवान्, न इन्सान, न राजा, न प्रजा, किसी से भी रक्षा या सहायता के प्रार्थी नहीं होते।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सुख दुःख सहौं, रहौं सदा शरणागत तोरे।

(वि०प०)

'शील गहनि' और 'सबकी सहनि' के साथ भगवन्नाम साधना की बहार है, वही शोभा है, पात्रता है।

तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन, कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(श्री चैतन्याष्टक ३.)

जो तृण से भी लघु बन करके, तरु से सधिक तितिक्षु सदा हो।
स्वयं अमानी रहकर संतत, सबका मान सदा करता हो॥
कीर्तनीय उसके ही द्वारा, पावन हरि का नाम सदा है।

सन्तों की सम्मति में इस असार संसार में वैराग्यपूर्वक भजन ही एक मात्र सार है। साधारण जप पूजा ठीक से हो तो वैराग्य का कारण बनती है, असली बहार, दिव्य आनन्द उसी भचन में है जो वैराग्यपूर्वक किया जाता है किसी कामना से नहीं।

जिसे अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर होना है, वह लौकिक सुख दुःखों को अपने दैहिक जीवन के मामलों को, स्वार्थों को महत्वपूर्ण नही समझता, तभी शीलवान् रहकर बर्ताव कर सकता है। जब सभी सांसारिक सुख दुःखों के सहने की तैयारी रहती है, समता में स्थिति हो जाती है, तो न कोई तृष्णा बचती है, न लौकिक अर्थ हेतु प्रार्थना होती है। जब सब कुछ प्रारब्ध जनित जानकर 'समत्व बुद्धि से सहने की स्थिति हो जाती है, तब 'सबकी सहनि' सम्भव है। यह दृढ़ वैराग्य से ही सम्भव है। इस तितिक्षा के बाद भजन में विघ्न नहीं रहता पदार्थो व परिस्थितियों में आसक्ति नहीं होती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मायावश जीव यह सोच सकता है कि ऐसी स्थिति किसी को प्राप्त हो जाय तो फिर उसे भगवान् का नाम लेने की जरूरत ही क्या है ? परन्तु इस शंका के मूल में यह मान्यता है कि भजन करने की जरूरत सिर्फ दुनियाँ की चीजों को पाने के लिए है, समस्याओं के सुलझाने के लिए है, दुःख को मिटाने के लिए है। असली भजन भगवान् की 'अहेतुकी' भक्ति, परा भक्ति, शुद्ध प्रेम) इन सब प्रयोजनों से अलग रहता है।

दिव्य प्रेम का जो आनन्द है, वही भजन का प्रयोजन है, अन्य प्रयोजनों के पीछे छूट जाने पर अथवा अतिक्रमित हो जाने पर, साधक के उनसे ऊपर उठ जाने पर, यह असली भजन होता है। फिर दूसरी चाह नही रहती।

सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन।
नाम सप्रेम पियूष ह्रद, तिनहुँ किए मन मीन ।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

वे हृदय से भी नाम लेते हैं, मुख से भी लेते हैं।

मुख से भगवान् का नाम लेने वाले बहुत हैं, वे सब धन्य हैं, क्योंकि भगवान् से विमुख रहने वालों से अच्छे हैं, परन्तु यह विचार उन्हें रखना चाहिए कि मन क्रम वचन से किसी भी स्तर पर, वे भगवद्विमुख न हों। यह अच्छा न होगा कि भगवान् का नाम लेते रहें परन्तु शरणागति के विपरीत लक्षण कायम रक्खें और उस दशा में सन्तुष्ट रहें। भगवन्नाम का यान्त्रिक ग्रहण और सप्रेम ग्रहण इसी प्रकार भिन्न हैं।

वैसे भाव भक्ति पूर्वक भगवन्नाम ग्रहण मुख से ही प्रारम्भ होता है। महात्मा चरणदास जी ने 'भक्ति सागर' में कहा है :—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आठ मास मुख सों जपै, सोरह मास कण्ठ जाप ।
बत्तिस मास हृदय जपै, तन में रहै न पाप ।।

वाणी चार प्रकार की कही गई है—बैखरी (सुनाई पड़ने वाली, बातचीत में प्रयुक्त), मध्यमा कण्ठ से निकलने वाली, पश्यन्ती हृदय से निकलने वाली, और परा (दिव्य) जो नाभि से उदित होती है। बैखरी वाणी से नाम लेने पर वह दूसरे भी सुनते हैं, उपांशु जप में ओष्ठ हिलते हैं, बाहर ध्वनि नहीं आती। पश्यन्ती में नाम ध्वनि हृदय से उठती है, परा में नाभि से। नया साधक बैखरी से ही प्रारम्भ करेगा। नाम साधकों को बहुत बार यह शौक होता है कि साधन गुप्त रखा जाय। साधन को गुप्त रखने के अनेक लाभ हैं, परन्तु नया साधक छिपाने की चेष्टा में कहीं साधन ही न छोड़ बैठे या उसे बिगड़ जाने दे यह आशंका रहती है। अतः साधना दृढ़ हो जाने पर गोपनीयता अधिक साध्य है। वाह्य साधना से ही प्रारम्भ करना विधि अनुकूल है।

राम नाम मन से भी लेना है, मुख से भी।
राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार ।।
तुलसी भीतर बाहरहु, जौ चाहसि उजियार। (रा०च०मा०)

जीवन यात्रा की भी कुशल, अन्तः साधना भी सफल, ऐसा भीतर बाहर दोनों ओर प्रकाश करने के लिए श्री राम नाम का मणि दीपक जीभ रूपी देहली पर मुख द्वार पर ही रखना चाहिए।

'कहनि हीय मुख राम' का द्विविधि भाव है, मुख से राम नाम लिया जाय परन्तु हृदय से भी यानी मन लगाकर, भावपूर्वक, प्रेम से, राम नाम लिया जाय, लापरवाही से नहीं। दूसरे यह कि मुख से भी राम नाम लें और सामर्थ्य प्राप्त हो जाने पर पश्यन्ती वाणी से भी राम नाम चलता रहे। सन्तों का तो यह कथन है कि श्री राम नाम की ध्वनि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तो अपने आप अखण्ड रूप से हो रही है। यदि सुनाई पड़ने लगे और मन उसी में रमा रहे, तो हीय से राम नाम होता रहेगा। इसी को अनहद (अनाहत) या अजपा जप कहते हैं।

इस प्रकार तीनों बातें (शील, तितिक्षा, राम नाम साधना) पूरी करते हुए जीवन यापन करना सन्त की रहनि है और यही श्री गोस्वामी जी को प्रिय है।

कोई कह सकता है कि यदि सभी ऐसी रहनि अपना लें तो लोक व्यवहार ही न चले। श्री गोस्वामी जी ने इस विचार के खण्डन में यहाँ लेखनी नहीं उठाई है, परन्तु विचारणीय है कि सन्त शब्द विरक्ति वेष धारी तक सीमित नहीं है। उसमें गृहस्थ सन्त, समाज में सक्रिय सन्त भी सम्मिलित हैं। सन्त शब्द व्यापक है, किसी जाति, वर्ण या आश्रम में आबद्ध नहीं है। उपर्युक्त शंका मायावश की जाती है। सन्त रहनि सब लोग अपना लें तो जीवन यापन कठिन नहीं होगा, सरल और पवित्र बनेगा, जीवन यात्रा चलेगी, विकृति मिटेगी।

किसी किसी को यह शंका है कि सन्त रहनि सब तो अपनाएँगे - नहीं, जो थोड़े से लोग अपनाएँगे, वे तबाह हो जाएँगे उनकी जिन्दगी दूभर हो जायगी। यह भ्रम भी ध्वस्त होना चाहिए। यह तो कोई नहीं कहता कि राज्य, शासन, दण्ड, न्यायालय, जेल, सेना आदि होनी ही नहीं चाहिए, परन्तु सन्त भगवान् के ही आश्रित हैं, शासन तन्त्र के नहीं। वह सबकी सहते हैं, रक्षा की याचना नहीं करते, परन्तु श्री राम नाम के प्रताप से ही अपने आप सुरक्षित रहते हैं।

राम नाम नर केहरी, कनक कशिपु कलिकाल।
जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालइ दलि सुरसाल॥
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तथा —

फिरत सनेह मगन सुख अपने, नाम प्रसाद सोच नहिं सपने ।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

सन्त रहनि रहने वालों का लौकिक जीवन (यहाँ तक कि सार्वजनिक जीवन कैसा निरापद चलता है, यह विवेकपूर्वक देखने वाले मानते हैं, दूर से देखने सुनने वाले प्रायः उसे ठीक से समझ नहीं सकते ।

यहाँ भी दृष्टि का वैपरीत्य (उल्टापन) स्पष्ट है । लौकिक वृत्ति से सन्त रहनि असम्भव अथवा अशक्य प्रतीत होती है, सन्त की दृष्टि में त्राण की वही एक मात्र मार्ग है ।

बाइबिल में ईसा जी के 'पहाड़ी पर का उपदेश' में भी शील गहनि, सबकी सहनि' का ही उपदेश है । वहाँ भी यही जान पड़ता है कि उस पर चलने वाला, मर जायगा, या तबाह हो जायगा । बहुत से आलोचकों ने कहा ईसा के उपदेश बहुत ऊँचे हैं अच्छे हैं, परन्तु उन पर चलने से तबाही आएगी । प्रसिद्ध दार्शनिक टॉल्सटॉय ने इसकी हँसी उड़ाई । जिन उपदेशों के पालन से सत्यानाश की आशका हो, वे अच्छे या ऊँचे कैसे कहे जा सकते हैं । जिन लोगों को भगवान् पर भरोसा नहीं है, जो शरणागत नही हैं, वे 'सबकी सहनि' के अयोग्य हैं वे न तितिक्षु हो सकते हैं, न कुरान के अनुसार 'साबिर' हो सकते हैं, न बाइबिल के पहाड़ी पर के उपदेश पर चल सकते हैं, बौद्ध या जैन धर्मानुसार भी वे अहिंसक या अपरिग्रही नहीं हो सकते । परन्तु—

उमा राम स्वभाव जिन जाना । तिनहिं भजन तजि भाव न आना ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'शील गहनि' से सामाजिक वैर विरोध शान्त होंगे और 'सबकी सहनि' से बदलती हुई परिस्थिति में निर्विघ्न रह सकेंगे। तब सब विकारों से रहित, भाव भक्ति सहित भगवन्नाम ले सकेंगे, भगवत्स्मरण कर सकेंगे। जगत् से विराग, राम चरण में अनुराग, ऐसी भूमिका में जो स्थिति है वही श्री भगवन्नाम आराधन की गौरवमयी स्थिति है, दिव्य आनन्द की धाम है, निरापद अखण्ड आनन्द प्रदायिनी है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निज संगी निज सम करत दुरजन मन दुख दून ।
मलायाचल हैं सन्त जन, तुलसी दोष बिहून ॥१८॥

सन्त अपने संग वालों को अपने समान बना लेते हैं, परन्तु दुर्जनों के मन का दुःख द्विगुण हो जाता है। सन्त मलयाचल (चन्दन गिरि) के समान हैं, श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि वे दोष से रहित होते हैं।

सन्तों का यह गौरव है कि उनका संग करने से अन्य पुरुष भी उनके समान अर्थात् सन्त हो जाते हैं। इस संसार में उदार या दानी पुरुष, परोपकारी लोग बहुत से हैं, परन्तु वे दान लेने वालों को अपने समान नहीं बना देते, अपने से कम ही रखते हैं। राजा यदि किसी को अति प्रसन्न होकर दान दे तो बहुत सा रुपया दे सकता है, या पदार्थ, सम्पत्ति या पद दे सकता है, अपना राज्य नहीं देगा। राजा के दान से कोई उस राजा के समान नहीं बन सकता। रईस ही बन सकता है। विभिन्न उद्योग धन्धों में कलाओं आदि के क्षेत्र में यदि कोई वरिष्ठ व्यक्ति किसी कनिष्ठ व्यक्ति की सहायता करता है आगे बढ़ाता है, तो भी प्रायः यह नहीं पसन्द करता कि वह कनिष्ठ व्यक्ति उससे भी आगे बढ़ जाय। आगे बढ़े परन्तु वह संरक्षक से भी आगे बढ़ जाय, यह बात प्रायः वरिष्ठ व्यक्ति के अनुकूल नहीं पड़ती।

इतना अवश्य माना गया है कि पिता प्रायः पुत्र को अपने से भी आगे देखना चाहता है और योग्य गुरु के लिए भी यह अनुकूल पड़ सकता है कि उसका उत्तम शिष्य उससे भी आगे निकल जाय, सम्पत्ति, पद,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लोकप्रियता, योग्यता, यश आदि में उससे भी अधिक हो जाय। पुत्रादिच्छेत् पराभवं, शिष्या दिच्छेत्पराभवं ।। पुत्र से, शिष्य से, हारने की इच्छा करनी चाहिए। सत्पुत्र या सत् शिष्य से एकता का भाव रहता है जिससे उसकी उन्नति अपनी ही जान पड़ती है। भाई, मित्र, पड़ोसी आदि से इतनी एकता कठिन है। इससे राम भरत की एकता लोकोत्तर मानी जा सकती है। पृथ्वीराज चन्द्र वरदाई की मित्रता भी अनोखी ही थी।

लौकिक भावों के मानवी स्तर पर, उपकारी इतना उपकार नहीं करता कि उपकृत व्यक्ति उसके समान हो जाय या आगे निकल जाय इस सीमा के भीतर ही वह सहायता करता है।

श्री भर्तृहरि जी का प्रसिद्ध श्लोक है–

किं तेन हेम गिरिणा रजताद्रिणा वा,
यस्याश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण,
कंकोल निम्ब कुटजा अपि चन्दना स्युः ।।

(नीति शतक)

सुवर्णमय उस सुमेरु पर्वत से क्या, और रजताद्रि (चाँदी के पर्वत) से क्या, जिसके आश्रित वृक्ष, साधारण वृक्ष ही रह गए। धन्य है वह मलयाचल, जिसके आश्रित कंकोल, नीम और कुटज आदि निम्न कोटि के वृक्ष भी चन्दन हो गए।

मलयागिरि का लोहा इसलिए माना कि उस पर पाये जाने वाले अन्य वृक्ष भी चन्दन की तरह सुगन्धित हो गए। उनकी लकड़ी भी सुगन्ध का काम देने लगी। 'निज गुण देइ सुगन्ध बसाई।' (रा०च० मा०)।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री भगवान् की यह बड़ाई है कि वह भक्ति से प्रसन्न होकर अपना स्वरूप तक दे डालते हैं। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। (उपनिषद्) जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।

सन्त का भी यह प्रताप है कि सन्त-भक्त भी सन्त ही हो जाता है।

जिन्हें सन्त का संग है, वे सन्त हो जाते हैं। संग यानी आसक्ति सन्त में प्रेम हो तो आप भी सन्त हो जायेंगे। शास्त्र में विषयों के 'संग' को दोष बताया है, सत्यानाश का कारण है। (गीता २.६२-६३) इसकी विपरीत प्रक्रिया है–सत्संगत्वे निःसंगत्वं (शंकराचार्य)।

सन्त के प्रति आसक्ति, विषयासक्ति की काट है। अत्यन्त विषयानुरागी का सन्त के प्रति आकर्षण नहीं होता। 'बड़े भाग पाइय सतसंगा। बिनहि प्रयास होइ भव भंगा।। (रा०च०मा०) श्री शंकराचार्य जी ने भी महापुरुष की शरण को दुर्लभ और भगवदनुग्रह से प्राप्तव्य माना है। नारद भक्ति सूत्र में भी कहा है––महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

पुराणों में भी संग को दोष बताया है, संग न करना चाहिए। बिना हुए न रहे तो संग सन्तों से ही करना चाहिए क्योंकि—

'संग दोष हरा हि ते।' (वे संग दोष को हरने वाले हैं)।

विषयासक्ति के लिए सन्त का संग इलाज है। इलाज (उपचार, चिकित्सा) की आवश्यकता है तो रोग है ही, परन्तु उसे मिटाने की योजना है, बढ़ाने की नहीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता । सत्संगति संसृति कर अन्ता ।।
(रा०च०मा०)

श्रीमद्भागवत में वृत्रासुर ने अपनी अन्तिम प्रार्थना में कहा है—

मागार दारात्मज वित्त बन्धुषु, संगं यदि स्याद् भगवत्प्रियेषु नः ।
(श्रीमद्भागवत)

श्री जड़ भरत जी ने भी उपदेश किया कि मनुष्य को चाहिए कि असंग व सत्संग से प्राप्त ज्ञान रूपी कटार से मोह को काटकर, श्री हरि के लीला के श्रवण कथन से स्मृति प्राप्त करके परमार्थ प्राप्त करें। (श्रीमद्भागवत ५.१२.१६.)

श्री गोस्वामी जी ने कहा है कि सन्त अपने संगी जनो को अपने समान कर देते हैं, अर्थात् अपने आप वे सन्त नहीं हो जाते, सन्त उन्हें सन्त बना देते हैं। इसमें सन्त की प्रसन्नता प्राप्त करने, कृपापात्र बनने की बात ध्वनित होती है। यह कल्पना ठीक न होगी कि सन्त का सम्पर्क पर्याप्त है, उनकी कृपा की आवश्यकता नहीं। सन्त यदि तटस्थ रह गए, अनुकूल न हुए, तो हम उनके सम्पर्क मात्र से सन्त नहीं हो जाएँगे। जिसे सन्त में संग (आसक्ति) है वह उनके तटस्थ भाव से सन्तुष्ट नहीं रह सकता। जिस पर हम आसक्त होते हैं उसके प्रिय बनने की चेष्टा करते हैं, उसकी तटस्थता से सन्तुष्ट नहीं रहते। सन्त सारे संसार से अनासक्त रहते हैं। हम यदि उनसे तटस्थ रहें तो हमारी भव व्याधि की, विषयासक्ति की ठीक चिकित्सा न हो सकेगी। सन्त के प्रति आसक्ति ही जगदासक्ति की काट है, वह होनी ही चाहिए। जो जगत् में आसक्त है सन्त के प्रति तटस्थ है वह सन्त का संगी है ही नहीं, वह सन्त कैसे बनेगा? जो सन्त के चरण कमलों में प्रेम करेगा उसकी जगदासक्ति क्षीण होगी। वह सन्त का कृपापात्र बनेगा। उसका अन्तःकरण सन्त के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उपदेश को धारण करने योग्य बनेगा। फिर सन्त के चरित्र से, आदर्श से, उदाहरण से वह प्रेरित होगा। सन्त के उपदेश से भी वह जगत् की असारता, क्षण-भंगुरता, विकरालता आदि को समझ जायगा और उसे भगवत् प्रपन्न जीवन की आवश्यकता तथा उपादेयता, यहाँ तक कि अनिवार्यता भी लक्षित हो जायगी। तब वह स्वयं जगत् से अनासक्त और भगवान् में आसक्त हो जायगा। तब वह भी यही रहनि बना लेगा कि 'शील गहनि, सबकी सहनि' कहनि हीय मुख राम।' अर्थात् वह स्वयं सन्त हो जायगा। यही, 'निज सगी निज सम करत' का रहस्य है।

दूसरी बात है, 'दुर्जन मन दुख दून।' दुर्जनों के मन में दु:ख दूना हो जाता है। जैसे साफ शब्दों में 'निज़ संगी, निज सम करत', कहा गया, वैसे ही 'दुरजन दु:ख दूनो करत' नहीं कहा गया। सन्त किसी के दु:ख को दूना नहीं करते, किसी को कुछ भी दु:ख नहीं देते। इसलिए यही अर्थ ठीक है कि दुर्जनों के मन का दुख दूना हो जाता है, न कि सन्त उसे दूना कर देते हैं।

सन्त पूरे अहिंसक होते हैं, किसी का बुरा नहीं चाहते। 'अरिहु का अनभल कीन्ह न रामा।' (रा०च०मा०) इसी प्रकार सन्त अपने विरोधी का भी दु:ख नहीं चाहते।

स्वर्गीय श्री जमनालाल बजाज का एक चरित्र है। उनका एक विरोधी था, वह सदा उनकी निन्दा करता था। परन्तु श्री बजाज उसके विरोधी नहीं थे। वे उसकी कुशल मंगल की ख़ोज खबर रखते थे। एक बार वह बहुत बीमार था। अस्पताल में पड़ा था। श्री बजाज उसे देखने गए। उससे मिले, उसकी तबियत का हाल पूछा। उसने अपनी बीमारी गम्भीर बताई। श्री बजाज ने उसे धीरज रखने व भगवान् पर भरोसा रखने की सलाह दी। उसे सान्त्वना दी। फिर उससे पूछा—आपको किसी बात

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की (विशेष) चिन्ता तो नहीं है। वह बोला, 'एक चिन्ता है। मैंने आपके विरुद्ध एक पुस्तक लिखी है, उसके प्रकाशन के लिए अर्थ (धन) का अभाव है। यदि मै इस बीमारी में मर गया तो वह अप्रकाशित रह जायगी।' श्री बजाज ने पूछा, 'उसे प्रकाशित करने में कितना खर्च लगेगा?' उसने ५००० रुपए बताए। श्री बजाज ने घर जाकर पाँच हजार रुपए का एक सील मुहरबन्द पार्सल बनाया और अपने पुत्र को देकर उसके पास वह पार्सल अस्पताल में रोग शय्या पर भेज दिया। पुत्र पार्सल देकर लौट पड़ा। वह विरोधी ५००० रुपए पाकर द्रवित हो गया, रो पड़ा। सन्त तो यह चाहते हैं कि–

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी का कल्याण हो किसी को दुःख न हो।

सन्त दुर्जनों के दुःख को दूना नहीं करते, मिटाना ही चाहते हैं, तो फिर वह दूना कैसे हो जाता है? इसी में मर्यादा का रहस्य भरा है। निज संगी को निज सम' करने में तो सन्त कृपा का हाथ है, परन्तु दुर्जनों के दुःख को दूना करने में सन्त के कोप, श्राप, अप्रसन्नता, या खिन्नता का हाथ बिल्कुल नहीं, क्योंकि सन्त इन अनिष्टकर भावों से परे हैं। फिर दर्जनों का दुख दूना कैसे हो जाता है? इसको समझ लेने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि सन्त का संग भी विधि और मर्यादा के अनुकूल करना चाहिए, अन्यथा अनिष्ट की आशंका है।

सासारण मनुष्य को जो यह भय है कि 'शील गहनि, सबकी सहनि' वाली रहनि अपनाने से महान् अनिष्ट की प्राप्ति होगी, वह विशेषतः इसीलिए हैं कि शील और तितिक्षा का अनुचित लाभ उठाने के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दुष्टजन प्रवृत्त हो सकते हैं। सज्जन लोग तो शील निधान हैं और तितिक्षु सन्तों को कोई कष्ट नहीं देना चाहते, परन्तु दुष्ट जन इन गुणों के कारण अपमान, विरोध, प्रतिरोध, प्रपंच आदि कर सकते हैं, क्योंकि सन्त प्रतिकार नहीं करते। जहाँ इस प्रकार का दुराचरण किया जाता है, वहाँ ऐसा दुराचारी सन्त का संगी नहीं है, अपराधी है। इसलिए वह सन्त बनने के स्थान पर अपने पापों का फल भोगेगा, दुःख भाजन होगा। इस प्रकार उसका दुख बढ़ जायगा। इस दुःख वृद्धि में सन्त का कोई हाथ न होगा। इसलिए शास्त्र का आदेश यही है कि सन्तों के पास विनयपूर्वक, विनत होकर, मर्यादानुसार ही जाना चाहिए, दर्पाभिमान, चुनौती आदि भावों को लेकर नहीं। अविवेकी यह समझता है कि सन्त अप्रतिकारी हैं, अतः उनसे दुर्व्यवहार करना निरापद है, दूसरों से दुर्व्यवहार करने में आशंका है। विवेकी की दृष्टि इससे विपरीत है। उसे पता है कि जप्रतिरोधी व अक्रोधी सन्त का अपराध करना विशेष भयावह है, वह गुरुतर पाप है जिसका फल अधिक भयावह होता है। अतः सन्त के प्रति अधिक विनयशील होना आवश्यक है।

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
(रा०च०मा०)

सन्त के दरबार में अत्यन्त सावधानी से जाना चाहिए, क्योंकि जाने या बेजाने उनका अपराध बन सकता है और—

मुनि तापस जिनते दुःख लहहीं। ते नरेश बिनु पावक दहहीं
(रा०च०मा०)

भक्त या सन्त आपका अनिष्ट चिन्तन भी न करें तो भी उनका अपराध करने से महान् अनर्थ की प्राप्ति हो सकती है, इसका प्रबल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उदाहरण अम्बरीष दुर्वासा की कथा में मिलता है। महर्षि च्यवन की कथा में भी ऐसा उदाहरण प्राप्त है। सच्चे सन्त भगवान् की शक्ति से सुरक्षित हैं, यह सुरक्षा व्यवस्था साधारण दृष्टि से दिखाई नहीं देती परन्तु उनकी सुरक्षा के विरुद्ध आचरण करने वाले को उस व्यवस्था और शक्ति का प्रमाण मिल सकता है, दुर्गति भुगतनी पड़ सकती है। अतः अपने पूरे दर्पाभिमान, अविवेक, प्रमाद आदि के साथ सन्त के पास जाना ठीक नहीं, विनय, मर्यादा, विवेक, श्रद्धा, प्रेम, सेवाभाव के साथ जाना चाहिए।

दुर्जनों के लिए सन्त के पास जाकर अपना दुःख बढ़ा लेने का सिलसिला कई तरह से बनता है, इसलिए बहुत सावधानी से सन्त के प्रति बरतना चाहिए कि कोई अपराध न हो जाय। एक राजा या अफसर या डाकू के सामने हम जितने सावधान व विनयशील रहते हैं, उससे अधिक सन्त के सामने रहना चाहिए, क्योंकि सन्त भगवन्त में कोई अन्तर नहीं है। (वि०प०) सन्त के सम्पर्क में हम मोक्ष भी कमा सकते हैं, पुण्य भी कमा सकते हैं, परन्तु पाप भी खूब कमा सकते हैं। इसलिए 'दुर्जन मन दुख दून' में एक चेतावनी है, सर्तकता का उपदेश है।

लापरवाही से सन्त सम्पर्क करने पर हम बहुत आसानी से सन्त निन्दक बन जाते हैं। सन्त की निन्दा महान् अपराध है। श्री गुरुनानक जी ने भी सन्त निन्दा को महान् अपराध माना है जिससे जन्म जन्म तक मायावश भटकना पड़ता है। यह सही है कि सन्तों के प्रति आकर्षण भी अपने अपने संस्कारानुसार होता है, परन्तु यदि हम आकर्षित न हों तो भी निन्दक न बन जायँ, इसकी बड़ी सावधानी रखनी चाहिए।

सत्पुरुषों की निन्दा प्रथम नामापराध माना गया है, जिनके द्वारा भगवन्नाम की ख्याति हुई, उन्हीं सन्तों की निन्दा नाम कैसे सह सकता है? दस नामापराधों के उल्लेख में पुराणों में ऐसा वचन मिलता है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सतां निन्दा नाम्नः प्रथममपराधं वितनुते ।
यतः ख्यातिर्यातां कथमुपसहते तद्विगर्हाम् ।।

दूसरी आशंका यह है कि यदि हम अच्छी भावना लेकर सन्त के पास जायँ तो भी रहन सहन व दृष्टिकोण का भारी भेद तो रहता ही है। अविवेक या प्रमादवश हम सन्तों के नियमों को बड़ी आसानी से दिखावा, ढोंग, दकियानूसीपन, अन्ध विश्वास, संकीर्णता आदि के रूप में ले सकते हैं। क्या हम सन्तों को ठीक राह पर लगाने के लिए जाते हैं ? या इसलिए कि वे हमें ठीक राह पर लगाएँ ?

यह बात दूसरी है हर एक सन्त पर हमारी श्रद्धा नहीं उमड़ेगी, हर एक की विचारधारा या साधन पद्धति हमारे अनुकूल नहीं होगी, परन्तु हमें सोचना चाहिए कि हम सन्त के पास परीक्षा लेने जाते हैं या परीक्षा देने जाते हैं। हम उनके निर्णायक हैं, या वे हमारे निर्णायक हैं ? जब तक हम सन्त के निर्णय को मानने की भूमिका में नहीं होंगे, सन्त बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं होगी। बाइबिल में कहा है, 'दूसरों का निर्णय मत करो कि कहीं तुम्हारा ही निर्णय न हो जाय। (मैथिउ ७.१) सन्त के दरबार में इसलिए जाना ही नहीं चाहिए कि हम वहां का हाल चाल देखकर उनके सच्चे या ढोंगी होने का निर्णय करेंगे। जैसे कोई डाक्टर चिकित्सा के लिए हमें अनुकूल न पड़े तो उससे इलाज न कराएँ, परन्तु वह अयोग्य है ऐसा निर्णय देने का हमें अधिकार नहीं है, वैसा ही सन्तों के विषय में समझना चाहिए।

एक मूर्खता यह भी होती है कि किसी सन्त के यहाँ जाकर उनके नियमों को व्यर्थ या अनावश्यक समझकर भंग करना। हम अपने निवास में जो मर्यादाएँ रखते हैं, उनके विरुद्ध दूसरों का आचरण पसन्द नहीं करते, वैसा ही सन्तों का अधिकार मानना चाहिए। हमारी समझ में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आए या न आए, सन्त के आश्रम में जाकर वहाँ के नियमों के अनुसार ही बरतना चाहिए। इसके विरुद्ध आचरण करना हमारी अनाधिकार चेष्टा होगी। इसलिए बहुत सावधान रहना चाहिए कि हमारे द्वारा सन्त के आश्रम की मर्यादा भंग न हो।

इसी प्रकार यह अविवेकपूर्ण है कि सन्त के समय का मूल्य न समझा जाय। अपने को बड़ा कामकाजी और सन्त को बहुत खाली (कार्य रहित) समझना, उच्च कोटि की मूर्खता है। वस्तुतः हम पामर सांसारिक जीव समय को (अपने जीवन को) नष्ट करते हैं, सन्त एक एक मिनट सार्थक करते हैं। इसलिए सन्तों का समय व्यर्थ की बकवास द्वारा या कोरे वाद विवाद द्वारा नष्ट नहीं करना चाहिए। आत्म कल्याणार्थ प्रश्न पूछना और उपदेश ग्रहण करना भी तभी सार्थक है, जब हमारी यह तैयारी हो कि बताए और समझाए हुए साधन को करेंगे।

कम से कम जिन सन्त पर हमारी श्रद्धा हो, उन्हें तो अध्यात्म के विशेषज्ञ के रूप में लेना चाहिए और यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि उनके पास बहुत सा व्यर्थ का समय है, जो हम नष्ट कर सकते हैं। सन्तों का एक भी क्षण हमारे कारण नष्ट न हो, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए।

बहुत बड़े डाक्टर के पास आपके इलाज के लिए (अपनी शर्तों पर) समय है, पर आपके रोग, निदान, चिकित्सा आदि पर आपसे बहस के लिए समय नहीं है। बहुत बड़े वकील को अपने हाथ में लिए हुए वाद पर भी विशेष बातचीत की सुविधा नहीं रहती, क्योंकि वह सम्बद्ध विन्दुओं पर ही केन्द्रित रहना चाहता है, व्यर्थ की बकवास या इतिहास सुनने की उसे फुरसत नहीं। एक बार भारत सरकार के महाधिवक्ता को उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से सर्वोच्च न्यायालय में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किसी प्रकरण में पक्ष प्रस्तुत करना था। उ०प्र० सरकार ने एक पी०सी०एस० अधिकारी को सब भत्ता आदि देकर दिल्ली भेजा कि वे महाधिवक्ता जी को प्रकरण समझा दें। वे गए। दिल्ली में पहुँचकर अधिकारी ने महाधिवक्ता से मिलकर प्रकरण परिचय देना चाहा। उनसे कहा गया कि आप महाधिवक्ता जी से नहीं मिल सकते। आप उपलब्ध रहें, वे स्वयं आपसे कुछ पूछना चाहें तो उतना आप बता दें। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने ही मामले में भारी फीस चुकाने के बाद भी हम विशेषज्ञ के समय को बरबाद करने का क्वचित अधिकार नहीं पाते। सन्त का बाहरी टीम टाम कुछ भी न हो परन्तु वे चोटी पर के डाक्टर या बकील से अधिक आदरणीय हैं, उनके समय का मूल्य भी अधिक है। निम्न कथा से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

एक रईस अपनी सवारी पर कहीं से लौटकर अपनी कोठी पर आ रहे थे। फाटक पर पहुँचकर उन्होंने देखा कि पास ही एक फकीर कंकड़ों पर पड़ा था। सर्दी भी पड़ रही थी। उन्होंने सोचा कि इसके लिए कुछ बिछाने ओढ़ने को भिजवा दें। कोठी के अन्दर पहुँच कर वे भूल गए और खा पीकर सो गए। प्रातः उन्हें याद आ गई तो एक नौकर से कहा–'कल फाटक के पास एक फकीर कंकड़ों पर पड़ा था। देखो है या चला गया।' नौकर ने बताया कि वह अभी है। रईस स्वयं गए और फ़कीर से कहा– 'आप रात भर कंकड़ों में पड़े रहे, सर्दी भी थी। मैंने देखा था और सोचा था कि कुछ बिछावन ओढ़न भेज दूँ, परन्तु भूलगया, क्षमा कीजिये। कहिए रात कैसे कटी ?' फकीर ने कहा, कुछ आपके बराबर कटी, कुछ आपसे अच्छी कटी।' रईस, ने पूछा, 'यह कैसे ?' फकीर ने उत्तर दिया, जितनी देर हम और आप दोनों सोते रहे, अमीरी गरीबी, कंकड़ बिस्तर का भेद प्रभावशाली नहीं रहा इसलिए बराबर कटी। जागते में आप क्या सोचते रहे ? दुनियाँ की समस्याएँ, झंझट ? मैं भगवच्चिन्तन करता रहा। इसलिए सोते समय बराबर कटी, जागते समय हमारी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आपसे अच्छी कटी।' रईस लाजवाब हो गए। सन्त यदि अकिंचन हैं तो भगवच्चिन्तन के लिए। इसलिए उन्हें अखण्ड चिन्तन का अधिकार है, हम उसमें बाधक न बनें।

उपर्युक्त के समान अन्य बातें भी हैं, जिनका विचार न करके प्रमादवश हम सन्त के अपराधी बन सकते हैं। फिर हमारे ही पाप से हमारा दुख दूना हो सकता है, उसमें सन्त के नाराज होने या श्राप देने की आवश्यकता नहीं है।

'दुर्जन मन दुख दून' का ऊपर सरल अर्थ लिया गया है, दून = दुगना। यह गीता प्रेस को भी मान्य है। परन्तु सन्तवर श्री कान्तशरण जी ने 'दून' को भस्म करने के अर्थ में लिया है और यह अर्थ समझाया है कि सन्त दुर्जनों के मन के दुःख को भस्म कर देते हैं (दूर कर देते हैं)। कभी कभी इसके बड़े प्रबल उदाहरण मिले हैं कि सन्तों के प्रभाव से दुर्जनों की दुष्टता भी छूटी, दुःख भी मिटे। तथापि पूर्वोक्त अर्थ छन्द ८ के प्रकाश में तथा मर्यादा का पोषक होने से श्री गोस्वामी जी के मन्तव्य के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है।

दुर्जनों में सन्तों से डाह करने वाले भी सम्मिलित हैं। यह अनेक उपाय करके भी सन्तों के यश को नहीं मिटा पाते, कभी कभी तो ये सन्तों के यश को बढ़ाने का कारण बन जाते हैं, जिससे उनका अपना दुख और भी बढ़ जाता है।

कबीर साहब ने कह रक्खा है, 'निन्दक नेरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।'

तृतीय चरण में सन्त जनों को मलयाचल के समान कहा है। मलयाचल = मलयगिरि = चन्दन वन वाला पर्वत। मलयाचल में चन्दन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के वृक्ष हैं, पूरा चन्दनवन है। इसमें तीन गुण हैं शीतलता, सुगन्ध, अन्य वृक्षों की लकड़ी को भी सुगन्धित कर देना। सन्त में भी यह तीन गुण हैं, अतः वे मलयाचल हैं।

शीतलता का अर्थ बरफ़ वाली ठंडक नहीं है। विचारवान ज्ञानी के हृदय में चन्द्रमा की सी शीतलता रहती है। (योग वासिष्ठ) शीलग्रहण के कारण सन्त शीतल हैं। शोक, क्रोध, मत्सर आदि विकारों से नितान्त मुक्त अन्तःकरण शीतल माना गया है क्योंकि परितप्त नहीं होता। यह ऐसी शीतलता है कि दूसरे अन्तःकरणों के विकारों की ज्वाला को भी शान्त कर देती है।

सन्त दूसरे को भी शीतलता प्रदान करते हैं। इस शीतलता को आगे छन्द २१ तथा ४७,४८ में समझाया है। छन्द ५६ में भी शीतलता का उल्लेख है। परन्तु कवि ने छन्द ४९ में शीतलता की परिभाषा दी है। अतः आगे यथा स्थान शीतलता पर और भी विचार किया जा सकेगा।

चन्दन का दूसरा गुण सुगन्ध है। सन्त जीवन में पुण्य है, यश है, शान्ति है, विषय रस से रहित दिव्य आकर्षण है, यही उसकी मनोहारिणी सुगन्ध है। सन्त का हृदय कमल विकसित है, अतः इसका जीवन सुगन्धमय है, सुपात्र के लिए। बाहर से वह जीवन कितना ही अनाकर्षक लगता हो, परन्तु उसकी सुगन्ध अधिकारियों को आकर्षित करती है। श्री रामकृष्ण परमहंस जी ने कहा है कि कमल का खिल जाना ही काफ़ी है, उसके अतिरिक्त उसे कोई और विज्ञापन नहीं करना पड़ता, योग्य (सुपात्र) भ्रमरगण स्वयं ही लाभ उठाने के लिए पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार सुपात्र साधक भी गुरु के पास पहुँच जाते हैं।

सन्त मलयाचल हैं, उनकी शीतलता व सुगन्ध से प्रभावित अन्तःकरण शान्त और सुखी हो जाता है और विषय विकारों से ऊपर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उठ जाता है। वाह्य परिस्थितियों से अप्रभावित रहने का गुण उसमें आने लगता है। अर्थात् वह सन्त हो जाता है।

सुगन्ध का उल्लेख इसलिए भी उपयुक्त है कि सन्तों की एक राजयौगिक दशा है जब उन्हें विपुल सुगन्ध का अनुभव होता है। उन्हें कमरे भर में सुगन्ध भरी हुई जान पड़ती है। दूसरों को उस कमरे में सुगन्ध भरी हुई नहीं मालूम होती। सन्तों के संग से जिस किसी अन्य के चक्र विंध जायेंगे, कमल खिल जायेंगे वह भी सुगन्ध का अनुभव करेगा। यह भी वही चन्दन के संग से चन्दन बन जाने की बात है। इसके लिए मलयाचल मशहूर है।

सन्तों को दोष रहित कहा है। मलयाचल के गुण सन्तों में पाये जाते हैं, परन्तु मलयाचल के यदि कुछ दोष हैं तो वे सन्तों में नहीं पाये जाते।

मलयाचल के बारे में यह मान्यता है कि चन्दन वन में शीतलता के लोभ से सर्प आकर चन्दन के वृक्षों की जड़ों के पास तनों से लिपटे रहते रहते हैं। यह चन्दन वृक्ष का गौरव माना जाता है कि सर्पों के लिपटे रहने पर भी उनका विष चन्दन वृक्षों में व्याप्त नहीं होता।

चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग।

सच्चे सन्तों के दरबार में दुष्ट भी पहुँचते हैं। उनकी निकटता से लाभ उठाते हैं। कुछ तो वे सन्तों के पास जाने की ही नेकनामी कमाते हैं, कुछ इस सम्पर्क के कारण चतुराई से समाज के अन्य क्षेत्रों में लाभान्वित होते हैं। सन्तों के आशीर्वाद को प्राप्त करके भी समाज में लाभ उठाते हैं। इस सबके बारे में बहुत से विवेकियों या सत्पुरुषों को शिकायत भी होती है। दुर्जन सन्त शक्ति का प्रयोग कर्म सिद्धान्त को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काटने में करना चाहते हैं। कभी कभी इसमें तात्कालिक सफलता भी दिखाई देती है, परन्तु कर्म विपाक की गति अत्यन्त रहस्यमय है। सन्तों की कपट पूर्वक संगति करने का भी फल परिपाक होता है। पहले ही कह चुके हैं, 'दुर्जन मन दुख दून। दुर्जनों का सन्तों के साथ जो सम्पर्क है वह ऐसा ही है जैसे सर्पों का चन्दन के वृक्षों में लिपटे रहना।

चन्दन की प्रशंसा यह है कि सर्पों के लिपटे रहने पर भी सर्पों का विष चन्दन में नहीं आता। यह ठीक है कि 'संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति।' परन्तु सच्चे सन्त दुष्टों के आते जाते रहने पर भी दोष से लिप्त नहीं होते। यदि उनके कारण परिस्थिति में कुछ विषमताएँ और जटिलताएँ पैदा हों तो उनसे भी सन्त प्रभावित नहीं होते, अपना गुण स्वभाव नहीं छोड़ते। (यद्यपि निरापद मार्ग यही है और सन्त प्रायः इसका विचार रखते हैं कि वे दुष्टों के संरक्षक न बन जायँ।) प्रतिकूल परिस्थिति में भी सच्चे सन्त अपने गुण स्वभाव का अनुसरण करते हैं। ऐसे पक्के दुष्ट भी मिलते हैं जो सन्त के साथ से भी अपनी दुष्टता नहीं छोड़ते।

खलहुँ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन स्वभाव अभंगू॥
(रा०च०मा०)

विधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥
(रा०च०मा०)

सन्त की यह बड़ाई है कि वह दुर्जन के सम्पर्क से दुर्गुणी नहीं बनता, परन्तु दुष्ट प्रायः देर सबेर कुछ न कुछ सुधरता है। इस दृष्टि से सन्त शक्ति दुष्ट शक्ति से बलवती सिद्ध होती है।

यह तो मलयाचल का गुण पक्ष है कि सर्पों के संसर्ग से चन्दन वृक्षों में विष व्याप्त नहीं होता, परन्तु सर्पों के लिपटे रहने से दूसरों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चन्दन का लाभ लेने में, पहुँचने में, रुकावट होती है, भय लगता है। उसी सीमा तक सन्तों के संग में दुष्टों के कारण भले आदमियों को बाधा का अनुभव नहीं होता, क्योंकि दुष्ट सन्तों के सम्पर्क क्षेत्रमें दुष्टता नहीं करना चाहते। यदि अन्य लोग सन्त संग के अतिरिक्त दुष्ट सग भी करेंगे, तो उसका अशुभ परिणाम होगा ही। इस प्रकार सन्त (मलयाचल से भी अधिक) निर्दोष हैं।

चन्दन वन के अन्य पेड़ भी चन्दन की सुगन्ध पा जाते हैं। सुगन्ध उनमें बस जाती है। उनकी लकड़ी को भी घिसकर सुगन्धित लेप प्राप्त किया जा सकता है और लगाया जा सकता है, तथापि ऐसे अन्य वृक्ष हर प्रकार से चन्दन नहीं बन जाते। नीम का पेड़ चन्दन की खुशबू तो पा जायगा, परन्तु वह स्वरूप से नीम ही रहेगा। नीम के सारे गुण छोड़कर चन्दन के समस्त गुण नहीं धारण करेगा। रहेगा वह नीम ही। सुगन्धित नीम हो जायेगा। चन्दन वन के दूसरे वृक्ष चन्दन हो जाते हैं, यह पूरी तरह सच नहीं है। वे पूरी तरह चन्दन नहीं हो पाते। यह कमी है। सन्तों के सम्पर्क में आने वाले सब लोग भी पूरे सन्त नहीं बन पाते। जीवन में कुछ सुगन्ध प्राप्त करके रह जाते हैं। परन्तु सन्तों का संग करने वाले, मलयागिरि के वृक्षों की तरह चौबीस घण्टे उनके प्रभाव में रहने वाले, सच्चे अर्थ में उनके अनुगत शिष्य, पूरी तरह सन्त हो जाते हैं संस्कार, रुचि, दिनचर्या, वेषभूषा, व्यवहार आदि के व्यक्तिगत भेद तो रहते हैं, परन्तु सन्तों के लक्षण पूरी तरह विकसित हो जाते हैं। मलयाचल में जो कमी है वह सन्तों में नहीं।

चन्दन के अतिरिक्त अन्य वृक्ष जो चन्दन वन के प्रभाव से सुगन्ध पा गए हैं, चन्दन हो गए हैं, दूसरे वृक्षों को चन्दन नहीं बना सकते, परन्तु सन्त अपने प्रभाव से जिन्हें सन्त बना देते हैं, उनमें ऐसी कोई कमी नहीं देखी जाती। तस्मात् अनेक अर्थों में सन्त दोष रहित मलयाचल हैं।

सन्तवर श्रीकान्त शरण जी ने 'दोष का अर्थ यहाँ द्वेष' लिया है, और यह माना है कि यहाँ सन्तों का द्वेष-रहित होना घोषित किया गया है। (दृष्टव्य 'सिद्धान्त तिलक' टीका)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कोमल बानी सन्त की, स्रवत अमृतमय आय ।
तुलसी ताही कठोर मन, सुनत मैन होइ जाय ।।१९।।

सन्त की वाणी कोमल होती है । वह अमृतमय है कानों के द्वारा प्रवेश करके हृदय में अमृत बिन्दु टपकाती है । उस वाणी के सुनने से कठोर मन भी पिघले हुए मोम के समान कोमल हो जाता है ।

सन्त की वाणी कोमल होती है । मृदु-अक्षरों के बाहुल्य से यह कोमलता नहीं, स्वरों की कोमलता भी यहाँ अभिप्रेत नहीं है । नाद की कोमलता का भी अर्थ नहीं है, शिष्टाचार की शालीनता और मृदुता से भी यहाँ मतलब नहीं है । इस प्रकार की कोमलता सन्त की वाणी में हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है । सन्त अपनी मातृ-भाषा में ही प्रायः बोलेंगे, उनके जीवन सन्दर्भ के अनुसार उनकी भाषा–'ग्राम्य गिरा' या नागरी भाषा, देवभाषा, या कोई अन्य भाषा हो सकती है । इस सब वाणी भेद के साथ कोमलता रहेगी । कभी कभी सन्त भीड़-भाड़ बचाने के लिए कठोर शब्द कह देते हैं । यहाँ उनके उपदेश के शब्दों की कोमलता से मतलब है । वैसे अभिप्राय शुभ और कोमल होने पर कठोर शब्द भी कोमल माने जाते हैं । विवाह में गालियाँ गाने के लिए भी नेग मिलता है । सन्त का अन्तःकरण करुणार्द्र, कोमल होता है, अतः उनकी वाणी भी समझदारों के लिए सदैव कोमल ही है ।

सन्तों की जिस वाणी से कठोर मन भी कोमल हो जाता है, वह उपदेश की वाणी है अथवा कभी कभी विषम परिस्थिति में भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शान्त, उद्वेग-रहित, सत्य, प्रिय व हितकर वाणी। इस वाणी का अत्यन्त तीव्र प्रभाव होता है।

इस दोहे के मर्म को समझने के लिए, श्रीमद्भागद्गीता के सन्दर्भ से मिलाकर विचार करना चाहिए। अर्जुन का विषाद भगवान ने हरण कर लिया। उनका उपदेशामृत कोमल वाणी का ही उदाहरण माना जायेगा। चाहे उसमें व्यंग्योक्तियाँ भी क्यों न पाई जायँ। भगवान् की प्रसाद (कृपा) मयी वाणी अर्जुन के लिए कोमल ही थी।

विवेक की दृष्टि से गुरुजनों की फटकार भी कोमल है। और चापलूसों की मधुर वाणी भी कठोर है, वह उपहासात्मक या व्यंग्यात्मक भी हो सकती है। भयावह परिणाम ला सकती है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी सन्त वाणी की कोमलता का एक रहस्य है। प्रेम से प्रभावित होने वाला हृदय कोमल माना जाता है, अप्रभावित रहने वाला पत्थर का सा कठोर माना जाता है।

तदश्म सारं हृदयं बतेदं, यद् गृह्यमाणैं हरि नाम धेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥
(श्रीमद्भागवत २.३.२४)

कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती॥
(रा०च०मा०)

यहाँ भगवत्प्रेम सम्बन्धी कोमलता ही से मतलब है लौकिक शृगार रस की कोमलता से नहीं। लौकिक शृंगार रस की कोमलता का सन्त के समक्ष कोई मूल्य नहीं। भगवत्प्रेम में द्रवित होने का ही सन्त की दृष्टि में गौरव है। सन्त की वाणी में जो कोमलता है वह भगवत्गुण गान में प्रगट होती है और अधिकारी सत्पात्र ही उसको पहचान सकते हैं और उसकी कद्र कर सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सन्त की कोमल वाणी कानों की राह से अन्तःकरण में पहुँचती है और अमृत की तरह टपकती है। सन्त की आध्यात्मिक वाणी, भगवत्कथा मयी वाणी, अमृतमय मानी गयी है। सब सन्त गायनाचार्य नहीं होते। अतः संगीतामृत से मतलब नहीं है, यद्यपि सन्तों में श्री हरिदास जी, श्री सूरदास जी, श्री नरसी मेहता, श्री जयदेव कवि, श्री विल्वमगल जी आदि भी सम्मिलित हैं। सन्त वाणी को कई कारणों से अमृतमयी मान्य किया गया है।

संस्कृत में एक श्लोक है—

अब्धौ विधौ वधुमुखे, फणिनाम् निवासे,
स्वर्गे सुधा वसति सा, प्रवदन्ति चैके।
क्षारः क्षयः पतिमृति विषमस्य पातः,
कण्ठे सुधा वसति सा भगवज्जनानाम्॥

अमृत कहाँ है? विभिन्न लोग अलग अलग स्थान बताते हैं। समुद्र में, चन्द्रमा में, वधू के मुख में, नाग लोक में अथवा स्वर्ग में। परन्तु कवि इन मतों को ठीक नहीं मानता।

समुद्र में यदि अमृत है तो समुद्र खारी क्यों?
चन्द्रमा में यदि अमृत है तो (उसकी कला का) क्षय क्यों?
वधू मुख में यदि अमृत है तो उसके पति की मृत्यु क्यों?
नाग लोक में यदि अमृत है तो सर्पों में विष क्यों?
स्वर्ग में यदि अमृत है तो वहाँ से पतन क्यों?

अतः कवि की सम्मति में सुधा (अमृत) यहाँ कहीं नहीं है। अमृत का वास भगवज्जनों के कण्ठ में है। उनकी भगवत्प्रेममयी वाणी निकलती है जिसके प्रताप से सेवन करने वालों को अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जहाँ सन्त सभा होती है—

तस्मिन् महन् मुखरित: मधुमिच् चरित्र ।
पीयूष पान परित: सरित: स्रवन्ति ।। (श्रीमद्भागवत)

वहाँ महापुरुषों के मुख से मधुसूदन भगवान् के चरित्रों के अमृत से परिपूर्ण सरिताएँ प्रवाहित होती हैं, जिनके अमृत का सेवन करने वालों को भय, तृष्णा, कष्ट, मोह आदि कुछ नहीं व्यापते ।

लौकिक महत्व की वाणी को भी कविगण अमृतमयी कह देते हैं, या आसक्त पुरुष अमृतमयी मान लेते हैं, परन्तु प्रभावत: वह विपरीत गुण वाली है क्योंकि जन्म मरण के चक्कर में डालने वाली है । विष तो एक बार ही मृत्यु का कारण बनता है, परन्तु विषयासक्ति पुन: पुन: (जन्म व) मरण का कारण बनती है । सन्तों की वाणी में विषय रस नहीं होता, भगवदामृत रस ही होता है । जन्म मृत्यु के कारण की नाशक होने से सन्त वाणी सुधामयी है ।

पिबन्ति ये भगवत आत्मन: सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतं ।
पुनन्ति ते विषय विदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरण सरोरुहान्तिकम् ।।
(श्रीमद्भागवत २.२.३७)

जो लोग भगवदीय जनों सत्पुरुषों से भगवत्कथामृत को प्राप्त करके, कान रूपी दोनों में भर भर कर पीते हैं, वे विषयासक्ति से दूषित हृदय को पवित्र कर देते हैं, और अन्त में भगवत् चरण कमलों को ही प्राप्त होते हैं ।

भगवत्कथा सुधा की ही यह महिमा है कि—

य: कर्ण नाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेह रतिं छिनत्ति ।
(श्रीमद्भागवत)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुरुषों के कानों पहुँचकर यह कथा भवभयदायक गृहासक्ति को काटती है।

नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुवीर।
स्रवन पुटनि मन मान करि, नहिं अघात मति धीर॥
(रा०च०मा०)

गोपियों ने भी भगवान् के विरह में विलाप करते हुए कहा कि आपके विरह से तप्त जीवों के लिए आपकी कथा अमृत है, जो अमृत के दानी हैं, वे इस संसार में बहुत बड़े दानी हैं।

सन्तजन भगवत् कथा से, अपने निरूपण से, वचनामृत से मोह का हरण कर लेते हैं—

तौ प्रभु हरहु मोह अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा विधि नाना॥
(रा०च०मा०)

मोह नाश से ही ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से ही मोक्ष है, मोक्ष ही अमरत्व है, इसलिए भी सन्तवाणी अमृतमयी है।

श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ का नाम रक्खा 'भक्ति रसामृत सिन्धु।' भक्ति ही अपूर्व अमृत रस का सिन्धु है। इसमें मग्न रहने वाले मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते। श्री रूप गोस्वामी जी अपने ग्रन्थ में उन मछलियों की वन्दना की है, जो भक्ति रसामृत सिन्धु की गहराई में रहती हैं, और कुछ ऊपर आकर मुक्ति की नदियों में प्रवेश नहीं करतीं—'अप्रविष्ट मुक्ति नदीकानां।' अमृतरस मयी भक्ति सन्तों के उपदेश से ही मिलती है—

'सो बिनु सन्त न काहू पाई।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अस विचारि जोइ कर सत्संगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ।।
(रा०च०मा०)

सन्तों का यह गौरव है कि अपना दु:ख सहने में पर्वत के समान धीर हैं, वज्र के समान कठोर हैं, परन्तु परदु:ख कातरता में पुष्प से भी कोमल हैं —

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ।।

सन्त वाणी, उपदेश और आशीर्वाद के द्वारा दूसरे के महान् कष्ट को तत्काल दूर कर देती है, इसलिए भी अमृतमयी है।

इस कोमल अमृतमयी वाणी का प्रभाव भी गोस्वामी जी ने दोहे में कह दिया है। इस वाणी के सुनने से कठोर मन अति कोमल हो जाता है।

साधारणत: कठोर और कोमल वस्तु का संघात होने से कठोर वस्तु के अप्रभावित रहने की आशा है, कोमल वस्तु टूट फूट सकती है। विरोधभास के साथ सन्तवाणी का विलक्षण प्रभाव दोहे में दर्शाया गया है, यह अलौकिकता है कि सन्तवाणी कोमल है, मन कठोर है, परन्तु इनका संसर्ग होने से सन्तवाणी को कोई आघात नहीं पहुँचता, कठोर मन को ही कोमल हो जाना पड़ता है।

कठोर मन कोमल कैसे हो जाता है? पत्थर की तरह कठोर मन मोम की तरह कैसे हो जाता है?

श्री गोस्वामी जी विनय पत्रिका में कहते हैं—सहस सिला ते अति जड़ मति भई है। काहि कहौं कौने गति पाहनहि दई है। हे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भगवान पत्थर से हजार गुनी जड़ता (कठोरता) बुद्ध में आ गई है। अब किससे प्रार्थना करूँ ? पत्थर को (और) किसने सुगति प्रदान की है ? श्रीराम जी के चरण स्पर्श से शिला रूप अहिल्या पुनः पवित्र ऋषि पत्नी हो गई। 'गोतम सिधारे गृह गौनो से लिखाइ कै। (गीतावली) पत्थर को भी कोमल बना देने का जादू भगवान् के चरण कमलों नें है। उसी प्रकार सन्त भी कठोर मन को कोमल कर देते हैं।

श्री रामचन्द्र जी ने एक अहिल्या को ही शिला से मुनि नारी बना दिया। परन्तु भगवन्नाम ने अनेक दुष्टों की बुद्धि शुद्ध की।

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।

भगवन्नाम का जादू बराबर चलता रहता है कि कठोर मनों को भगवत्प्रेम मार्ग में कोमल और स्निग्ध बना दे। सन्त भगवन्नाम का ही प्रताप प्रकट करते हैं, उनकी वाणी में भगवन्नाम की ही दिव्यता प्रकट है, वे इसी से कठोर मन को कोमल बना देते हैं।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि सन्तों की वाणी के सुनने मात्र से ही मन नहीं बदलता, साधन करके क्रमागत रीति से बदलता है। ऐसा विचार एकदम गलत नहीं है, सन्तों की वाणी से हम साधन में प्रवृत्त होते हैं, और लाभ उठाते हैं। परन्तु सन्तवाणी का जो माहात्म्य यहाँ कहा गया है, वह कोई अतिशयोक्ति नहीं है, किसी दृष्टि से ठीक ठीक समझने पर यथार्थ है।

सबसे पहले तो इस बात पर हम ध्यान दें कि दुष्टों के तत्काल सुधर जाने के प्रबल उदाहरण प्राप्त हैं। रत्नाकर डाकू ऋषियों के साथ से सहसा बदल गया और ऋषि प्रवर बाल्मीकि हो गया। शिष्यता और सेवा करके क्रमागत परिवर्तन नहीं हुआ। श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जगाई व मधाई का उद्धार सहसा ही किया गया। भयानक दस्यु अंगुली माल भगवान् बुद्ध से मिलकर सहसा ही बदला, क्रमागत रूप से नहीं।

सुत मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू॥
(रा०च०मा०)

तथा—

मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होंहि पिक बकहु मराला॥
(रा०च०मा०)

सत्संग ऐसा अद्भुत तीर्थ है कि उसमें स्नान करने वाले तुरन्त ही कौवे से कोयल और बगुले से हंस बन जाते हैं। काक के समान कर्कश वाणी कोयल की सी कोमल वाणी हो जाती है, बगुले के समान कपटी ध्यानी, विवेक पूर्ण हंस बन जाते हैं।

सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।
(रा०च०मा०)

सत्संग का जो अलौकिक प्रभाव है वह ऐसे सहसा परिवर्तनों में सहज ही देखा जा सकता है। इसीलिए—

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग॥

यह भी कहा गया है कि—

तबहिं होइ सब संशय भंगा। जब बहु काल करिय सतसंगा॥
(रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परन्तु यह न भूलना चाहिए कि जब श्री गरुड़ जी इस उपदेश सुनकर सत्संग करने के लिए श्री काक भुशुण्डि जी के आश्रम पर पहुँचे तो उन्होंने अनुभव किया और कहा—

प्रभु तब आश्रम आए, मोर मोह भ्रम भाग।
कारण कवन सो नाथ सब, कहहु सहित अनुराग ।।
(रा०च०मा०)

प्रश्न तो इस चमत्कार के बारे में भी किया गया और उत्तर भी मिला, परन्तु तत्काल प्रभाव तो अनुभव में आया ही।

बाइबिल में भी सहसा परिवर्तन की मिसालें हैं। इनमें से प्रमुख है सॉल का पॉल बन जाना, ईसाई-उत्पीड़क से ईसाई प्रचारक हो जाना (ऐक्ट्स अध्याय ९)

यह ठीक है कि ऐसे सहसा चमत्कारिक परिवर्तन थोड़े ही होते हैं, शेषजनों का तो क्रमागत विकास ही होता है, परन्तु ऐसे सहसा परिवर्तनों से यह लक्षित हो जाता है कि सत्संग का कितना बड़ा प्रभाव है।

कुछ ऐसे भी दृष्टान्त होते हैं कि जिनमें सहसा परिवर्तन तो हो जाता है परन्तु साधारणजनों को क्रमागत रूप में ही दृष्टिगोचर होता है।

जैसे किसी रोगी की शल्य चिकित्सा की जाती है, तो रोग तुरन्त निवृत्त माना जा सकता है, परन्तु रोगी की देखभाल बाद तक करनी पड़ती है और इस अवधि में वह रोगी ही समझा जाता है। इसी प्रकार मन पर तत्काल प्रभाव पड़ जाता है, परन्तु उसके बाद वह साधनरत रहता है और उसका उपयोग भी है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कभी कभी डाक्टर यह कहते हैं कि शल्य चिकित्सा से रोग निवृत्त हो सकता है परन्तु इसमें सन्देह है कि रोगी चीर फ़ाड़ को झेल पाएगा या नहीं, उसी तरह दिव्य शक्ति का प्रभाव तो असीम है, परन्तु दिव्य विभूतियों को भी सोचना पड़ता है कि किसी व्यक्ति का अन्तःकरण कितनी शक्ति का प्रभाव झेल पाएगा। जैसे लाख को गलाकर तब उस पर मोहर लगाई जाती है और तभी मोहर ठीक से लग पाती है, उसी तरह द्रवित चित्त पर सन्त की छाप अच्छी लगती है। श्रद्धा से चित्त द्रवित होता है। माहात्म्य ज्ञान से श्रद्धा होती है। सन्त की महिमा को सुनकर श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब मनुष्य सन्त का संग करने जाता हैं। फिर उनकी रहन सहन देखकर, उपदेश सुनकर, उनका माहात्म्य जानकर मन श्रद्धा पूरित हो जाता है। तब सन्त वाणी की छाप अच्छी पड़ती है।

सच्चा साधक श्रद्धा सहित ही सन्त के पास जाता है, परन्तु सन्त वाणी से उसकी श्रद्धा पूर्ण और परिपक्व होती है, उससे अन्तःकरण द्रवित हो जाता है। यही वज्र के समान कठोर हृदय का पिघले हुए मोम की तरह कोमल हो जाना है। ऐसा द्रवित हृदय नए साँचे में ढाला जा सकता है। फिर उसका रूप पूर्व रूप से विलक्षण ही दिखाई पड़ता है। पत्थर की जाली बनाना कठिन है, परन्तु आजकल सीमेंट की जाली बना ली जाती है जो जमने और सूखने पर दृढ़ सिद्ध होती है।

जैसे बीमार अपनी शल्य चिकित्सा स्वयं नहीं कर पाता, विद्यार्थी नई भाषा या विद्या, बिना किसी सहायता के स्वयं नहीं सीख पाता, उसी तरह कठोर हृदय स्वयं अपने को कोमल बनाने में असमर्थ है, इसके लिए संत की चमत्कारिक शक्ति चाहिए, जो प्रायः आशीर्वाद और उपदेश के रूप में काम करती है। सन्त का मानसिक संकल्प भी काम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर सकता है, जो कारण विशेष से वैखरी वाणी में प्रगट न हुआ हो। वह भी वाणी है, पश्यन्ती सही, वह भौतिक कर्णगत न हो पर उसे भी कठोर मन धारण करता है, उस वाणी से भी उसका कोमल हो जाना सम्भव है।

एक वार मन इस प्रकार श्रद्धापूरित और द्रवित हो जाय तो फिर सन्त की वाणी श्रवण करने मात्र से नव आध्यात्मिक अनुभूति होने लगती है। इसी से कहा है—

सत्संगति संसृति कर अन्ता।

(रा०च०मा०)

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुभव सुख उतपति करत, भव भ्रम धरै उठाइ ।
ऐसी बानी सन्त की, जो डर भेदै आइ ॥२०॥

सन्त की वाणी ऐसी होती है कि हृदय में गड़ जाय तो अनुभव (आत्मानुभूति, भगवत्प्राप्ति) का सुख उत्पन्न करती है और संसार रूप भ्रम को तो वह उठाकर अलग रख देती है (सहज ही पूर्णत: निवृत्त कर देती है।)

इस दोहे को पूर्व के सन्दर्भ में लेना चाहिए। सन्त वाणी का जो प्रभाव यहाँ बताया गया है वह पूर्वोक्त द्रवित और कोमल चित्त के लिए है, श्रद्धालु शरणागत शिष्य के लिए है। पूर्वोक्त चमत्कार के बाद अत्रोक्त चमत्कार है।

शुद्ध सरल श्रद्धाभरित, द्रवित प्रपन्न विनीत ।
सो सुनतहि अनुभव लहै, भवभ्रम रहित पुनीत ।।

वेदान्त में साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी माना गया है। साधन चतुष्टय इस प्रकार है। विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। नित्य अनित्य वस्तु की पहिचान विवेक है। अनित्य वस्तु में आसक्ति घटनी और मिटनी चाहिए। इस लोक और परलोक के सभी भोगों से तबियत हट जाना वैराग्य है, जैसे श्री हनुमान जी के लिए विनय पत्रिका में कहा गया है—ब्रह्मलोकादि वैभव विरागी। (वि०प०) षट्सम्पत्ति में ६ गुण आते हैं—शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। मानसिक शान्ति, इन्द्रिय निग्रह, सुख दु:खों का समत्व पूर्वक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सहन, जगत् से चित्त का अनाकर्षित रहना, श्रुति, शास्त्र, सन्त वाक्यों में प्रत्यक्षवत् विश्वास तथा बुद्धि का शान्त और सन्देह रहित होना मुमुक्षुत्व यानी मुक्त होने की अभिलाषा। इन चार साधनों से जो युक्त हो वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश मिलना चाहिए।

कोई कह सकता है कि उल्लिखित गुणों से युक्त पुरुष तो मुक्त ही होगा, मुमुक्षु नहीं। परन्तु सच यह है कि इन गुणों से रहित व्यक्ति का निज अनुभव ज्ञान के विपरीत होगा, अतः उसे ब्रह्मज्ञान की बातें समझ में नहीं आएँगी और निज अनुभव से विपरीत विचारों को वह धारण न कर सकेगा। निर्दिष्ट गुणों से युक्त पुरुष का निज अनुभव उल्टा नहीं होगा, अतः वह ब्रह्मज्ञान के उपदेश को सुनता जायगा और समझता जायगा। उसके हृदय में ज्ञानोपदेश टिकेगा, और श्रुतवाणी अनुभव से पुष्ट होती जायगी।

ब्रह्मज्ञान का जो अधिकारी है, उसे श्रवण के साथ ही अनुभूति होती जायगी। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के लिए उसे बहुत लम्बा समय नहीं चाहिए। इसलिए समर्थ सन्त और अधिकारी शिष्य का संवाद होने पर सन्त वाणी (उपदेश) के साथ ही अनुभव सुख की प्राप्ति होती जायगी।' 'अनुभव सुख उतपति करत' का यही अर्थ है।

दोहे में यह भी कहा है कि सन्त वाणी 'भव भ्रम' की तत्काल निवृत्ति करती है, जैसे कोई चीज उठाकर कहीं और रख दी जाय।

भव भ्रम और उसकी निवृत्ति के विषय में दो भिन्न विचार प्रस्तुत किये जाते हैं, और साधन और चिन्तन के स्तर भेद से दोनों ही ठीक हैं। एक ओर यह कहा जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति क्रमागत है। विविधि साधनों से अन्तःकरण की शुद्धि और वैराग्य की प्राप्ति होगी, तब ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होगा। दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि जगत् स्वप्नवत् है या मृगतृष्णा की तरह का भ्रम मात्र है। स्वप्न से जागना या भ्रम से छूटकर यथार्थ दर्शन सहसा ही होता है क्रमागत नहीं। किसी को रस्सी में सर्प का भ्रम है तो वह सहसा निवृत्त होगा, धीरे धीरे कालक्रम से नहीं।

जहाँ कहीं दृढ़ आसक्ति है, वहाँ आकर्षण है, सुखाभास है, तदाधारित राग है। इन सब संस्कारों के कारण ही आसक्ति की वस्तु में सत्य बुद्धि होती है। स्वप्नकाल में स्वप्न की सब वस्तुएँ सत्य ही भासती हैं, स्वप्नगत प्रवचन से भी यह मिथ्या आभास दूर नहीं होता। दोष दुःख सपने के जागे ही पे जाहिं रे। (वि०प०)

संसार स्वप्नतुल्यो हि राग द्वेषादि संकुलम्।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद् भवेत्॥

राग द्वेष से भरा हुआ संसार, स्वप्न तुल्य है, स्वकाल में सत्य लगता है, प्रबोध होने पर असत्य प्रतीत होता है।

सुभग सेज सोवत सपने वारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिन नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै॥
(वि०प०)

स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्ध वस्तुः।
(श्रीमद्भागवत ३.२८.३८)

जागने पर मनुष्य स्वप्न की वस्तु का सेवन नहीं करता है।

यह दोनों विचार परस्पर विरोधी भले ही लगें पर हैं नहीं। यह ठीक है कि जागने पर स्वप्न की तुरन्त निवृत्ति होती है, तथा बोध होने पर भ्रम की तुरन्त निवृत्ति नहीं होती है, परन्तु जागा कौन है ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मोह निसा सब सोवनि हारा । देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा ।।
एहि जग जामिनि जागहिं योगी । परमारथी प्रपंच वियोगी ।।
जानिय तबहिं जीव जग जागा । जब सब विषय विलास विरागा ।।

जागने पर तो स्वप्न भ्रम तुरन्त निवृत्त होता है, क्रमागत रूप से नहीं परन्तु जागने की पहिचान वैराग्य ही है । जागने पर स्वप्नवाली सब वस्तुएँ अविद्यमान् हो जाती हैं, फिर उनकी प्राप्ति की स्पृहा, अप्राप्ति का दु:ख आदि नहीं होता । उनसे पक्का वैराग्य हो जाता है । मिथ्यात्व की अनुभूति से वैराग्य हो जाता है, परन्तु मोह निशा में सोने वाले और अनेक प्रकार के स्वप्न देखने वाले अपने जागने का प्रबन्ध स्वयं नहीं कर सकते । ज्ञान की पुकार पर वे जागेंगे परन्तु वह पुकार अन्त:करण भेद से भिन्न भिन्न प्रभाव रखती है. अत: पूर्व दोहे के अनुसार अन्त:करण के तैयार हो जाने पर ही सन्त वाणी का इस दोहे में कथित चमत्कार अनुभूत होगा ।

जो मन सन्त वाणी को श्रद्धापूर्वक सुनते सुनते कोमल हो गया है, साधन चतुष्टय सम्पन्न हो गया है, जो ज्ञानोपदेश का पात्र हो गया है, वह प्रणिपात, परिप्रश्न, और सेवा करके ज्ञानियों से ज्ञानोपदेश प्राप्त कर सकता है । (गीता ४.३४) । ऐसी परिस्थिति में और कोई साधन नहीं करना पड़ता, उपदेश श्रवण के साथ ही साथ अनुभूति होती जाती है ।

श्री शुकदेव जी द्वारा जब श्रीमद्भागवत की कथा श्री परीक्षित जी को सुनाई गई तो श्री परीक्षित जी खाना पीना सब छोड़कर सात दिन तक कथा ही सुनते रहे । फिर निश्चिन्त हो गए, निर्भय हो गए, मृत्यु का भी भय न रहा । यहाँ श्रोता में पूर्ण पात्रता आ गई थी, सन्त वाणी के श्रवण के साथ ही साथ तत्वानुभूति होती गई, भवभ्रम निवृत्त हो गया ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सन्त लोग अपनी वाणी व्यर्थ नहीं खोते, या तो वथार्थ बोधक वाणी बोलना चाहते हैं, या मौन रहना चाहते हैं। (पूर्व छन्द सं० ११) उपनिषद् में भी कहा है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

'जिसकी भगवान् में परा भक्ति होती है, और जैसी भगवान् में वैसी ही गुरु में होती है, उसके प्रति ही महात्मागण उपनिषद् कथित इन अर्थों को प्रकाशित करते हैं।'

श्री गोस्वामी जी ने इस दोहे में सन्त वाणी का जो प्रभाव बताया है, उसके साथ यह शर्त लगा दी है कि 'जो उर भेदै आइ।' (यदि हृदय में गड़ जाय)। यह उपेक्षणीय नहीं है। यह शर्त बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

श्रवण बहुत लोग करते हैं, परन्तु सन्तवाणी सबके मन में तीर की तरह गड़ नहीं जाती। यदि साधारण भाव से सुन लिया, विशेष महत्व नहीं दिया तो उस वाणी का चमत्कारिक प्रभाव कैसे होगा? जो श्रद्धा पूर्वक जाता है, वही ध्यान से सुनता है। सुनने का प्रयोजन भी अलग अलग होता है। ध्यान से सुनने वालों का भी प्रयोजनानुसार फल अलग अलग होगा।

ऐसा हो सकता है कि किसी प्रकान्ड विद्वान् सन्त का भाषण कोई और केवल इसलिए सुने कि नई नई शास्त्र की बातें उसे मालूम हो जायँ जिन्हें बाद में लेखों, पुस्तकों या प्रवचनों आदि में प्रयुक्त करके अपनी धाक जमाई जा सके। इस भाव से सुनने वाले अपने पान्डित्य या वाक् चातुर्य को बढ़ाने के लिए सुनते हैं, तत्वग्रहण के लिए नहीं। इसलिए सुने हुए उपदेशों से वे पाण्डित्य का ही लाभ लेंगे, यह लाभ नहीं होगा कि सुनते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही तत्वानुभूति हो जाय। उपदेश हृदय को भेदेंगे नहीं। स्वयं श्री गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में कहा है।

वचन तेरे मेरे मन गड़े हैं।
देखे सुने जाने मैं जहान जेते बड़े हैं।

कोई कोई श्रोता महान् सन्तों का उपदेश सुनते हैं, मुख्यत: मनोरंजन के लिए। उनके लिए इतना काफी हैं कि बड़ा अच्छा उपदेश हुआ, खूब आनन्द आया। उनके लिए सुने हुए उपदेशों को याद रखना भी आवश्यक नहीं, तत्सम्बन्धी अनुभूति का प्रश्न ही क्या है? आध्यात्मिक अनुभूति की उन्हें परवाह नहीं, तो वह अपने आप कहाँ से हो जायगी?

कुछ श्रोता (अथवा पढ़े लिखे अधिकांश श्रोता) वक्ता के परीक्षक बनकर सुनते हैं। प्रवचन के बाद आप इनसे जान सकते हैं कि प्रवचन किस कोटि का था? यह भी कि प्रवचन गत विचार ठीक थे कि नहीं। परीक्षकों को यह कहाँ याद रहता है कि परीक्षार्थियों ने उत्तरों में क्या क्या कहा या लिखा था। इस कोटि के श्रोता भी तत्वानुभूति से कोसों दूर हैं।

कोई कोई श्रोता कथा, प्रवचन या उपदेश में केवल इसलिए सम्मिलित होते हैं यह एक पुण्य का कार्यक्रम है। सम्मिलित होना, सुनना स्वयं पुण्यप्रद है। क्या कह गया उसे समझना याद रखना, आत्मसात् करना, अमल में लाना, अनुभूति करना—इस सबसे उन्हें कोई मतलब नहीं। ऐसे श्रोताओं को भला सुनते ही अनुभूति कैसे हो सकेगी? भव भ्रम कैसे मिटेगा?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऐसे उत्तम साधक भी होते हैं, जो जिज्ञासु भाव से ही श्रवण करते है, सतोगुण में स्थित होने से वे ज्ञान के पात्र होते हैं, सन्त वाणी का प्रभाव भी उनपर होता है। प्राप्त उपयेश पर वे सन्देहशील नहीं होते और उसे कार्यान्वित करने में भी सत्यनिष्ठा रखते हैं। ऐसे साधकों का जीवन तेजी से सुधरने लगता है। परन्तु इनको भी सभी श्रुत विषयों की तत्काल अनुभूति का सुख नहीं मिलता। कभी ऐसी स्थिति आ जाती है जब सन्तवाणी हृदय को भेद दे। इसी को बात लग जाना कहते हैं। ऐसी स्थिति में वाणी श्रवण के साथ अनुभूति का सुख पूरी तरह मिलेगा। यह सन्त वाणी का गौरवपूर्ण आदर्श प्रभाव है जो हर समय हर एक के प्रति प्रकट नहीं होता। जितना अधिक से अधिक प्रभाव हो सकता है वही माहात्म्य कथन में कथित होना योग्य है। श्री गोस्वामी जी के कथन में यथार्थवाद और आदर्शवाद का अपूर्व समन्वय है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सीतल बानी सन्त की, ससिहू ते अनुमान ।
तुलसी कोटि तपन हरै जो कोउ धारै कान ॥२१॥

सन्त वाणी को चाँदनी से भी अधिक शीतल (ठण्ढी) समझना चाहिए, जो उसे कानो में धारण करे, उसके करोड़ों ताप हरण करती है ।

यहाँ जो शीतलता बताई गई है वह बरफ की सी ठण्ढक नहीं है । शीतलता इसलिए कही गई है कि ताप हारी प्रभाव है । 'कोटि तपन' हरण करने वाली होने से शीतल मान्य है । तपन भी साधारण गर्मी के अर्थ में नहीं है । यह देह तवे की तरह हैं सदैव त्रयताप से तप्त रहती है । (छन्द ६) श्रीं राम प्रताप से शान्ति पद प्राप्त होने पर ही यह तवा ठण्ढा होता है, शान्ति मिलती है ।

पहले यह समझना चाहिए कि कोटि तपन क्या है ? हम लोग लौकिक जीवन को सुख और दु:ख से युक्त मानते हैं । किसी किसी के जीवन में सुख बहुत दिखाई पड़ता है दु:ख कम या बिल्कुल नहीं । जो जीवन हमें सुखी दिखाई देता है उसे परितप्त कैसें मानें ? साधारण दृष्टि से ऐसा जीवन ताप रहित होता है, परन्तु ज्ञानदृष्टि से नहीं ।

कोई कोई जिगर के रोगी ऐसे होते हैं कि शत अंश तक ज्वर हो तो उन्हें ताप का कुछ अनुभव नहीं होता, ताप मापक यन्त्र से ज्वर सिद्ध होता है, (नब्ज) नाड़ी की गति ज्वर की तरह की होती है, दूसरे को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्पर्श में देह गरम लग सकती है, पर रोगी को ज्वर का अनुभव नहीं होता। परन्तु निदान में ज्वर मानना पड़ता है।

यह सम्भव है कि अपनी ही दृष्टि में हम परितप्त न हों, परन्तु विवेक की दृष्टि से हम अत्यन्त परितप्त हों, प्रतीतित, हँस बोल रहें हों, वस्तुत: अत्यन्त दु:खद परिस्थिति में हों।

किसी की पदच्युति का आदेश हो चुका है, उसे अभी मिला नहीं है, वह मौज शौक में है पर जानने वाले की दृष्टि में करुण परिस्थिति है। कर्ज लेकर नशा करने वाला दूसरों की दृष्टि में विनाशकारी परिस्थिति में है, अपनी दृष्टि में नहीं। अनाथ बच्चा दयनीय है पर अविवेकवश कभी हँसता, खेलता, सुखी दिखाई पड़ सकता है।

किसी भी समय यदि दु:खदायी विषय या परिस्थिति की विस्मृति हो जाय और सुखद विषय पर हमारी एकाग्रता हो जाय तो हम सुखी प्रतीत हो सकते हैं। निष्पक्ष चिन्तकों का यह भी निश्चय नहीं है कि कुल मिलाकर धनी व्यक्ति निर्धन से अधिक सुखी है, यद्यपि—नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। (रा०च०मा०) परन्तु विपरीतत: यह नहीं कहा कि धनी होने के समान कोई सुख नहीं है। यह कहा कि—'सन्त मिलन सम सुख कछु नाहीं।'

विषयों का जो सुख है वह अनेक प्रकार के ताप से जुड़ा है, अत: योगी की दृष्टि में 'दु:खमेव सर्वं' तथा 'तापमेव सर्वं'। विवेकी की दृष्टि में 'जीव सकल सन्ताप के भाजन जग माहीं।' (वि०प०) सुख भोग अभ्यास से कम होता जाता है, परन्तु निर्भरता बढ़ती है। सुख आगामी दुख का सूचक है और उसे तीव्रतर बनाएगा। विषय के सुख को पाने, भोगने, उसे बनाए रखने के प्रयास में अनेक अशुभ कर्म करने पड़ते हैं, जिनके फल परिपाक में दुख मिलेगा। 'नानुग्रहत्य भूतानि भोगा:

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सम्भवन्ति हि ।' (बिना जीव हिंसा के भोग सम्भव नहीं । अतः सुख भोग वाद में दुःखवृद्धि का ही कारण बनता है ।

आज के विश्व में सुखद भोग पहले से अधिक है, परन्तु नर-समाज के सामूहिक विनाश की परिस्थितियाँ भी अभूतपूर्व हैं, इसलिए विद्वानों और चिन्तकों को बड़ी बेचैनी है । जिसे फाँसी पर लटकाने के लिए लोग ले जा रहे हैं उसे कोई भोग तृप्तिदायक नहीं हैं । मृत्युना नीयमानस्य वकयस्यैव न तुष्टिदः । मुल्कराज आनन्द की एक कहानी है, 'खोया हुआ बच्चा' । मेले में जाकर एक बच्चा माँ बाप से मिठाई के लिए, गुब्बारे के लिए, खिलौने के लिए जिद करता है परन्तु थोडी देर में वह खो जाता है, माँ बाप से अलग हो जाता है तो दूसरा व्यक्ति उसे वही चीजें देने के लिए कहता है तो वह नहीं लेता अधीर होकर रोता है । जब तक परमपिता से मिलने की तड़प नहीं होती तभी तक विषय मीठे हैं । फिर तो सभी जगत् शून्य है, तापमय है, दुःख रूप है—

शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द विरहेन मे ।
(चैतन्याष्टक)

शंख समूंदा बीछुड़ा, लोग कहैं बाजन्त ।
अपने प्रीतम कारने, घर घर ढाह दियन्त ।।

जो मोहि राम लागते मीठे ।
तो नवरस खट्रस रस अनरस, ह्वै जाते सब सीठे ।।
(वि०प०)

विषयों की भी कुछ डंक मारने की शक्ति है, दुःख देने की प्रकृति है, क्षणभंगुरता की नियति (भाग्य) है । प्रायः अनुभव करके ही उनकी तीक्ष्णता का पता लगता है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नानुभूय न जानाति, पुमान् विषयतीक्ष्णताम् ।

अनुमान कीजिये कि कोटानुकोटि विषयों की तीक्षणता का अनुभव करने में कितना दुःख झेलना पड़ेगा और कितना समय लगेगा, फिर पूर्व अनुभवों की विस्मृति से पुनः प्रवृत्ति होगी ।

दुःख शोक, क्रोध आदि विकार गरमी पैदा करने वाले हैं, इसलिए भी ताप मान्य हुए । इस प्रकार जीव कोटि तपन से सन्तप्त है, उस ताप के प्रति सचेत हो या न हो । ज्यों ज्यों जीव भगवान् के निकट पहुँचता हैं, संसार भयावह लगता है ।

जिन रघुबीर चरन अनुरागे । तिन सब भोग रोग सब त्यागे ।।
(वि०प०)

ज्यों ज्यों मोह प्रमाद कम होता है, ससार की तपन का अनुभव होता है । यह 'कोटि तपन' कैसे दूर हो ।

अत्यन्त मोहवश प्राणी को यह संसार अति रमणीक लगता है, फिर यह अत्यन्त दुःखद लगता है, अन्त में ज्ञान प्राप्त होने पर स्वप्नवत् मिथ्या लगता है, उसकी सुख दुःख देने की शक्ति नहीं रहती । जागे हुए व्यक्ति की स्वप्न के पदार्थों में न सत्यबुद्धि रहती है न आसक्ति रहती है । भगवत्प्राप्ति से ही मोह का नाश होता है, अन्यथा नहीं । (छन्द २) । मोह को हटाने में और भगवत्प्राप्ति द्वारा उसके समूल नाश में सन्तों की वाणी काम करती है ।

पूर्व दोहे में कह आये हैं कि सन्त वाणी अनुभव सुख पैदा करती है और भव भ्रम को मानों उठाकर एक ओर रख देती है (सहज ही, सहसा ही) भ्रम की निवृत्ति कर देती है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

न हि ह्यात्मारामो विषय मृग तृष्णां भ्रमयति ।

आत्मा में रमण करने वाला ज्ञानी विषय की मृग तृष्णा से भ्रमित नहीं होता ।

बसै जो शशि उछंग, सुधा स्वादित कुरंग ।
ताहि क्यों भ्रम निरखि रवि कर नीर ।। (वि०प०)

जो मृग चन्द्रमा की गोद में बैठा है, और अमृत पान कर रहा हैं, उसे मृग तृष्णा के जल को देखकर क्यों भ्रम होगा ?

जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे यथा सपन भ्रम जाई ।
(रा०च०मा०)

तेजो वारि मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोमृषा ।
(श्रीमद्भागवत १.१.१)

मोह की सहायता से ही माया सत्यवत भासती है, यही त्रिगुणात्मिका माया ताप का कारण है, मोह की निवृत्ति से तत्वानुभूति होती है, भ्रम निवृत्त होता है, रवि कुल रवि राम के प्रताप से तम नष्ट हो जाता है, राम के प्रताप से ताप निवृत्त हो जाता है, शान्ति मिलती है । ताप का निवृत्त हो जाना ही शीतलता है । सन्तवाणी भगवदनुभव कराती है त्रयताप शामक है, इसलिए शीतल है । पूर्व दोहे के सन्दर्भ में यहाँ आवाहन है कि हम लोग सन्त वाणी का सेवन करके भगवदनुभव प्राप्त करें, भवभ्रम निरसन करें, त्रयताप मुक्त हों, परम कल्याण के भाजन बनें ।

सन्त वाणी कितनी शीतल है, इस पर कहा है कि चन्द्र से भी अधिक शीतल है । चन्द्रप्रभा का ताप नाशक प्रभाव प्रसिद्ध है–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सरदातप निसि ससि अपहरई। सन्त दरस जिमि पातक टरई ।।
(रा०च०मा०)

नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुवीर।
स्रवन पुटनि मन पान करि, नहिं अघात मति धीर ।।
(रा०च०मा०)

श्री योग वासिष्ठ के अनुसार ज्ञानियों में अन्तःकरण में चन्द्रमा की सी शीतलता उदित होती है—'अन्तः शीतलता चेन्दोः।' सन्त सभी मनोविकारों (काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि) के ताप से मुक्त, शान्त और शीतल रहते हैं, यही शीतलता उनकी वाणी में प्रकट होती है और सुपात्र के अन्तःकरण में भी वैसी ही शीतलता पैदा करती है। श्रोता का अन्तःकरण भी शुद्ध, शान्त और शीतल हो जाता है।

सन्त वाणी चन्द्र से भी अधिक शीतल है यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। शशि का महत्व यही है कि उसकी चाँदनी आतपतप्त शरीर के ताप को दूर कर देती है, उसको आराम पहुँचाती है, चाँदनी का प्रभाव थोड़ी देर के लिए होता है, सदा के लिए ताप निवृत्त नहीं होता। दूसरे दिन पुनः शरीर तापतप्त होगा, तब फिर रात को चाँदनी का सेवन करके ताप को शान्त करेगा। नित्य चाँदनी मिलेगी भी नहीं, न वह एक सी रहेगी। चन्द्र कलाओं के परिवर्तन के साथ घटेगी या मिटेगी। परन्तु सन्त वाणी से जब 'कोटि तपन' हरण होगा, तब श्रवण के दूसरे दिन पुनः ताप का उदय नहीं होगा। चन्द्रमा में अल्पकालिक विश्रान्ति है, सन्त वाणी में चिर विश्रान्ति है। इसलिए सन्त वाणी शशि से भी अधिक शीतल मानी गयी है।

पुनः शशि केवल दैहिक ताप का हरण करता है, मानसिक ताप का हरण नहीं कर सकता। विरही जनों के मानसिक ताप को बढ़ाने का भी कारण बनता है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विष संयुत कर निकर पसारी। जारत विरह वन्त नर नारी।।

(रा०च०मा०)

श्री बरवै रामायण में एक भ्रम अलंकार है, श्री जानकी जी अशोक वाटिका में विरह व्यथिता हैं, उन्हें चाँदनी घाम की तरह लगती है। त्रिजटा उन्हें समझाती हैं—

डहकु न है उजियरिया, निसि नहिं घाम।

(डरिये नहीं यह चन्द्रिका है, रात का समय है, रात को घाम नहीं होता।)

इस पर श्री जानकी जी कहती हैं कि—

जगत जरत अस लाग, मोहि बिनु राम।

सन्त वाणी दैहिक और मानसिक सभी तापों को दूर करने में समर्थ हैं, इसलिए अधिक शीतल मान्य हैं। श्री गंगा जी पापहारी हैं और शशि ताप हारी है। सन्त वाणी पाप व ताप दोनों का हरण करती है।

जीव का पहला विवेक-सोपान है कि वह अपनी दीन हीन दशा को, मोह को, भव-वन्धन को, भवभ्रम की विकरालता को जाने समझे, तब उसे भयंकर त्रयताप की अनुभूति होगी—

ऐसेइ जनम समूह सिराने।
प्रान नाथ रघुनाथ से प्रभु तजि, सेवत चरन बिराने।

(वि०प०)

नाचत ही निसि दिवस मर्यो।

(वि०प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जब तक जीव इस जगत् को सुख रूप मानकर इसमें रममाण है, अपनी परितप्त दशा में भी उसने सुखी होने का अध्यास (आरोप) कर रक्खा है, तब तक उसे त्रयताप की अनुभूति नहीं और वह सरसाम के रोगी की तरह कल्पित सुख या दु:ख की दशा में हैं–

तहँ मगन मज्जसि पान करि, त्रय काल जल नाहीं जहाँ ।
(वि०प०)

इसलिए हमारे अन्त: के रोग दोष से हमें सन्त वाणी की शीतलता का यथावत् अनुभव नहीं होता । अन्यथा यह स्पष्ट हो जाता कि सकल भवभयहारी, मोहान्ध विदारक, त्रयताप निवारक सन्त वाणी की शीतलता को चन्द्रमा नहीं पा सकता ।

जों कोई भी शीतल सन्त वाणी को कानों में धारण करे, उसकी 'कोटि तपन' हरण हो जायगी । 'धारै कान' से क्या मतलब है ? वाणी को तो सभी कान से ही सुनते हैं, सर्पों के कान नहीं होते परन्तु संस्कृत में उनका एक नाम 'चाक्षुश्रव:' है उनकी आँख के पास एक छेद होता है जो कान का काम देता है । कुछ विशेषज्ञों की सम्मति में सर्प सुन ही नहीं सकते । कुछ भी हो श्रवणेन्द्रिय कर्ण है, सभी कान से ही सुनते हैं, अत: सुनने वाले वाणी को कान से ही ग्रहण करेंगे, फिर 'जो कोउ धारै कान ।' क्यों कहा गया ? इसके भावार्थ ग्रहण का प्रयास करना चाहिए ।

जहाँ कहीं कोई प्रवचन या उपदेश होता है, शब्दों की तरंगें कानों में पहुँचती हैं । शब्द-स्पंदन तो पशु-पक्षियों के कानों में भी पहुँचते हैं, परन्तु वे मनुष्यों की तरह प्रभावित नहीं होते क्योंकि स्पन्दन ही ग्रहण कर पाते हैं, भावार्थ ग्रहण में असमर्थ हैं । प्रयुक्त भाषा के विज्ञ न होने से वे भाव ग्रहण नहीं कर सकते । इसलिए नहीं माना जाता कि उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वाणी को कानों में धारण कर लिया। उन्होंने वाणी को ग्रहण ही नहीं किया, नाद-स्पन्दन मात्र प्राप्त किया।

मृग के विषय में कल्पना है वह संगीत का प्रेमी है, परन्तु वह भी नाद, स्वर-लहरी, राग से आकर्षित होता है। सपेरे जब बीन बजाते हैं तो सर्प उसके नाद से प्रभावित प्रतीत होता है, परन्तु वाद्य संगीत में वाणी तो होती नहीं। इसलिए वहाँ राग का प्रभाव मान' जा मकता है वाणी का नहीं। वाणी को कान में धारण करने के लिए श्रवण शक्ति पर्याप्त नहीं है, भाषा ज्ञान भी आवश्यक है। श्री जयदेव जी के गीत गोविन्द 'मधुर कोमल कान्त पदावली' का पद किसी मूर्धन्य संगीतकार द्वारा गाया जाय तो वे लोग भी मुग्ध हो सकते हैं, जो संस्कृत बिल्कुल नहीं जानते और पद का अर्थ नहीं समझते, वे अलंकार योजना, कोमल स्वर, संगीत लहरी तथा मुख पर प्रतिबिम्बित भावों आदि से मुग्ध हो सकते हैं। वे भी वाणी के ग्रहण और धारण करने वाले नहीं माने जायेंगे। किसी अपरिचित भाषा में कुछ कहा जाय तो हम शब्द-स्पन्दन राग, शब्दालंकार, आदि से भले ही प्रभावित हों, वाणी का ग्रहण और धारण नहीं कर सकते।

अब उन लोगों को लें जो सुन भी सकते हैं, भाषा ज्ञान भी रखते हैं, अर्थ समझ सकते हैं, भावग्रहण में समर्थ हैं, ऐसे लोगों के लिए भी कभी कभी कहा जाता है कि—कान से सुना नहीं, कान नहीं दिया, कितनी बार कहा, पर सुनते ही नहीं। जैसे—

सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी।

श्री रामचन्द्र जी ने बालि से कहा—

मूढ़ तोहि अतिशय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥
(रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'करैसि न काना'—शब्दार्थ में कान से सुना नहीं, भाषा के अलंकारिक प्रयोग के अनुसार भावार्थ हुआ, सुना परन्तु ध्यान नहीं दिया, माना नहीं, उस पर अमल नहीं किया।

'जो कोउ धारै कान' का भी इसी तरह भावार्थ ग्रहण करना चाहिए।

जो सन्त वाणी को सुने, उस पर ध्यान दे, उपदेश की बात को सही समझे, उस पर आचरण करने पर कटिबद्ध हो उसी को समझना चाहिए कि उसने वाणी को कानों में धारण किया।

एक उदाहरण लीजिए—एक डाक्टर अपने दरवाजे पर बैठा है, कुछ मित्र भी बैठे हैं। एक रोगी आया। डाक्टर ने उसे देखा, उससे आवश्यक बातचीत की और दवा लिख दी या बता दी, या दे दी और सेवन विधि बता दी। रोगी ने डाक्टर के निर्देशानुसार कार्य किया और अच्छा हो गया। डाक्टर के जो मित्र वहाँ उस समय बैठे थे उन्हें दवा नुस्खे, उपचार आदि से क्या मतलब ? शब्द उन्होंने भी सुने, ध्यान नहीं दिया, उनके लिए वे शब्द थे नहीं। उन्होंने डाक्टर की तत्सम्बन्धी वाणी को कानों में धारण नहीं किया।

यदि किसी बड़े डाक्टर का व्याख्यान रख दिया जाय और किसी रोग विशेष पर सार्वजनिक भाषण हो जाय, तो श्रोतागण भाषण का आनन्द लेने के लिए या कुछ सूचना पाने के लिए एकत्र होंगे। इन्हीं श्रोताओं में कोई उस रोग का रोगी हो और उसी डाक्टर के पास तपचार के लिए पहुँचे तो वह न विद्वत्ता का आनन्द लेने जायगा, न सूचना पाने, वह डाक्टर के निदेशानुसार उपचार करने ही जायगा, जो कुछ डाक्टर साहब कहेंगे उसे सुनेगा, ध्यान देगा और मानेगा। 'धारै कान' का ऐसा ही अर्थ है। श्री श्री रामकृष्ण परमहंस जी का उपदेश

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है कि जैसे सिप्पी स्वाति की एक बूंद धारण करके चुपचाप उसे मोती बना देती है, उसी प्रकार सत् शिष्य गुरु उपदेश को श्रवण करके साधन निष्ठ होकर अपूर्व परिणाम प्राप्त करता है।

सन्त वाणी के श्रवण हेतु जो लोग विद्या, रोचकता, नाद, स्वर, संगीत आदि का प्रयोजन लेकर जाते हैं, वे उन्हीं वस्तुओं को पाते हैं, जहाँ तक सम्भव हो। परन्तु वे महाभाग और ही हैं, जो अपने भवरोग के उपचार हेतु सन्त की शरण में गए हैं, वे प्रवचन सुनने वाले श्रोता नहीं हैं, वे उपचार हेतु आए हुए रोगी की तरह हैं जिन्हें डाक्टर पर पूर्ण श्रद्धा है और उसकी विधि के अनुसार उपचार कराने के ही लिए आए हैं। ऐसे ही पुण्यात्मा 'जो कोउ धारै कान' की शर्त को पूरा करते हैं और इसलिए सन्त वाणी उनकी कोटि तपन हरण करती है। उन्हें परम शान्ति की प्राप्ति होती है।

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढन गई, रही किनारे बैठ॥

(कबीर)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाप ताप सब सूल नसावै ।
मोह अन्ध रवि बचन बहावै ।।
तुलसी ऐसे सद्गुरु साधू ।
वेद मध्य गुन विदित अगाधू ।। २२ ।।

सन्त जन सभी पाप, ताप व दुःखों को नष्ट करते हैं। सूर्य रूप सन्त वचन रूपी किरणों से मोहान्धकार को दूर करते हैं, ऐसे सद्गुरु रूप सन्तों के अगाध गुण वेद विदित हैं।

'कोटि तपन हरै' के द्वारा सन्त वाणी का ताप नाशक प्रभाव पूर्व दोहे में दर्शा चुके। अब आगे बढ़कर सन्त वाणी को पाप, ताप तथा सभी शूल का नाशक बताते हैं। ताप विनाश पर तो विचार हो चुका है, अब पाप नाश तथा शूल विचार पर नाश करना है।

सन्तों के संग से पापराशि का विचार सुविदित है।

जेहि दरस परस समागमादिक पापराशि नसाइये।

(वि०प०)

सन्त दरस निमि पातक टरई। (रा०च०मा०) इसी ग्रन्थ में आगे कहा है–मुख देखत पातक हरै (छन्द २४)। दर्शन मात्र से पाप नाश होता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाप नाश का तीन प्रकार का स्वरूप है—किये हुए पाप का फल न भुगतना पड़े, वह क्षमा हो जाय या रुक जाय तो परिणामत: पापनाश माना जाता हैं। किसी विद्यार्थी के अनुपस्थित रहने का या काम करके न लाने का दण्ड न दिया जाय माफ कर दिया जाय यह भी एक प्रकार से पापनाश, 'अघमर्षण' माना जाता है, परन्तु आर्थिक या शारीरिक दण्ड न मिले तो भी पढ़ाई का नुकसान होता ही है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि बरती हुई लापरवाही का कुछ भी परिणाम नहीं आया, न आ सकता है। दण्ड न मिलने से पाप का मर्षण भले ही हो जाय, क्योंकि क्षमा किया हुआ पाप फिर दण्डनीय नहीं रह जाता, जैसे सज़ा भुगत चुकने पर उसी पाप (अपराध) की पुन: सजा नहीं दी जा सकती। परन्तु अन्य प्रासंगिक परिणाम नहीं मिटते। जैसे किसी डाक्टर ने किसी रोगी को पान खाने से मना किया, अगले दिन जब वह फिर दवा लेने पहुँचा तो पान खाए हुए था। डाक्टर ने उसे भगा दिया, दवा नहीं दी। यदि डाक्टर ऐसा न करता तो अवज्ञा का दण्ड न मिलता, परन्तु बद-परेहजी का प्रभाव तो होता ही। ऐसे दुष्परिणामों से बचने के उदाहरण बहुत से मिलते हैं, जहाँ सन्त कृपा से पापी आसन्न दु:ख रूप परिणाम से बच गया। साधारण जन मानस में यह पाप नाशवत् ही प्रतीत होता है।

यदि आप किसी डाक्टर से कहें कि आप रोग-नाश करके रोगियों को पाप के परिणामों से बचा रहे हैं तो वह क्या कहेगा ? उसे यह नहीं मालूम है कि रोगी के प्रारब्ध में कितनी अवधि का कितना कष्ट लिखा है। उसका इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह प्राप्त परिस्थिति में अपना कर्तव्य पालन कर रहा है, कर्त्तव्य न करना या उसमें ढील देना उसका पाप होगा। इसी तरह सन्त करुणावश किसी का दु:ख दूर कर देते हैं तो वे भी अपना सन्तोचित कर्त्तव्य ही पालन करते हैं, कर्म-विपाक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को न प्रवर्तित करते हैं, न खण्डित करते हैं। दुष्परिणाम से बचना यह एक स्तर पर, एक दृष्टि से पाप नाश है।

भगवन्नाम से पाप नाश होना शास्त्रों में सुविदित है, भगवन्नाम का और सन्त का अभिन्न सम्बन्ध है। श्री नारद जी ने तो श्री रामचन्द्र जी से वरदान ही माँगा था—

राम सकल नामन ते अधिका। होहु नाथ अघ खग गन बधिका॥
(रा०च०मा०)

आसन्न परिणाम से बच जाने पर, हर मामले में यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य कोई परिणाम भविष्य में न होगा। कोई कोई हत्यारे न्यायालय से बरी हो गए परन्तु बहुत बाद में विरोधियों द्वारा मार डाले गये।

कर्म-विपाक की जटिलताओं के विस्तार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

एक विशेष बात यहाँ विचारणीय है, दण्ड या प्रायश्चित से किये पाप का तो शमन हो जाता है, परन्तु पाप के संस्कार का शमन नहीं होता। उसी संस्कार वश वह फिर वही पाप कर सकता है। अतः एक प्रकार से यह कहा जाता है कि पाप का पेड़ कट जाता है, परन्तु जड़ से नहीं जाता। तो फिर इस दृष्टि से पाप नाश सम्यक या पूर्ण या पर्याप्त नहीं। यदि किसी रोगी को दवा से लाभ हो परन्तु रोग का आक्रमण कुछ कुछ समय बाद फिर होता रहे और बार बार दवा करनी पड़े तो लोग यह नहीं मानते हैं कि रोगी बिल्कुल अच्छा हो गया। इसी प्रकार जब तक किसी पाप के करने की प्रवृत्ति का और उसके दुष्परिणाम भुगतने की आशंका का नाश न हो जाय, पापनाश भी शास्त्रवित् विवेकी सन्तों और दार्शनिकों की दृष्टि में पूरा नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्रीमद्भागवत में श्री शुकदेव जी ने कहा है—

कर्मणा कर्म निर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते । अविद्वदधिकारित्वात्
प्रायश्चित्त विमर्शनम् ।।
(६.१.११)

(प्रायश्चित्त) कर्म से ही (पाप) कर्म की आत्यन्तिक (पूर्ण) निवृत्ति नहीं होती । प्रायश्चित कर्म का विधान अज्ञानी जीवों के लिए है, असली प्रायश्चित्त तत्व विचार है ।

नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभि भवन्ति हि ।
एवं नियमकद्राजनञ्छनैः क्षेमाय कल्पते ।।
(६.१.१२)

यदि केवल पथ्य आहार का ही सेवन किया जाय तो बीमारियां नहीं होतीं । इसी प्रकार हे राजन्, एकदम नियमानुकूल जीवन व्यतीत करने से धीरे धीरे मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

श्री शुकदेव जी ने आगे बताया है कि तप ब्रह्मचर्य, शम, दम, त्याग, सत्य, शौच, यम-नियम आदि के द्वारा धीर, धर्मज्ञ और श्रद्धालु पुरुष देह, वाणी और बुद्धि से किए हुए महान् पापों को भी समाप्त कर देते हैं जैसे आग बाँसों की झाड़ी को जला देती है (६,१,१३/१४) ।

कोई-कोई भगवान् के भक्तगण केवल बोध के ही प्रताप से पापों को समाप्त कर देते हैं जैसे सूर्य कोहरे को दूर कर देता है ।

हे राजन कोई पानी तपस्यादि से वैसा पवित्र नहीं होता जैसा भगवान् के चरणों में प्राण, प्रण से समर्पित होकर भगवान् के प्रिय सन्तों की सेवा से पवित्र होता है । (६/९/१६)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो पुरुष भगवान् से विमुख हैं उसे प्रायश्चित पवित्र नहीं कर सकते जैसे शराब का घड़ा नदी में डुबो देने पर भी पवित्र नहीं होता (६/१/१८)। परन्तु एक बार भी श्री भगवान् के गुणों से आकृष्ट होकर जो भगवान् के चरण कमलों में अपना मन लगा लेते हैं उनके पापों का पूर्ण प्रायश्चित हो जाता है और वे स्वप्न में भी यमराज या यमपाश लिए हुए उनके दूतों का दर्शन नहीं करते। (६/१/१९)

इन्ही उपदेशों के उदाहरण के रूप में श्री शुकदेव जी ने अजागिल की कथा का वर्णन किया है।

उपर्युक्त उपदेशों से स्पष्ट हो जाता है कि किसी किए हुए पाप का परिणाम नहीं भोगना पड़ेगा यदि उसका प्रायश्चित कर लिया गया है परन्तु इससे वह अशुभ संस्कार नष्ट नहीं होता जिसके कारण वह पाप किया गया था, इसलिए उस संस्कार के वश होकर पुनः पाप करना सम्भव है। अजामिल के प्रसंग में विष्णु दूतों ने कहा है—कि ब्रह्मवादी ऋषियों द्वारा बताए हुए व्रत आदि प्रायश्चितों से पापी उतना पवित्र नहीं होता जैसा कि भगवान् के गुणों के वाचक भगवन्नामों के उच्चारण से होता है (६/२/११

यदि प्रायश्चित कर लेने के बाद भी मन पुनः अशुभ मार्ग पर दौड़ता है तो वह प्रायश्चित पूर्ण नहीं कहा जा सकता इसलिए जो लोग पाप कर्म को नितान्त समाप्त करना चाहते हैं उनके लिए उत्तम भावना से भगवान् का गुणानुवाद गायन ही श्रेष्ठ है (६/२/१२)।

महर्षियों ने छोटे और बड़े पापों के लिए उन्हीं के अनुरूप प्रायश्चितों का निश्चय करके कहा है (६/२/१६)।

इन प्रायश्चितों से, तप, दान, जप आदि से, सम्बन्धित पाप ही दूर होते हैं परन्तु हृदय का धर्म विरोधी संस्कार दूर नहीं होता। यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अशुभ संस्कार भी भगवान् के चरण कमलों की भक्ति सेवा से दूर हो जाता है।

इस प्रकार शास्त्र का सुनिश्चित सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है कि विधान के अनुसार प्रायश्चित कर लेने से (या पाप का दण्ड भोग लेने से) उस पाप के परिणाम को भुगतना पड़े इसकी आशंका तो नहीं रहती परन्तु यदि पाप की निवृत्ति का यह अर्थ लगाया जाय कि मन से वह पाप निकल जाय, फिर उस पाप की प्रवृत्ति न रह जाय तो इस प्रकार की पाप निवृत्ति प्रायश्चितों के आचरण से नहीं हो सकती। परन्तु यदि अन्त करण में भगवान् की भक्ति की सरिता बहने लगे तो अशुभ संस्कारों और वासनाओं का सारा कूड़ा करकट बह जाता है और अन्तःकरण निष्पाप और पवित्र हो जाता है। श्री विभीषण जी ने भगवान् की शरण ग्रहण करने के बाद घोषित किया था –

उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो वही॥

सन्त जन अपनी वाणी से भगवद्गुणानुवाद का ही कथन करते हैं, प्रपच वार्ता नहीं करते।

सत्युत्तमश्लोक गुणानुवादे, जुभुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः।
(श्रीमद्भागवत ४.१५.२३)

इसी प्रकार—

तम् सत्यमानन्द निधिम् भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः।
(श्रीमद्भागवत २/१/३९)

जब सन्तों की वाणी भगवान् के गुणानुवाद और माहात्म्य से संम्पृक्त (सराबोर) रहती है तो उस वाणी के प्रताप से सुनने वाले श्रद्धालु भक्तों का मन निष्पाप हो जाता है यानी उनके पाप पूरी तरह निवृत्त हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो पुरुष भगवान् से विमुख हैं उसे प्रायश्चित पवित्र नहीं कर सकते जैसे शराब का घड़ा नदी में डुबो देने पर भी पवित्र नहीं होता (६/१/१८)। परन्तु एक बार भी श्री भगवान् के गुणों से आकृष्ट होकर जो भगवान् के चरण कमलों में अपना मन लगा लेते हैं उनके पापों का पूर्ण प्रायश्चित हो जाता है और वे स्वप्न में भी यमराज या यमपाश लिए हुए उनके दूतों का दर्शन नहीं करते। (६/१/१९)

इन्ही उपदेशों के उदाहरण के रूप में श्री शुकदेव जी ने अजागिल की कथा का वर्णन किया है।

उपर्युक्त उपदेशों से स्पष्ट हो जाता है कि किसी किए हुए पाप का परिणाम नहीं भोगना पड़ेगा यदि उसका प्रायश्चित कर लिया गया है परन्तु इससे वह अशुभ संस्कार नष्ट नहीं होता जिसके कारण वह पाप किया गया था, इसलिए उस संस्कार के वश होकर पुनः पाप करना सम्भव है। अजामिल के प्रसंग में विष्णु दूतों ने कहा है—कि ब्रह्मवादी ऋषियों द्वारा बताए हुए व्रत आदि प्रायश्चितों से पापी उतना पवित्र नहीं होता जैसा कि भगवान् के गुणों के वाचक भगवन्नामों के उच्चारण से होता है (६/२/११

यदि प्रायश्चित कर लेने के बाद भी मन पुनः अशुभ मार्ग पर दौड़ता है तो वह प्रायश्चित पूर्ण नहीं कहा जा सकता इसलिए जो लोग पाप कर्म को नितान्त समाप्त करना चाहते हैं उनके लिए उत्तम भावना से भगवान् का गुणानुवाद गायन ही श्रेष्ठ है (६/२/१२)।

महर्षियों ने छोटे और बड़े पापों के लिए उन्हीं के अनुरूप प्रायश्चितों का निश्चय करके कहा है (६/२/१६)।

इन प्रायश्चितों से, तप, दान, जप आदि से, सम्बन्धित पाप ही दूर होते हैं परन्तु हृदय का धर्म विरोधी संस्कार दूर नहीं होता। यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अशुभ संस्कार भी भगवान् के चरण कमलों की भक्ति सेवा से दूर हो जाता है।

इस प्रकार शास्त्र का सुनिश्चित सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है कि विधान के अनुसार प्रायश्चित कर लेने से (या पाप का दण्ड भोग लेने से) उस पाप के परिणाम को भुगतना पड़े इसकी आशंका तो नहीं रहती परन्तु यदि पाप की निवृत्ति का यह अर्थ लगाया जाय कि मन से वह पाप निकल जाय, फिर उस पाप की प्रवृत्ति न रह जाय तो इस प्रकार की पाप निवृत्ति प्रायश्चितों के आचरण से नहीं हो सकती। परन्तु यदि अन्त करण में भगवान् की भक्ति की सरिता बहने लगे तो अशुभ संस्कारों और वासनाओं का सारा कूड़ा करकट बह जाता है और अन्तःकरण निष्पाप और पवित्र हो जाता है। श्री विभीषण जी ने भगवान् की शरण ग्रहण करने के बाद घोषित किया था —

उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

सन्त जन अपनी वाणी से भगवद्गुणानुवाद का ही कथन करते हैं, प्रपंच वार्ता नहीं करते।

सत्युत्तमश्लोक गुणानुवादे, जुभुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः।
(श्रीमद्भागवत ४.१५.२३)

इसी प्रकार—

तम् सत्यमानन्द निधिम् भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः।
(श्रीमद्भागवत २/१/३९)

जब सन्तों की वाणी भगवान् के गुणानुवाद और माहात्म्य से संम्पृक्त (सराबोर) रहती है तो उस वाणी के प्रताप से सुनने वाले श्रद्धालु भक्तों का मन निष्पाप हो जाता है यानी उनके पाप पूरी तरह निवृत्त हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह समझना ठीक न होगा कि प्रायश्चित करने वालों का सम्बन्धित पाप क्षीण हो जाएगा परन्तु पाप का संस्कार शेष रह जायगा, उसी तरह भगवद् भक्ति के द्वारा पाप का संस्कार नष्ट हो जायगा परन्तु किए हुए पाप का फल भोगना पड़ेगा। शास्त्र का सिद्धान्त यही है कि भगवद् भक्ति से दोनों तरह का परिणाम आएगा। कृत पाप का प्रायश्चित हो जायगा, उसका परिणाम नहीं भुगतना पड़ेगा और पाप का संस्कार भी अन्तःकरण से समाप्त हो जाएगा जिससे उस पाप के जड़ से मिट जाने का प्रमाण मिलेगा। इसीलिए योगी या ज्ञानी के लिए प्रत्यक्ष प्रायश्चित का विधान न करके ऋषियों ने तत्व विचार और अस्मिता त्याग का ही विधान किया है।

सिद्धान्त विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि भौतिक जगत् में कर्म का जो परिपाक होता है वह अन्तःकरण के संस्कार और जागतिक परिस्थिति की क्रिया और प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। हमारे संस्कार अन्तःकरण में छिपे हुए जन्मान्तरों और अन्य लोकों तक जाते हैं और वहाँ उन संस्कारों के ही विकास से कार्य के फल का परिपाक होता है। यदि अन्तःकरण एकदम निर्मल हो जाय और उसमें पाप के संस्कार कुछ भी न रह जायँ तो भविष्य में मरने के बाद कर्म विपाक की सम्भावना नहीं रह जाएगी। यही कर्म बन्धन का क्षीण होना है। हमारे जो कर्म इस जन्म का प्रारब्ध बनकर फल दे रहे हैं उनके विपाक की स्थिति क्रियमाण कर्मों से अत्यन्त भिन्न है। तथापि यह कहना होगा कि प्रारब्धानुसार जो फल हमें प्राप्त होता है उसमें भी हमारे अन्तःकरण के वर्तमान संस्कारों का हाथ रहता है और इसीलिए किसी के प्रारब्ध में जो अनिष्ट होने वाला है उसे बचाने के लिए यदि कोई उसके संस्कार और व्यवहार को बदलना चाहता है तो प्रायः उसे सफलता नहीं मिलती। तथापि प्रारब्ध एकदम अनिवार्य और अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता —

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भावि हु मेटि सकहिं त्रिपुरारी।

(रा०च०मा०)

तथा—

मन्त्र महामणि विषय व्याल के। मेटहिं कठिन कुअंक भाल के।

यह समझ लेना अत्यन्त हितकारी है कि जिन लोगों को सन्तों की वाणी पर अत्यन्त श्रद्धा होती है उनके जीवन में यह सम्भव है कि उनके अन्तःकरण का कोई प्रबल संस्कार भी बदल जाय और इसलिए प्रारब्ध का अब अनभीष्ट दिशा में परिपाक रुक जाए या अनअभीष्ट परिणाम से बच जाने का कोई प्रसंग सहज ही बन जाय। इस प्रकार सन्त के संग से सब प्रकार के पाप दूर हो सकते हैं—

अघ की रहहिं हरि चरित बखाने।

भगवद् गुणानुवाद का श्रवण भी तमाम अनिष्टों से बचाने वाला है।

अशेष संक्लेष शमम् विधत्ते, गुणानुवाद श्रवण मुरारेः।

(श्रीमद्भा०)

श्री भगवान् का गुणानुवाद श्रवण करना समस्त क्लेशों का शमन करने वाला है। इस प्रकार सन्त का संग और सन्त का वचन समस्त पापों और तापों को दूर करने वाला है। समस्त शूल भी उससे दूर हो जाते हैं, यह चौपाई मे कहा हैं।

शूल अर्थात् दुःख या दर्द। सब प्रकार के दुखों या दर्दों को सन्त हरण कर लेते हैं यह कथन 'कोटि तपन हरैं' (छन्द २१) के सदृश अर्थ रखता है, परन्तु एकदम समानार्थी नहीं है। शूल का सम्बन्ध दर्द से हैं परन्तु यहाँ 'शूल' शब्द दैहिक दर्दों तक सीमित नहीं माना जा सकता। तीव्र मानसिक कष्ट भी शूल के अन्तर्गत आ जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में कमजोरी भी जाती रही। (दृष्ट्व्य एक योगी की आत्म कथा (अंग्रेजी में)।

आदि शंकराचार्य जी ने श्री मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था और सुरेश्वराचार्य के नाम से अपना सन्यासी शिष्य बना लिया था। एक बार श्री सुरेश्वराचार्य को उन्हीं के एक मीमांसक सम्बन्धी ने विष दे दिया। वे मरे तो नहीं परन्तु मानसिक क्षति पहुँची। कुछ समय बाद वे श्री शंकराचार्य जी के पास पहुँचे। दण्डवत् करते ही और उनके द्वारा सिर पर हाथ फेरे जाते ही, उनकी मानसिक स्थिति और शक्ति पूर्ववत् हो गई।

गोकुल भवन, वसिष्ठ कुण्ड, अयोध्या के परमहंस मंगलदास जी अभी जन० १९८३ में जीवित हैं, आयु ८३ वर्ष से अधिक है। जब वे दुधमुँहे बच्चे थे, उनकी माता उन्हें लेकर मायके गईं। वहाँ गाँव में एक पगली थी। वह इनकी माँ से आकर बोली, अपने लालन को हमें थोड़ी देर खेलाने को दे दो तो हम अच्छी हो जाएँगी। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया, परन्तु इनकी माँ ने यह बात मान ली। पगली इन्हें लेकर छत पर चलीं गई। एक डेढ़ घण्टे बाद आकर कहा—लो अपना लालन, हम अच्छी हो गईं। सचमुच वह ठीक हो गई। (दृष्टव्य जीवनी)।

यहाँ केवल बहुत थोड़े से उदाहरण दिए गए हैं। स्पष्ट है कि प्रपन्न जन के शूलों का समूल नाश सन्तों की दिव्य शक्ति से हुआ ही करता है।

इसके सहस्त्रों दृष्टान्त प्रतिदिन इसलिए नहीं मिलते कि—सन्त विज्ञापन नहीं चाहते, सन्त जान-बूझकर शौक से चमत्कार नही करते, चमत्कार हो जाया करते हैं। भक्तजन जो उच्च सोपानों पर हैं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दैहिक शूलों को सन्त कैसे नष्ट करते हैं। इन शूलों की निवृत्ति का काम डाक्टरों का है। वे भी सारे लोगों को तो जाने दीजिए, अपने समस्त रोगियों के समस्त शूलों को दूर नहीं कर सकते। सन्तों का तो कार्य क्षेत्र भिन्न है, वे सब शूलों का हरण कैसे कर सकते हैं ? वे ऐसा करने लगें तो डाक्टर लोग कहाँ रहेंगे ?

पूर्व के सन्दर्भ में इस चौपाई का वचन है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सन्तों की दिव्य अलौकिक शक्ति हर एक जीव के समस्त दैहिक क्लेशों को मिटाने में डाक्टर की तरह व्यावहारिक जगत् में क्रियमाण है या होगी। परन्तु शरणागत भक्तों के शूल किस प्रकार पूरी तरह निवृत्त हो जाते हैं, इसके दृष्टान्त बहुत से हैं, पौराणिक भी और आधुनिक भी।

बाइबिल में ईसा द्वारा बीमारों को अच्छा करने के बड़े रोचक दृष्टान्त हैं, विशेष ध्यान देने योग्य यह दृष्टान्त है कि एक रोगी जो शय्या पर लोगों के द्वारा उठाकर लाया गया, ईसा के समक्ष आने पर उनसे यह आदेश पा गया कि अपनी चारपाई उठाओ और घर जाओ। उसने वैसा ही किया।

एक सिद्ध सन्त लखनऊ पधारे। उनके प्रमुख शिष्य को समाचार मिला। बहुत बीमार होते हुए भी वे रिक्शे से सन्त के पास किसी तरह पहुँचे। सत्संग में बैठे रहे। उसके बाद वे गुरुजी के साथ सायंकाल टहलने गए। बीमारी लापता हो गई।

प्रसिद्ध सन्त श्री योगानन्द जी (परमहंस) जो अमेरिका में बस गए थे, लड़कपन में बीमार हुए और बचने की आशा न रही। रोगी की शय्या के सामने एक सिद्ध सन्त का चित्र था, उससे एक ज्योति निकल कर उनकी देह में समा गई। वे तुरन्त अच्छे हो गए। कुछ समय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में कमजोरी भी जाती रही। (दृष्ट्व्य एक योगी की आत्म कथा (अंग्रेज़ी में)।

आदि शंकराचार्य जी ने श्री मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था और सुरेश्वराचार्य के नाम से अपना सन्यासी शिष्य बना लिया था। एक बार श्री सुरेश्वराचार्य को उन्हीं के एक मीमांसक सम्बन्धी ने विष दे दिया। वे मरे तो नहीं परन्तु मानसिक क्षति पहुँची। कुछ समय बाद वे श्री शकराचार्य जी के पास पहुँचे। दण्डवत् करते ही और उनके द्वारा सिर पर हाथ फेरे जाते ही, उनकी मानसिक स्थिति और शक्ति पूर्ववत् हो गई।

गोकुल भवन, वसिष्ठ कुण्ड, अयोध्या के परमहंस मंगलदास जी अभी जन० १९८३ में जीवित हैं, आयु ८३ वर्ष से अधिक है। जब वे दुधमुँहे बच्चे थे, उनकी माता उन्हें लेकर मायके गईं। वहाँ गाँव में एक पगली थी। वह इनकी माँ से आकर बोली, अपने लालन को हमें थोड़ी देर खेलाने को दे दो तो हम अच्छी हो जाएँगी। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया, परन्तु इनकी माँ ने यह बात मान ली। पगली इन्हें लेकर छत पर चलीं गई। एक डेढ़ घण्टे बाद आकर कहा—लो अपना लालन, हम अच्छी हो गईं। सचमुच वह ठीक हो गई। (दृष्टव्य जीवनी)।

यहाँ केवल बहुत थोड़े से उदाहरण दिए गए हैं। स्पष्ट है कि प्रपन्न जन के शूलों का समूल नाश सन्तों की दिव्य शक्ति से हुआ ही करता है।

इसके सहस्त्रों दृष्टान्त प्रतिदिन इसलिए नहीं मिलते कि—सन्त विज्ञापन नहीं चाहते, सन्त जान-बूझकर शौक से चमत्कार नही करते, चमत्कार हो जाया करते हैं। भक्तजन जो उच्च सोपानों पर हैं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निष्कामता में स्थित हुए, शूल-शमन के लिए सन्तों की दिव्य शक्ति का आवाहन नहीं करते। सन्त यह नहीं चाहते कि लौकिक अभिलाषाओं से चमत्कारार्थियों की भीड़ हो, क्योंकि वह विघ्नकारी होती है।

इस विषय में अति विस्मय का कारण नहीं है। आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया हैं कि अनेक भयानक रोग सूक्ष्म शरीर, अन्तःकरण या व्यक्तित्व की विकृति से ही होते हैं, उसके बिना नहीं, उस विकृति के न रहने पर वे टिक भी नहीं सकते। सन्त की छाप अन्तःकरण पर पड़ती है और फिर उससे शूल नाश होता है।

महर्षि पतञ्जलि का सूत्र है कि सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योगदर्शन २,३६) सत्य के सिद्ध होने पर वाणी के अनुसार ही परिणाम होता है। अतः सन्त के आशीर्वाद से भी शूल नाश होता है।

मानसिक शूलों का तो अन्तःकरण ही अधिष्ठान है, वे तो अन्तःकरण को प्रभावित करके दूर किये ही जा सकते हैं, परन्तु इस प्रकार प्रभावित करने की शक्ति सन्तों में ही होती है, सबमें नहीं। जैसे श्री रामचन्द्र जी के बारे में लिखा है कि—

तारा विकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्हीं माया।

उसी प्रकार वसिष्ठ जी की महिमा अंकित है—

सोक निवारेउ सबन कर, निज विज्ञान प्रकास।

यद्यपि पाप ताप और शूल नाश का उपर्युक्त अर्थ सही है परन्तु दुःख की अत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञान से ही सम्भव है। अतः दार्शनिक और तात्विक अर्थ यही है कि सन्त वचन ज्ञान प्राप्ति का कारण है और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ज्ञान से मोक्ष होता है—पापों तापों और शूलों की एकान्तिक निवृत्ति होती है ।

चौपाई के दूसरे चरण में कहा गया है कि सन्त वचन मोह रूप अन्धकार को सूर्य के प्रचण्ड तेज की तरह नष्ट कर देते हैं ।

मोहरूपी अंधकार है, उसी में भ्रम सम्भव है । मोह रूपी रात्रि में जगत् रूप स्वप्न दिखाई देता है । प्रचण्ड सूर्य प्रकाश में रज्जु में भासने वाला सर्प नहीं ठहर सकता, सत्य का ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार ज्ञान रूपी प्रकाश से मोह रूप भ्रम की निवृत्ति होती है । श्री शंकर जी ने पार्वती जी से कहा है—

'भ्रम तम रविकर वचन मम ।'

(रा०च०मा०)

भ्रम रूप अन्धकार की निवृत्ति के लिए सूर्य की किरणों के समान मेरे वचन हैं ।

श्री उद्धव जी ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान् (श्रीकृष्ण) से ज्ञानोपदेश पाकर स्तुति की और कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—विद्रावितो मोह महान्धकारो (११.२६.३७) । इस वचन का वही अर्थ है जो 'मोह अन्ध रवि वचन बहावै' का है । श्री उद्धव जी ने यह भी कहा—प्रत्यर्पितो मे भवतानु कम्पिना भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः । (११ २९ ३८)

भगवान् का स्वरूप सूर्य के समान ज्योतिर्मय है । सूर्यमण्डल में अन्धकार की कल्पना ही नहीं हो सकती—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ।
सहज प्रकाश रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि विज्ञान विहाना ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जहाँ रात्रि है, वहीं उसके बीतने पर सवेरा होता है, 'सहज प्रकाश रूप' सूर्य मण्डल में सवेरे की भी कल्पना नहीं हो सकती।

सन्त वचन ज्ञानाधिकारी के हृदय में भगवान् का अनुभव करा देते हैं, इससे मोह निशा ठहर नहीं सकती, भवभ्रम अलग हो जाता है, भगवान् के ज्ञान से ही मोक्ष हो जाता है, यही सन्त वचन का विशेष गौरव है। यह महिमा अधिकारी के अन्तःकरण में ही प्रगट होती है।

तुम कृपालु सब संशय हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ।।

भगवान् का स्वरूप जान जाने पर भजन के सिवा कुछ अच्छा नहीं लगता—

उमा राम स्वभाव जिन जाना। तिनहिं भजन तजि भाव न आना।

सन्त के सपन्न भक्त सन्त रूप ही हो जाते हैं, उन्हें विषयों में कोई सरसता जान नहीं पड़ती, केवल भगवान् की ही ओर वे सचेत और सावधान रहते हैं।

इसी तत्व को श्री गीता जी में कहा है कि जो सारे संसार के जीवों के लिए रात्रि है (समाधि-चेतना) उसमें संयमी जागता है, जिसमें सब जीव जागते हैं वह सम्यक् दर्शी ज्ञानी के लिए रात्रि है। (गीता २.६९)

सन्त सहज स्वभाव खगराया। पर उपकार वचन मन काया।।

सहज उपकारी होने से सन्त अनन्त प्रकार से परोपकार करते हैं। उसकी कोई थाह नहीं, गणना नहीं, सीमा नहीं। सन्तों की महिमा अनन्त है। उनके पुण्य भी अनन्त हैं। परन्तु उनका सबसे महान् पुण्य यही है कि वे जीव को भव-बन्धन से छुड़ा देते हैं, भव रोग नष्ट करते है, ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व मोक्ष प्रदान कर देते हैं, मृत्यु से भी अभय कर देते हैं। वे जब भव-सागर से पार करने के लिए केवट बनते हैं—गुरु कर्णधारं (श्रीमद्भागवत ११.२०.१७) 'कर्णधार सद्गुरु' (रा०च०मा०) तब वे सद्गुरु वाले काम करते हैं। इसलिए अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले, ज्ञान प्रदान करने वाले सन्त सद्गुरु हैं। 'गुरु' शब्द में भी अन्धकार निवारण का अर्थ छिपा है। सन्त सूर्य हैं, उनके वचन किरणें हैं, उनसे मोह रूप अन्धकार निवृत्त होता है, ज्ञान प्रकट होता है। सन्त जीवन का यह पक्ष परम श्रेष्ठ और उदार है, इस प्रक्रिया में वे सद्गुरु रूप है।

सन्तों के गुणों की कोई थाह नहीं। वे अगाध हैं। उनका देखने में सीधा सादा जीवन परम रहस्यमय है। वे अकिंचन हों तो भी बादशाहों से अच्छे हैं—

बेहतर हूँ मैं शाहों से, तेरे दर का गदा हूँ।

सन्तों के गुण बहुत हैं, इतना ही नहीं, अगाध हैं, अथाह हैं। उनके अगाध गुण वेद मध्य विदित हैं, वेद में कहे गए हैं।

वेद का आध्यात्मिक और धार्मिक विषयों में परम प्रामाण्य है अतः सन्त महिमा के विषय में वेदों की भी दुहाई दी गई है।

अति प्राचीन वैदिक ऋचा में कहा है—एकं सद् विप्राः बहुधा बदन्ति। सत् वस्तु एक है, प्राज्ञ ऋषिगण उसका बहुत प्रकार से निरूपण करते हैं। अधिकारी भेद से सन्त जन विभिन्न प्रकार से निरूपण करके कल्याण विधान करते हैं।

जैसे पुराणों में गुरु को भगवान् मानने का आदेश है और कहा है कि उनमें मरण शील मनुष्य की असद् भावना रखने वाले का शास्त्र श्रवण गज के स्नान के समान व्यर्थ है। (श्रीमद्भागवत) उसी तरह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वेद की आज्ञा है—आचार्य देवो भव। (आचार्य को देवता की तरह मानो)।

जिस तरह अन्य शास्त्रों में 'मोक्षमूलं गुरोः कृपा' कहा है, उपनिषद् में भी आज्ञा है—

स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः क्षेत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।

वह साधक शिष्य हाथ में समिधा लेकर गुरु की ही शरण में जाय।

जैसे श्री गीता जी में आज्ञा है कि—

तद् विद्धि प्रणिपातेन प्ररिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः।।
(४.३४)

इसी प्रकार उपनिषद् में कहा है।

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

सन्तो के अन्य गुणों के साथ यह भव-तारन वाला गुण श्रुति प्रतिष्ठित है, यह अन्य शास्त्रों में भी प्रतिष्ठित हुआ है।

लोकोत्तराणाम् चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हसि।

लोकोत्तर महापुरुषों के चित्त को कौन समझ सकता है?

सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्हढेवात्सु मज्जताम्।
(श्रीमद्भागवत ११.२६.३२)

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तन करि मन करि बचन करि. काहू दूषत नाहिं ।
तुलसी ऐसे सन्त जन. राम रूप जग माहिं ॥२३॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जो सन्त मन वचन कर्म से किसी पर दोष नहीं लगाते, वे इस जगत् में रामरूप ही हैं ।

शास्त्रों में परदोष दर्शन को खराब ही बताया गया है, परन्तु साधारण व्यक्ति की समझ में नहीं आता कि परदोष दर्शन, कथन, प्रतिकार आदि से कैसे बचा जा सकता है ?

एक तो निज दोष दर्शन को बुरा नहीं माना गया है, आवश्ययक माना गया है, उसके लिए गुण दोष का विवेक रखना होगा । दूसरे जिसे दोष करके पहिचाना, वह लक्षण दूसरे में मिले तो दोष दर्शन कैसे नहीं होगा । इसी तरह यह कल्पना भी होती है कि व्यक्ति, वर्ग, समाज, जन समुदाय आदि को अनर्थ से बचाने के लिए भी दोषवर्जन ही नहीं, दोष प्रतिकार भी करना आवश्यक है । इसलिए यह मालूम होता है कि मन से दोष दर्शन, वचन से दोष कथन और कर्म से दोष प्रतिकार अत्यावश्यक है । इससे विपरीत शास्त्रोपदेश समझ में नहीं आता और शक्य नहीं जान पड़ता ।

प्रसंगानुकूल यहां सार्वजनिक उपदेश का प्रसंग नहीं है, सन्त लक्षण का निरूपण है । सचमुच इस लक्षण की सिद्धि एक बड़ी ही उत्कृष्ट सन्त दशा है । साधारण लोगों को यह लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता । इस लक्षण की प्रतिष्ठा हो जाने पर तो सन्त को भगवन्त रूप ही माना है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तथापि दोषदर्शन से प्राप्त अनर्थ को समझना सभी साधकों के लिए हितकर है। सन्तों के लक्षण ऐसे नहीं हैं कि यदि समाज में व्याप्त हो जायँ तो अनर्थ की आशंका हो। साधारण जन के लिए भी यथाशक्य इस लक्षण को अपनाना श्रेयस्कर है। अतः इसके महत्व को समझने का प्रयास करना चाहिए। इसमें व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों पक्षों पर विचार करना होगा।

व्यवहारतः यह पूछा जा सकता है कि दलीय लोकतन्त्र वाले देशों में परदोष-दर्शन से कैसे बचा जा सकता है? विशेषतः चुनावों के समय तो चन्दा और निन्दा की बाढ़ आ जाती है। प्राप्त परिस्थिति परदोष-दर्शन, पर-निन्दा, संघर्ष आदि से संपृक्त (परिपूर्ण) हो तो भी परनिन्दा आदि के अनर्थकारी रूप की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उस पर विचार करना ही होगा।

दोष वही है जो अनिष्टकारी लक्षण है, और दुःखदायी विषय से द्वेष उत्पन्न होना स्वाभाविक है, विपरीत लक्षण सुखदायी मान्य होगा, और सुखदायी विषय में राग उत्पन्न होना भी उतना ही स्वाभाविक है। व्यावहारिकता के नाम पर ही सही, परदोष दर्शक जन राग द्वेष को अपने मनों में दृढ़ करते रहेंगे और प्रभावतः समाज की एकता कम होती जायेगी, समाज बँटेगा और उसमें संघर्ष तीव्र होंगे। इससे देश, राष्ट्र या विश्व का हित नहीं सधेगा। चाहे उससे थोड़े से लोगों की स्वार्थ-सिद्धि हो जाय तो भी ऐसे लक्षण को (रागद्वेष युक्त व्यवहार को) प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता। विष से भी वैद्य लोग काम लेते हैं, परन्तु इस उपयोग में पूरी सतर्कता रखनी पड़ती है।

दोष दर्शक के द्वारा भयंकर और अनर्थकारी भूलें सम्भव हैं—

आम लोगों में यह व्यापक प्रवृत्ति पाई जाती है कि सुनी सुनाई निन्दात्मक बातों को सहज ही सही मान लेते हैं। उसी तरह महान्

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गुणों की चर्चा सुनकर सहसा सही नहीं मानते। यह प्रवृत्ति हमें धोखा दे सकती है और हम असत्य को पकड़कर अन्य लोगों को व्यर्थ ही या अत्यधिक सीमा तक बुरा समझ सकते हैं और अपने को अत्यधिक अच्छा समझ सकते हैं। जो बुराई हममें है, लाखों करोड़ों लोग उससे रहित हैं, यह मानने के लिए हमारा मन सहसा तैयार नहीं होता, अत: उस दोष का मिथ्यारोप अथवा अत्यधिक आरोप दूसरों पर होने लगता है। स्व पर बुद्धि के कारण स्वजनों का दोष स्वीकार करने का जी नहीं चाहता और विपक्षियों के दोष मान्य करने और प्रसारित करने का जी चाहता है। इसलिए भी असत्य धारणाएँ बनने लगती हैं। इन धारणाओं के दृढ़ हो जाने पर विपरीत सत्य धारणाएँ भी बाधित रहती हैं, जमने नहीं पातीं। हमारा प्रयास रहता है कि स्वपक्ष का दोष सिद्ध न होने पाए जबकि प्रतिपक्ष का दोष न हो तो भी सिद्ध हो जाय। इस अर्थ में तो वकील वाला काम व्यापक पैमाने पर लोग करते ही रहते हैं, जितनी योग्यता से वे इसे कर सकें।

अपने लिए या अपने प्रियजन के लिए हम सरलता से मान लेते हैं कि अमुक परिस्थिति में अमुक कार्य दोषवत् था ही नहीं परन्तु प्रतिपक्षी के लिए हम ऐसी बात सोचने को तैयार नहीं होते। शास्त्र का भी कथन है—क्वचिद्गुणोऽपि दोष: स्यात् दोषोऽपि विधिना गुण:।

(श्रीमद्भागवत)

कहीं गुण भी दोष हो जाता है, कहीं दोष भी विधि शास्त्र के विधान से गुण बन जाता है।

अत: कोई कार्य सचमुच किया गया हो तो भी हम उसका गलत मूल्यांकन कर सकते हैं। काकोरी में क्रान्तिकारियों द्वारा ट्रेन से सरकारी खजाना लूटा गया तो वह देश भक्ति का अंग माना गया, श्री जयप्रकाश नारायण का जेल से भाग निकलना निन्दनीय नहीं माना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गया। इसलिए प्रयोजन, परिस्थिति, सन्दर्भ आदि से अलग धारणा बनाना भ्रमपूर्ण हो सकता है।

ऐसी बातों का विचार करके अनेक मनीषी गण इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जहाँ कर्तव्यवश आवश्यक न हो विविधि विषयों पर निश्चित सम्मति या धारणा बनाते रहना धोखे का कार्य है और शक्ति का अपव्यय है।

अपराध समाचारों को पढ़ते ही प्राय: हम अपनी राय बना लेते हैं, जबकि जजों को प्रकरण निर्णय में बड़ा समय लगता है। प्रकरण निर्णय के बाद भी हम उस निर्णय को नहीं अपनाते अपनी पूर्व सम्मति पर डटे रहते हैं। व्यावहारिकता के नाम पर इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। बाइबिल का उपदेश है कि 'निर्णय न करो, कहीं तुम्हारा ही निर्णय न हो जाय।' (मैथिउ)

जहाँ दोष निर्णय का कर्तव्य प्राप्त न हो, वैसे निर्णय में प्रवृत्त न होना ही अच्छा है। क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति से बहुतों के प्रति अन्याय हो जाना सम्भव है।

आचार्य विनोवा भावे ने एक बार कहा था कि सत्याग्रही होने से भी अधिक आवश्यक है, सत्यग्राही होना। इसके लिए बहुत बड़ा साधन चाहिए कि हम अपना अन्त:करण पक्षमुक्त, अनाग्रही, विवेकयुक्त रख सकें। विवेकालोकित निर्णय ही प्रमाणित होते हैं, और आदृत होते हैं, परन्तु विवेकीजन ऐसे निर्णय अनावश्यक रूप से करते फिरें, इस शक्तिक्षय की उन्हें प्रेरणा नहीं होती। अत: 'निर्णय न करो' वाला उपदेश ही उनके लिए सुविधाजनक है।

पुलिस के लिए, न्यायालय के लिए, गुरु, आचार्य या शिक्षक के लिए, परीक्षक के लिए, माता, पिता, पालक, संरक्षक के लिए एक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर्तव्य क्षेत्र है जिसके भीतर निर्णय करना होता है और वह उन्हें करना चाहिए। कर्तव्य वश ऐसा निर्णय करने से रागद्वेष का उदय नहीं होता।

सही राय बना कर उस पर डटे रहना भी खतरे से खाली नहीं है। मूर्ख बालक को गुरु सूर्ख समझे और यह धारणा हो जाय तो बालक की मूर्खता दूर न होगी और पक्की हो सकती है। अतः मूर्ख को सम्भावित विवेकी विद्वान् मानना अधिक हितकर है। वर्तमान् पापी सम्भावित सन्त हो सकता है, वह सम्भावना कहीं हमारी ही दृढ़ धारणाओं से मिट न जाय, इसका भी विचार रखना चाहिए।

यह तो व्यावहारिक पक्ष हुआ। ग्रंथकार का विशेष प्रयोजन पारमार्थिक है। तात्विक दृष्टि से यह संसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति का खेल है। इसे गुणों का प्रवाह माना गया है। प्रवाह में कुछ भी स्थिर नहीं रहता। क्षण-क्षण परिवर्तन है। जीव के स्वभाव में तीन गुणों का मिश्रण है और उसके कार्यों में इन्हीं तीन गुणों की प्रेरणा है। मिश्रण में तीन गुणों का अनुपात भी क्षण क्षण परिवर्तनीय है। एक भयंकर डाकू की भी चितवृत्ति डकैती डालते समय, गंगा स्नान और दान करते समय, कन्यादान करते समय. किसी की रक्षा करते समय एक सी नहीं रहती। इसी प्रकार सेनाध्यक्ष की वृत्ति युद्ध के समय, परेड के समय, घर में अपने बेटे के साथ, कथा सुनते समय, एक सी नहीं रहती। इसलिए किसी दोष को किसी व्यक्ति का स्वरूप भूत और स्थिर मान लेने का कोई औचित्य नहीं है। जो जिसका दोष है वह भी सबके लिए नहीं है, उनमें भी अनुमत क्षेत्र और वर्जित क्षेत्र है। साधारणतः किसी व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार में सहसा महान् परिवर्तन नहीं देखा जाता, परन्तु ऐसा परिवर्तन भी कभी कभी होता देखा गया है। इसलिए तात्विक दृष्टि से गुण दोषों को स्थिर मानने का कोई औचित्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फिर किसी दृष्टि लक्षण के सत्य या असत्य होने का भी प्रश्न है। तात्विक दृष्टि से यह संसार एक नाटक है, हर एक जीव अपना अभिनय कर रहा है। जब तक अभिनय है वह अपना पार्ट निर्देशानुसार करेगा, जाने या वे जाने। परन्तु नाटक के बाद वह कुछ और ही है, नाटक का पात्र उसका स्वभाव नहीं। तो फिर जीवों पर पापी, दोषी आदि के लेबेल क्यों लगाए जाएँ ? उनका भी अपना स्वरूप कर्मों से परे है।

त्रिगुण भी मायामूलक है, तत्वत: सत्य नहीं। जब यह जगत् स्वप्नवत् है, मिथ्या है, तो इसमें वास्तविक गुणी व अवगुणी कहाँ हैं, प्रतीतिमान् पापी और पुण्यात्मा हैं, वास्तविक नहीं। किसी को सचमुच दोषी (या) गुणी मान लेना जगत् के मिथ्यात्व को स्वप्नत्व को भूल जाना है।

इसीलिए श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अध्याय २८ में दूसरों के स्वभाव व कर्मों की प्रशंसा या निन्दा को वर्जित किया है क्योंकि इससे असत्य धारणा बन जाती है कि यह जगत् और इसका व्यवहार सत्य है, और इस तरह साधक ज्ञान से भ्रष्ट हो जाता है। (१-२)

वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च।

(११.२८.४)

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

वेदान्त में दो पद्धतियाँ हैं—अन्वय और व्यतिरेक। व्यतिरेक पद्धति में जगत् को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, परन्तु स्वप्नवत् मिथ्या निरूपित करते हैं। ब्रह्म सभी दृश्यमान् (अनुभूत) जगत् के परे हैं। 'नेदं' (न इदं, यह नहीं) या नेति, नेति (यह नहीं, यह नहीं) ऐसा कहते हैं। इस व्यतिरेक दृष्टि से जगत् के हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश, गुणदोष सब स्वप्नवत् हैं, कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दूसरों के गुण दोष जब सचमुच हैं ही नहीं तो फिर उनका चिन्तन, कथन प्रतिकार आदि कैसा ? सिनेमा के पर्दे पर यदि शेर दिखाई दे तो क्या उस पर गोली चलाएँगे ? यह ठीक है कि यह ज्ञान साधारण जनों की समझ के बाहर है और अनुभूति के भी परे है। परन्तु समझने की बात तो यही है कि सन्त की अनुभूति और सांसारिक मनुष्य की अनुभूति एक दूसरे की उल्टी होती है। इस ज्ञान (दर्शन, को लेकर जो दम्भ करेगा वह चोट खाएगा, जो इस ज्ञान में सचमुच स्थित है, वह भव पार है। अनुभूति और सत्यनिष्ठा का प्रश्न है।

दूसरी पद्धति अन्वय की है। इसमें सभी को ब्रह्म रूप देखते हैं। ब्रह्म सत्य है, व्यापक है, सभी रूपों में वही है। जगत् को भ्रम भले ही मानें, परन्तु भ्रम तो सत्य का अन्यथा ग्रहण मात्र है। हर एक भ्रम के लिए सत्य कां अधिष्ठान चाहिए। सिप्पी में चाँदी प्रतीत होती है, बिना सिप्पी के तो नहीं प्रतीत होती। रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, बिना रस्सी के तो नहीं होता। सर्प का भ्रम मिट जाय तो रस्सी प्रतीत होगी। इस विचार धारा से स्पष्ट है कि भ्रम मिट जाय तो भगवान् की ही प्रतीति होगी। अर्थात् भ्रम निवारण के पश्चात् प्रत्येक रूप में भगवान् ही प्रतीत होंगे।

यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं, रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः। (रा०च०मा०)

जिसके सत्व से यह सारा जगत् सत्यवत् प्रतीत होता है, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम होता है।

जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।

तथा—

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई।।
(रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री गीता जी में कहा है --

वासुदेव: सर्वमिति, स महात्मा सुदुर्लभ: । (७.१९)

'सब कुछ वासुदेव ही है, ऐसी अनुभूति वाला महात्मा अति दुर्लभ है ।'

श्री रामचरित मानस किष्किन्धा काण्ड में श्री रामचन्द्र जी ने अनन्य भक्ति को समझाया है—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक, सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त ।।

'मति न टरै अर्थात् ऐसा ही भाव हर समय बना रहे, कि मैं सेवक हूँ, और सम्पूर्ण सचराचर जगत् के रूप में अपने प्रभु (ईष्टदेव) ही हैं ।

इसी प्रकार उत्तर काण्ड में ऐसे भक्तों के विषय में कहा गया है कि—

उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध ।।

जब तक जगत् में नानात्व (भिन्नत्व, द्वैत) भासता है, तब तक अनन्यता का इतना ही मतलब है कि हम एक मात्र प्रभु के ही उपासक है और किसी का नहीं । 'ला इलाह इल् अल्लाह' 'नहीं है कोई पूज्य सिवाय एक प्रभु के ।' परन्तु जब इलाही (पूज्य प्रभु) के अतिरिक्त कुछ भी न रह जाय, तब तो सब 'इलाही' ही है 'ला इलाह' (अपूज्य) कोई नहीं ।

वो दिल दे तेरी मुहब्बत की जिसमें बू आए ।
वो नज़र दे कि नजर मुझको तू हि तू आए ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'अभेद दर्शनं ज्ञानं' अद्वैत दर्शन ही ज्ञान है, नेह नानास्ति किंचन' (उपनिषद्) द्वैत कुछ भी नहीं है। 'एकमद्वितीयं ब्रह्म' ब्रह्म एक और अद्वितीय है। इसी एक और अद्वितीय प्रभु को सूफी सन्त 'वाहिद' कहते हैं, और अद्वैत दशा (समाधि) को 'वहदत'।

झुका दो सर उसी को सामने आ जाय जो कोई।
कि जब सिज्दा ही करना है तो अल्लाह सब में रहता है।।

जहाँ अपने परम प्रिय, पूज्य, इष्टदेव के सिवा कोई नहीं, कुछ भी नहीं, दोष दर्शन कहाँ होगा? किसमें होगा? अतः आदर्श सन्तों के जीवन से दोष दर्शन गायब हो जाता है, ठहर नहीं सकता। यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि 'वासुदेवः सर्वं' की दशा और मन, वचन, कर्म से किसी को दोष न देने की दशा, एक ही है, एक ही सिक्के को दोनों ओर के तल के समान है।

जब सर्वत्र एक मात्र वासुदेव का ही दर्शन होता है, और कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता तो यही ब्रह्म ज्ञान की दशा है और ब्रह्म ज्ञान होने पर, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मोव भवति'।

जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।

इसलिए ऐसे सन्तों को राम रूप कह देने में कोई अत्युक्ति नहीं है, यथार्थ ही है।

इसीलिए सूफी सन्त शम्से तब्रेज के लिए, क़ुम् ब इज्ल् अल्लाह।' (उठ अल्लाह के हुक्म से) और क़ुम ब इज़्नी (मेरे हुक्म से उठ), (जिस वाक्य पर सुल्तान का मृत पुत्र जी उठा), में तत्वतः कोई अन्तर नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहाँ सन्तों के लिए यही कहा है कि वे दोष दर्शन नहीं करते, गुण दर्शन को वर्जित नहीं किया है, इसमें भी मस्लहत है। एक तो 'अवगुण तजि सबके गुण गहहीं।' में गुण दर्शन आ जाता है। दूसरे सन्त जन भक्त जनों के उत्साह वर्धन के लिए गुण प्रशंसा तो करते ही हैं, किसी साधक के अनुकरण के लिए भी किसी महापुरुष का गुण वर्णन कर सकते हैं। फिर सन्त चरित्र, भगवच्चरित्र की तरह कल्याणकारी है, अतः सन्त गुण वर्णन तो होगा ही। श्री गोस्वामी जी स्वयं ही सन्त गुणों का वर्णन कर रहे हैं और कह ही चुके हैं कि--'वेद मध्य गुन विदित अगाधू।' (छन्द २२)

तथापि तत्वतः दोष दर्शन त्याग में गुण दर्शन का भी त्याग है। लौकिक पुरुषों के गुण दोषों के चिन्तन विवेचन से बचना चाहिए ऐसा शास्त्रों का आदेश है।

परः स्वभाव कर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
(श्रीमद्भागवत ११.२८.१)

तथा–

अन्यस्य दोष गुण चिन्तनमाशु त्यक्त्वा।
सेवा कथा रसमहो नितरां पिब त्वं॥
(श्रीमद्भागवत माहात्म्य ४.८०)

'दूसरों के दोष गुण चिन्तन को तुरन्त छोड़कर, आप भगवत्सेवा व कथा के रस का निरन्तर पान करें।'

इसी प्रकार श्री विनय पत्रिका जी में श्री गोस्वामी जी ने एक पद में प्रार्थना की है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कबहुँक हौं एहि रहनि रहैंगो ।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें, सन्त सुभाव गहौंगो ।।१।।

यथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ।।२।।

परुष वचन अति दुसह श्रवण सुनि, तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान सम शीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो ।।३।।

परिहरि देह जनित चिन्ता, सुख दुख सम बुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहौंगो ।।

इस पद में श्री तुलसीदास जी ने पर गुण व दोष न कहने को सन्त की रहनि का लक्षण माना है और माँगा है । दोष कथन से हम माया के बस में रहते हैं, भगवद्गुणानुवाद से माया के पार जाते हैं ।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मुख देखत पातक हरै, परसत कर्म बिलाहिं ।
बचन सुनत मन मोहगत, पूरब भाग मिलाहिं ॥२४॥

जिनके मुखारविन्द का दर्शन करते ही पाप नष्ट होते हैं, स्पर्श मात्र से ही कर्म-बन्धन कटता है, वचन श्रवण मात्र से मोह नष्ट होता है, ऐसे सन्त पूर्व पुण्य जनित बड़े सद्भाग्य से ही प्राप्त होते हैं ।

यहां अलौकिक और उच्चतम सन्तों का वर्णन है, साधारण कोटि के सन्तों का नहीं; ऐसे सन्त न मालूम किन महान् पुण्यों से फलित प्रारब्ध वशात् दर्शन देते हैं, 'पूरब भाग मिलाहिं ।' यहाँ स्मरणीय है कि शीर्षस्थ सन्तों के महत्तम प्रभाव का वर्णन किया गया है । यह भी भूलना नहीं चाहिए ऐसे सन्त का भी ऐसा प्रभाव प्रत्येक देश काल में हर एक व्यक्ति के लिए उपलब्ध नहीं है । यह जादू तभी सामने आता है जबकि भक्त की श्रद्धा और सन्त की कृपा का सुयोग हो । परन्तु पूर्व सन्दर्भ को लिए रहें, और ऐसा शब्दग्राही अर्थ करने का आग्रह न करें जिसमें सर्व साधारण को किसी भी साधन के करने की कोई आवश्यकता न रह जाय । तो फिर हम सद्विचार पूर्वक इस दोहे के अर्थ को समझ सकेंगे और यह स्पष्ट हो जायगा कि इसमें न शास्त्र के मन्तव्य का कोई बिरोध है, न कोई त्रुटि है, न अतिशयोक्ति है । यदि हम इसमें अतिशयोक्ति अलकार देखने लगेंगे तो श्री गोगास्वामी जी का सन्देश हम ग्रहण नहीं कर सकेंगे । हमारा कल्याण इसी में है कि हमें इसमें यथार्थ के दर्शन हों ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मर्यादा निधान श्री गोस्वामी जी ने यह बात सावधानी से, चतुरता से, कह ही दी है कि उल्लिखित चमत्कार सबके लिए उपलब्ध नहीं। कहीं कहीं बड़े भाग्य से ऐसे सन्तों के दर्शन होते हैं।

पुण्य पुन्ज बिनु मिलहिं न सन्ता। सतसंगति संसृति कर अन्ता॥
(रा०च०मा०)

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ऐसे अलौकिक सन्त चाहे दिव्य सृष्टि के हों, चाहे मानवी सृष्टि के हों, जब स्वयं कृपा करते हैं, तभी उनके दर्शन होते हैं अन्यथा यह भी बिल्कुल सम्भव है कि वे उपस्थित हों फिर भी आपके दृष्टिगोचर न हों या आप उन्हें पहचान न सकें। आध्यात्मिक शक्ति को कभी यान्त्रिक नहीं बनाया जा सकता।

पूर्व प्रसग में कह चुके है कि 'निज सगी निज सम करत, दुर्जन मन दुख दून।' (छन्द १८) मर्यादा को छोड़कर सन्तों के पास मनमाना आचरण करके दुष्ट अपना दु:ख दूना कर लेते हैं। अत: जो प्रभाव यहाँ कहा गया है वह उच्च से उच्च कोटि के सन्तों का है और उत्कृष्ट भक्त श्रद्धालु, शरणागत जीव ही उससे लाभान्वित होते हैं।

महाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि पुण्यात्मा और निष्पाप भक्तों को ही ऐसे सन्तों के दर्शन हो सकते हैं, तो 'मुख देखत पातक हरे' कभी सिद्ध न होगा, क्योंकि पहले से ही निष्पाप व्यक्ति के पापहरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य की देह का प्रारब्ध पुण्य पाप के मिश्रित प्रभाव से बनता है। साधारणत: अलौकिक सन्त का सम्पर्क जिसे सधा वह अत्यन्त पुण्यवान् और भाग्यवान् मान्य होना ही चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कथाओं के अनुसार ऐसा कई बार हुआ है कि सत्संग से पातकी तुरन्त सुधर गए। आज तो हम यह याद भी नहीं रखना चाहते कि महर्षि बाल्मीकि कभी रत्नाकर डाकू थे अथवा देवर्षि नारद कभी दासी पुत्र थे। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि पहले पापों का नितान्त क्षय हो चुकेगा, तब उच्च कोटि के सन्त मिलेंगे और इसलिए उनके द्वारा नाश होने के लिए पाप कहाँ रहेंगे ?

समस्त पापों के नाश की जड़ बन जाती है, जब सच्चे सन्त पर श्रद्धा हो जाती है। ऐसी श्रद्धा हो जाना पापियों के लिए सहज या स्वाभाविक नहीं है—

पापतन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥
(रा०च०मा०)

परन्तु पापी के लिए भी विशेष परिस्थितियों में, विशेष कारणों से यह सम्भव है कि वे सन्त पर श्रद्धालु हो जाय और अनन्य निष्ठा से भजन भी करने लगे। वह सन्त रूप ही मान्य है, शीघ्र ही धर्मात्मा हो जायगा और स्थिर शान्ति को प्राप्त होंगा। (गीता ९.३०.३१)

जब पापवन्त का सहज स्वभाव है कि उसे भगवद्भजन रुचता नहीं, तो अनन्य भाव से भजन कैसे कर सकता है ? पापी का पाप तो उसके भजन में बाधक ही रहता है, परन्तु कुछ ऐसे महान् पुण्य भी हो सकते हैं, जिनकी बदौलत वह सन्त की शरण में जाने की प्रेरणा पाता है और श्रद्धालु बनता है। फिर सन्त की कृपा व प्रेरणा से अनन्य भाव से भजन में भी प्रवृत्त होता है।

हर एक मनुष्य पुण्य पाप का एक संयुक्त भण्डार है। परन्तु जिस कर्म से वह सस्कार बना जिसके कारण वह सन्त की शरण में गया, वह पुण्य कर्म ही हो सकता है अतः—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुण्यपुन्ज बिनु मिलहिं न सन्ता।

वह थोड़ा पुण्य नहीं, पुण्यों का ढेर था, जिसके कारण सन्त मिले। अत: सम्बन्धित व्यक्ति का पुण्यात्मा होना सिद्ध है।

यह एक पक्ष हुआ, दूसरा पक्ष है कि—

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता।

भगवत्कृपा से ही सन्त मिलते है। इन दोनों बातों में विरोधाभास है—'पुण्य पुञ्ज' सन्त मिलन का हेतु है या 'हरि कृपा'।

कर्म की गति रहस्यमय है। गहना कर्मणो गति: (गीता) कर्म विपाक को पूरा पूरा तर्क शुद्ध भाषा में सबके समझने समझाने लायक बना देना नितान्त अशक्य है। तथापि उस द्वितीय पक्ष का विचार कुछ प्रस्तुत किया जा सकता है—

नास्त्यकृत: कृतेन। (उपनिषद्) जो कर्म का परिणाम नहीं है वह कर्म से प्राप्त नहीं किया जा सकता। ब्रह्म (भगवान्) कर्म का परिणाम नहीं हैं, अत: कर्म से प्राप्त नहीं हो सकते। यह नहीं कि उनकी प्राप्ति के लिए कोई साधन हितकारी नहीं है, बल्कि यह है कि आप अमुक अमुक साधन इतना कर चुके हैं, इसलिए भगवत्प्राप्ति होनी ही चाहिए यह नियम नहीं है। इस प्रकार कर्म का मूल्य देकर भगवान् को खरीद नहीं सकते। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:। (जिसको यह आत्मा स्वयं पसन्द कर लेता है, उसी को प्राप्त हो सकता है।)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुमहि तुमहि होइ जाई॥
(रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसी तरह वह सत्संग जो साक्षात् भगवत्प्राप्ति का हेतु और सोपान है, मात्र कर्म का परिणाम नहीं हो सकता। नर देह प्राप्ति भी मोक्ष का द्वार होने से मात्र कर्मजन्य नहीं मानी गई। 'कबहुँक करि करुणा नर देहीं। देतु ईस विनु हेतु सनेही ।। (रा०च०मा०)। श्री आदि शंकराचार्य जी ने भी कहा है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्, दैवाग्रह हेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष संश्रयः ।।

तीन वस्तुएँ दुर्लभ हैं, भगवदनुग्रह से मिलती हैं—मनुष्य होना, मोक्ष की इच्छा होना, महापुरुष की शरण।

इसलिए परमार्थ का सब सुपास बन जाना स्वयमेव भगवत्कृपा का उत्तल प्रमाण है।

यह भरतखण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
(कवितावली)

अच्छे से अच्छे श्रद्धापूरित साधक के लिए भी उच्च से उच्च सन्त का यह चमत्कार कैसे होता है कि 'मुख देखत पातक हरै' दर्शन करते ही सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जायँ।

श्री रामचरित मानस में कहा—'सन्त दरस जिसि पातक टरई।' श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार कहा है कि—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि, न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरु कालेन, दर्शनादेव साधवः ।।
(१०.४८.३१)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जब द्रवैं दीन दयालु राघव, साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये ।।

(वि०प० १३६)

श्रीमद्भागवत में श्री परीक्षित जी ने श्री शुकदेव जी की स्तुति करते हुए सन्त महिमा बताई है कि—

येषां संस्मरणात् पुसां सद्यः शुद्धयन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शं, पाद शौचासनादिभिः ।।

(१.१९.३३)

जिनके स्मरण मात्र से लोगों के घर तुरन्त पवित्र हो जाते हैं, फिर दर्शन स्पर्श चरणामृत से व आसीन होने से पवित्रता प्राप्त होने का क्या कहना !

एक अंग्रेज पुण्य पुरुष थे रोनैल्ड निक्सन। उन्होंने इंग्लैंड की बाजार में श्री गौतम बुद्ध जी की मूर्ति देखी। उसके चेहरे पर अद्भुत शान्ति जान पड़ी। श्री निक्सन बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत आए। यहाँ उन्होंने लखनऊ तथा बनारस विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का अध्यापन किया। बौद्ध धर्म का तो अच्छा अध्ययन किया ही परन्तु यहाँ भारत में उन पर वैष्णव धर्म की छाप पड़ गई। वे सन्यासी भी हो गए। उनका भारतीय नाम श्रीकृष्ण प्रेम हुआ। वे प्रखर विद्वान् और उत्कृष्ट सन्त थे। स्वराज्य के बाद भी भारत में ही रहे और कालक्रम से यहीं शरीर छोड़ा। मूल प्रेरणा उनको श्री गौतम बुद्ध की मूर्ति के मुखारविन्द दर्शन से मिली।

बालि ने तो श्री रामचन्द्र जी के सन्मुख ही शरीर छोड़ा, और श्री रामचन्द्र जी से प्रश्न भी किया—

प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अन्तकाल गति तोरि ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री रामचन्द्र जी ने घोषणा की है कि—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासउँ तबहीं ।।
(विभीषण प्रसंग)

तब फिर श्री राम रूप सन्तों के ही लिए क्यों आश्चर्यजनक है कि उनके दर्शन मात्र से पाप नष्ट हो जायँ । तथापि पातक हरण के सन्देश में यह निहित अर्थ मानना चाहिए कि दर्शक भक्त सन्त को पहिचाने, उनकी श्रेष्ठता को समझे तथा अत्यन्त श्रद्धावान् हो । केवल आँखों से मुख देखने वालों में तो चील, कौवे और कुत्ते भी हो सकते हैं ।

विनय पत्रिका जी में जो यह कहा है–

जेहि दरस परस समागमादिक, पाप रासि नसाइये ।

इससे यह संकेत मिलता है कि पाप नाश का क्रम दर्शन से प्रारम्भ होगा, परन्तु स्पर्श समागमादि के द्वारा जारी रहेगा, तब सम्पूर्ण पाप राशि नष्ट होगी ।

बाइबिल में एक कथा है । एक स्त्री वर्षों से बीमार थी । खून गिरता था । बन्द नहीं होता था, दवा से लाभ नहीं होता था । ईसा उधर से होकर जाने वाले थे । उसने कहा कि यदि मैं उनका वस्त्र भी छू सकूँ तो मैं ठीक हो जाऊँगी । जब ईसा उधर से निकले, उसने पीछे से उनका वस्त्र छू लिया । ईसा को अपने भीतर से एक शक्ति निकल गई जान पड़ी । उन्होंने पीछे घूम कर देखा और पूछा । तब उस स्त्री का हाल मालूम हुआ । उन्होंने कहा–बेटी! तू अपनी श्रद्धा से ठीक गई । बाइबिल मार्क ५.३४.) यह वस्त्र स्पर्श का प्रभाव था । चरण स्पर्श का इससे अधिक ही होता है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री चैतन्य महाप्रभु जी का चरित्र सुविदित है कि उन्होंने कोढ़ी का सप्रेम आलिंगन कर लिया, उसका कोढ़ तुरन्त दूर हो गया। इसमें उसके अशुभ कर्म का क्षय मान्य ही है।

आदि शंकराचार्य जी ने सिर पर हाथ फेर दिया तो श्री सुरेश्वराचार्य जी की विषजन्य मानसिक विकृति या क्षति तुरन्त दूर हो गई।

श्री श्री चैतन्य महाप्रभु जी के जीवन के अन्तिम चरण की घटना है कि वे गम्भीरा गुफा (पुरी में) से निकल कर रात्रि को समुद्र तट पर जा पहुँचे। वहाँ उन्हें भगवान् सखियों सहित जल क्रीड़ारत दिखाई दिये। महाप्रभु जी भी जल में कूद पड़े। वे जल में बेहोश हो गये। कुछ देर बाद एक मछुए के जाल में फँस कर बाहर निकले। मछुए ने इन्हें जाल से छुड़ाया। ये तो बेहोश पड़े रहे, परन्तु इनके स्पर्श के प्रभाव से मछुआ नगर की ओर भगवन्नाम का उद्घोष करता हुआ भागा। उससे भेंट होने पर महाप्रभु जी के भक्तों ने समुद्र तट पर जाकर महाप्रभु जी से भेंट की और उन्हें लिवा लाए। यहाँ भी स्पर्श का दिव्य प्रभाव स्पष्ट है।

बालि सुग्रीव युद्ध के प्रसंग में भी श्री गोस्वामी जी ने लिखा है—

कर सरसा सुग्रीव सरीरा। तनु ना कुलिस गई सब पीरा।
(रा०च०मा०)

श्री अहिल्या जी के प्रसंग में तो लिखा ही है—

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुञ्ज सही।
(रा०च०मा०)

सरकार के चरण स्पर्श मात्र से श्री अहिल्या जी के पाप ताप बिलाय गये। वे पवित्र और श्री गौतम जी की प्रियपत्नी पुनः हो गईं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'गौतम सिधारे गृह गौने सो लिवाइ कै ।' (गीतावली) बल्कि श्री जनक जी से व्यंग्य किया गया कि, 'रावरेऊ शतानन्द पूत भए माय के ।' (गीतावली)

श्रीमद्भागवत में श्री नारद जी के पूर्व जन्म का हाल लिखा है जब वे दासी पुत्र थे । उस समय वे सन्तों की अनुमति से उनका उच्छिष्ट भोजन एक ही बार पाने से निष्पाप और भगवत्परायण हो गये थे ।

उच्छिष्ट लेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्त किल्बिषः ।
(१.५.२५)

यहाँ भी सन्तों के स्पर्श से पवित्र जो उच्छिष्ट लेपमात्र भोजन वह कल्मष नाश का कारण बन गया ।

सन्तो की दी हुई विभूति या सन्तों के चरणामृत का यत्र तत्र जो दिव्य प्रभाव देखा जाता है, उससे रोग या अन्य अनिष्ट का तुरन्त नाश होता देखा गया है, वहाँ भी स्पर्श का प्रभाव ही मान्य है ।

इस कारण भी उचित है कि विभूति, चरणामृत या चरण स्पर्श आदि की प्राप्ति में सन्तों की अनुमति के अनुसार मर्यादापूर्वक बरतना चाहिए, कोई अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए । क्योंकि दिव्य शक्ति या सन्त कृपा की लूट सम्भव नहीं है । विनय और मर्यादापूर्वक प्राप्ति ही प्रभावी और हितकर होती है ।

'वचन सुनत मन मोह गत' यह उपदेश वैसा ही है जैसे पूर्व का 'अनुभव सुख उत्पति करत' (छन्द २०) । इधर ज्ञानोपदेश हुआ, उधर मोह मिटा, श्रवण मात्र से ज्ञानोत्पत्ति हुई । जैसे श्री परीक्षित श्रवण भक्ति से ही निर्भय व मुक्त हो गए । यह बात तनिक भी अतिरंजित नहीं है । आदर्श पात्र को श्रवण मात्र से तुरन्त ज्ञान होगा ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ।

इसी अर्धाली के पहले कवि ने स्वयं कहा है–

सुनि शिव के भ्रम भजन वचना । मिटिगै सब कुतरक कै रचना ।
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती । दारुण असम्भावना बीती ।

यहाँ भी श्रवण मात्र से भ्रम भंजन हुआ ।

इसी प्रकार रामचरित मानस में श्री गरुड़ जी ने श्री काग्भुशुण्डि जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए कहा कि सर्प भक्षी गरुड़ तो मैं माना जाता हूँ परन्तु मुझे स्वयं संशय रूपी सर्प ने डस लिया था । आप स्वय गरुड़ स्वरूप हो गये और संशय रूपी सर्प से मेरी रक्षा की ।

संशय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ।
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक । मोहिं जियाएउ जन सुख दायक ।

'तथा मोह जलधि वोहित तुम भए ।'

(रा०च०मा०)

श्री पार्वती जी ने बाल काण्ड में प्रार्थना की है—

जौ मो पर प्रसन्न सुखरासी । जानिय सत्य मोहि निज दासी ।।
तौ प्रभु हरहु मोहि अज्ञाना । कहि रघुनाथ कथा विधि नाना ।।
जासु भवन सुरतरु तर होई । सह कि दरिद्र जनित दुख सोई ।।
ससि भूषन अस हृदय विचारी । हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी ।।

कथा के अन्त में उत्तर काण्ड में पार्वती जी ने घोषित किया—

नाथ कृपा मम गत सन्देहा । राम चरन उपजेउ नव नेहा ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री गीता जी में अर्जुन का अज्ञान, मोह, विषाद, उपदेश श्रवण मात्र से नष्ट हो गया और वे बोले, 'आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया।' (१८.७३) इसी प्रकार श्री उद्धव जी ने भगवान् श्रीकृष्ण जी के प्रति कृतज्ञ होकर कहा—विद्रावितो मोह महान्धकारो (श्रीमद्भागवत ११.२९.३७) श्री देवहूति जी ने भगवान् कपिलदेव जी से ज्ञान प्राप्त करके उनकी स्तुतति की है 'स्वतेजसा ध्वस्त गुणप्रवाहं।' (श्रीमद्भागवत ३.३२.८)

श्री रामचरित मानस में स्पष्ट घोषणा कर दी गई है—

राम चरन रति जो चहै, अथवा पद निर्वान।
भाव सहित सो यह कथा, करै श्रवण पुट पान॥

श्रीमद्भागवत में भी कहा—सत्पुरुषों द्वारा प्रदत्त भगवत्कथामृत को जो कान रूपी दोनों में भर भर कर पीते हैं, वे अपने विषया विदूषित चित्त को पवित्र कर लेते हैं और अन्त में भगवच्चरणों को ही प्राप्त होते है। (२.२.३७)

यद्यपि श्रोता वक्ता ज्ञान निधि कथा राम कै गूढ़।' तथापि आदर्श श्रोता वक्ता के सयोग में यह चमत्कार दिखाई देता है। कि श्रवण के साथ ही मोह नाश होता है और तत्वानुभूति होती है।

'पूरब भाग मिलाहि' का यह अर्थ तो है कि पूर्वकाल में कुछ महान् पुण्य किए गए, उनकी बदौलत सद्भाग्य का उदय हुआ तभी ऐसे सन्त किसी को मिले अथवा मिलते हैं। परन्तु भाग्य तो सदैव पूर्व कर्मों का परिपाक होता है तो फिर 'पूरब' भाग कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है? उपर्युक्त अर्थ को तो सही मानना चाहिए परन्तु बिना उस अर्थ को खण्डित या असिद्ध किए यह कहा जा सकता है कि प्रयुक्त शब्दों से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कुछ और अर्थ भी ध्वनित होता है जो पूर्व कथित अर्थ का विरोधी नहीं है।

श्री रामचरित मानस में यद्यपि विवा केह पूर्व श्री महाराणी जी के पूर्वानुराग का प्रकरण है परन्तु कहा है—प्रीति पुरातन लखै न कोऊ ।। (पुरानी प्रीति थी, यह कोई जान नहीं पाया) ऐसी प्रीति को मुहावरे में 'पुर्बिली प्रीति', पहले की प्रीति, कह देते हैं, जिसमें पूर्व जन्म की प्रीति का लक्ष्यार्थ रहता है। अंग्रेजी में कहावत है, 'ब्याह स्वर्ग में ही निश्चित होते हैं, तदनुसार विवाह संस्कार पृथ्वी लोक में होते हैं।' एक और कहावत है, 'फाँसी और ब्याह भाग्यानुसार ही होते हैं।' जितना स्थायी सम्बन्ध इस लोक में पति पत्नी का होता है, (यद्यपि उसका स्थायित्व क्षीण होता जा रहा है), उससे कहीं अधिक स्थायी गुरु शिष्य सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत् में देखा जा सकता है। यह कभी कभी अनेक जन्मों तक चलता रहता है। यानी एक न एक रूप में सम्पर्क चलता रहता है और मार्ग दर्शन होता रहता है। दिव्य शक्तियाँ दृष्ट अदृष्ट रूप में साधकों की सहायता करती रहती हैं। हो सकता है कि पहले कोई सन्त अलक्षित रहकर किसी साधक की सहायता करते रहे हों, अब साक्षात् सम्पर्क का समय आ गया हो। अतः पूर्व जन्म (या जन्मों) के भाग्य के सिलसिले से ऐसे सन्त मिलते हैं, ऐसा भावार्थ ग्रहण किया जा सकता है। दिव्य सन्तों का सम्पर्क चाहे जितना आकस्मिक और सांयोगिक जान पड़े, ऐसा आभास हमारी दृष्टि के अति सीमित होने के कारण होता है, दिव्य सृष्टि और दृष्टि में वह आकस्मिक नहीं क्रमागत ही है, और पूर्व जन्मों में उसके सन्दर्भ सूत्र रहते ही हैं। अतः 'पूरब भाग' से ऐसे सन्त मिलते हैं, सबको नहीं मिलते, सब पहिचान नहीं सकते, आकृष्ट नहीं होते, लाभान्वित नहीं हो पाते। श्री रामचन्द्र जी ने बनवास के विषय में कहा—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मुनि गन मिलन विशेष वन, सबइ भाँति हित मोर।
(रा०च०मा०)

परन्तु हम सब लोगों को 'मुनि गन मिलन' सब प्रकार से हितकारी कहाँ लगता है ? अत: वे बड़भागी हैं उनका भाग्य जागा है, महान् पुण्य परिपाक हुआ है जिन्हें ऐसे आदर्श सन्त का संश्रय (संरक्षण) प्राप्त हो। पहले का न मालूम कौन सा उत्तम भाग्य फलित होकर अब मिला है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अति कोमल अरु विमल रुचि, मानस में मल नाहिं ।
तुलसी रत मन होइ रहै, अपने साहिब माहिं ।।२५।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्त अति कोमल स्वभाव और और निर्मल रुचि वाले होते हैं उनके हृदय में कोई मैंल (पाप, दोष आदि) नहीं होंता । वे मन से अपने इष्टदेव में ही मग्न रहते हैं ।

'कोमल बानी सन्त की' (छन्द १९ तथा २१) पहले बता चुके हैं । यहाँ हृदय की कोमलता से मतलब है । यह नहीं कि सन्त का दिल कमजोर रहता है । हृदय की कोमलता कुछ आधारों पर शास्त्रों में कही गयी है । एक आधार पर दुःख कातरता है । सन्त दूसरों के दुःख से द्रवित होते हैं इसलिए कोमल हृदय के माने गये हैं, अपने दुःख को सहने में वे वज्र के समान कठोर हैं, पर्वत के समान अचल हैं ।

सन्त हृदय नवनीत समाना । कहा कविन पर कहै न जाना ।।
निज परिताप द्रवै नवनीता । पर दुःख द्रवै सन्त सुपुनीता ।।

नीर क्षीर का प्रेम साहित्य और शास्त्र में प्रसिद्ध है । जल दूध से मिलकर दूध के भाव बिकता है, परन्तु दूध जब उबाला जाता है तो पानी पहले क्षय होता है, दूध का नम्बर बाद में आता है । यह परस्पर प्रेम माना गया है । श्री राम लक्ष्मण की प्रीति इससे भी ऊँची मानी गई है । लंका काण्ड मैं श्री लक्ष्मण घायल और मूर्छित हो गये । संजीवन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बूटी पा जाने के बाद सचेत हुए तो उनसे हाल पूछा गया। वे बोले—

ईशान्मात्रमहं वेह्मि स्फुटम् यो वेत्ति राघवः।
वेदना राघवेन्द्रस्य केवलं वृणिनो वयम्॥

(श्री हनुमन्नाटक)

श्री गीतावली जी में श्री गोस्वामी जी ने इसी भाव का अनुपम चित्रण किया है—

हिरदय घाउ मेरे, पीर रघुवीरै।
पाइ सजीवन जागि कहत यों, प्रेम पुलकि बिसराइ सरीरै।
मोहि कहा बूझत पुनि पुनि, जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै।
शोभा सुख छति लाहु भूप कहँ, केवल कांति मोल हीरै।

श्री लक्ष्मण के घाव लगा, दर्द राम जानें यह प्रीति नीर क्षीर से ऊँची रही, वहाँ दोनों तपाए जाते हैं, तो जल अपना बलिदान पहले करता है, यहाँ घाव एक को, दर्द दूसरे को है। इसलिए पद के अन्त में कहा गया है कि—

उपमा राम लषन कि प्रीति की, क्यों दीजै क्षीरै नीरै ?।

दूसरे के दुःख दर्द से व्यथित होना ही पर दुःख कातरता है—

'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।'
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुखं, स योगी परमोमतः॥

(गीता ६.३२)

जो अपने समान ही दूसरे का सुख दुःख जानता है, वही परम योगी है यही सन्त की कोमलता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नारद देखा विकल जयन्ता। लागि दया कोमल चित सन्ता।।

अपने दुःखों से दुःखी होना, मायावश जीव का सहज लक्षण है, परन्तु पर दुःख कातर होना और ममता व अभिमान् रहित मैत्री और करुणा से प्रेरित होना (गीता १२.१३) सन्त का करुणा धर्म है, सन्त का सहज, स्वाभाविक गुण है और यही सन्त की कोमलता है। सन्त रोते बिलखते नहीं, परन्तु पर दुःख निवारण हेतु त्याग करने में वे ही आगे रहते हैं। सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव जी और गुरु तेगबहादुर जी का बलिदान इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं।

सन्त की एक और कोमलता है, जो इससे सम्बन्धित ही है। प्रेम से जो अत्यन्त प्रभावित होता है, वह कोमल है, अप्रभावित रहता है, वह कठोर है। भगवान् प्रेमवश हैं, यह उनकी कोमलता है, सन्त शुद्ध प्रेम की (मिथ्या मोह की नहीं) कदर करते हैं, यह उनकी कोमलता है। शरणागत प्रेमालु व्यक्ति (चालाक, धोखेबाज नहीं) के प्रति कोमल होना सतोगुणी वृत्ति है। इसलिए सन्त प्रेम का तिरस्कार नहीं करते, यद्यपि नियम, मर्यादा आदि के निर्वाह में वे कठोर रहते है और इसी मे उनकी शोभा है। जहाँ माया उनको ममता के बन्धन में डालकर अधर्म मार्ग में ले जाना चाहती है, वहाँ तो वे प्रायः अत्यन्त कट्टर, दृढ़ निश्चयी बेमुरव्वत और कठोर सिद्ध होते हैं, अन्यथा वे सच्चे प्रेम के प्रति अति आभारी और कोमल पाए जाते हैं।

सन्तों की सबसे विचित्र, दिव्य, चमत्कारिक कोमलता भगवत्प्रेम विषयक है। पूर्व कथित कोमलता एक प्रकार से इस कोमलता का सोपान है। करुणा धर्म के आचरण से जिसका हृदय शुद्ध से शुद्धतर होता जाता है, वही इस सोपान पर कोमलता का अधिकारी है। यह कोमलता भगवद्भाव के अंकुरित होने का सहज लक्षण है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रामहि सुमिरत रन भिरत देत, परत गुरु पाउ ।
द्रवै स्रवै पुलकै नहीं, सो नर खेहर खाउ ।।

(दोहावली)

जो विषम परिस्थिति में पड़कर भी व्यथित और चिन्तित नहीं होता वह भगवद्गुणानुवाद के कथन या श्रवण के अवसर पर कैसे द्रवित, स्रवित, पुलकित हो जाता है यह लौकिक जनों के लिए आश्चर्य का विषय है। परन्तु यौगिक दृष्टि से इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है।

जेहि लागि विरागी अति अनुरागी, विगत मोह मुनि वृन्दा ।

जगत् से वैराग्य भगवत्प्रेम की पात्रता है। अतः भगवत्प्रेम सम्बन्धी कोमलता वैराग्य की नींव पर ही खड़ी होती है। जहाँ विशुद्ध भगवद्भाव अंकुरित नहीं है, वहां भी अन्य कारणों से अश्रुपात, पुलकावली आदि लक्षण पाए जाते हैं, परन्तु वे उसी प्रकार प्रशंसनीय नहीं हो सकते।

निसर्ग पिच्छलस्यान्ते तदभ्यासपरोऽपि च ।
सत्वाभासा विनाऽपि स्युः क्वाप्यश्रु पुलकादयः ।।

(हरि भक्ति रसामृत सिन्धु)

कहीं कहीं भगवद्भाव के उदय के बिना भी नैसर्गिक (प्राकृतिक) रूप से, अन्तःकरण के पिच्छिल होने से अथवा तत्सम्बन्धी अभ्यास से भी आँसू बहाना या पुलकित होना—जैसे लक्षण पाए जाते हैं। आजकल तो विलाप विशेषज्ञ भी किराये पर बुलाये जा सकते हैं।

सन्तों की दृष्टि में—

कुलिश कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती ।।

(रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरि नाम धेयैः ।
नि विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ।।
(श्रीमद्भागवत २.३.२४)

साधारण सांसारिक जनों में जो कोमलता दिखाई देती है । वह प्रायः ममता प्रेरित होती है अथवा शिष्टाचार मात्र । कभी कभी दाम्भिक भी होती है । यह कोमलता सन्तों में नहीं होती है । करुणाजनित कोमलता होती है, या फिर भगवत्प्रेम से सम्बन्धित कोमलता होती है,

जग ते रहु छत्तीस ह्वै, राम चरण छत्तीन ।
(दोहावली)

संसार से ३६ की तरह (विमुख) होकर रहो, श्री राम चरणों में ६३ (सन्मुख) होकर रहो ।

तुलसी दो में एक ही, खेल छाँड़ि छल खेलु ।
कै ममता करु राम सों, कै ममता परहेलु ।। (दोहावली)

जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेहु ।
तुलसी ते प्रिय राम के, कानन बसैं कि गेहु ।। (दोहावली)

श्री राम सनेह में चिकने (कोमल) रहना सन्त जीवन का गौरव है ।

बाहरी जीवन में सन्त विचित्र प्रकार से अभावग्रस्त, अकिंचन, रूखे अथवा अशिष्ट भी दिखाई दे सकते हैं, परन्तु वह उनका असली रूप (स्वरूप) नहीं है । अपने आन्तरिक जीवन में उनका मन कोमल ही नहीं, अति कोमल होता है । भगवान् के प्रति व अन्य सन्तों के प्रति उनका भाव अति कोमल रहता है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो जन 'सीय राम मय सब जग जानी' वाले भाव से बरतने लगते हैं, उनकी कोमलता वाह्य जीवन में भी व्याप्त दिखाई देती है, परन्तु यह कोमलता कभी उनकी साधन सम्बन्धी दृढ़ता को नष्ट नहीं करती। ऐसा दिव्य होता है सन्त का जीवन।

सन्तों की अति कोमलता के साथ उनकी रुचि की विमलता का भी कथन किया गया है। मलीन रुचि कैसी होती है और विमल रुचि कैसी होती है? इस पर विचार करना चाहिए।

जहाँ जिसको सुख मिलता है वहीं उसका प्रेम होता है, रागात्मिका वृत्ति बनती है। सुखदायी विषय में ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती हैं, उसी विषय में उसकी रुचि रहती है।

साधारण व्यक्ति का सुखाभास इन्द्रियार्थों में होता है, विषयों में उसकी स्पृहा रहती है। इस स्पृहा की अनियन्त्रित और अमर्यादित बाढ़ से साधारण लौकिक जीवन में भी अनर्थ और विनाश की परिस्थितियाँ बनती हैं। नितान्त अविवेकी पुरुष अपनी विषय की अभिलाषा को पूरा करने के लिए कुछ भी अनर्थ कर सकता है और झेल सकता है। ऐसी जो विषय रुचि है, जो पशुवत् विवेक शून्य है, निज पर सम्बन्धी अनिष्ट परिणामों के विषय में पूर्णतः प्रमत्त (गाफिल) है, लापरवाह है, वह मलीनतम है।

ज्यों ज्यों विवेक का दखल होता है, रुचि परमार्जित होने लगती है। बहुत सी लौकिक जीवन की मर्यादाएँ अनर्थ निवारण के ही लिए हैं। उनका प्रयोजन यही है कि अधिक से अधिक मनुष्यों को एक मान्य स्तर तक अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति का क्षेत्र मिले, संघर्ष और विनाश का ताण्डव नृत्य न प्रारम्भ हो जाय। इन मर्यादाओ का मन से स्वीकार कर लेना और दृढ़ता से पालन करना रुचि का प्राथमिक परिमार्जन है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धर्म भाव से इससे आगे भी रुचि का परिमार्जन होता है। जहाँ हमें विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं, जो दूसरों को नहीं प्राप्त हैं, वहाँ यदि हम अपनी सुविधाओं को नि:संकोच नहीं भोग सकते, दूसरे से सहानुभूति होती है, दान और सेवा में प्रवृत्ति होती है, वहाँ रुचि और निर्मल होती है।

फिर एक सोपान आता है जब यह प्रतीत होता है कि इन्द्रियों के विषयों के भोग का परिणाम कभी अनर्थ शून्य हो ही नहीं सकता।

ये हि संस्पर्शना भोगा, दु:ख योनय एव ते,
आद्यन्तवन्त: कौन्तेय, न तेषु रमते बुध: ।।
(गीता ५.२२)

दूसरे विश्वयुद्ध के प्रारम्भ से कुछ वर्ष पूर्व प्रोफेसर हैरोल्ड लास्की ने लिखा था कि यदि विश्व युद्धों से बचना है तो कम से कम मनुष्यों को इन्द्रियों के सुखों से उठकर बौद्धिक सुखों में प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि नए व्यक्ति को जमीन तभी मिल सकती है, जब किसी और की जमीन कम हो जाय, परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है। शेक्सपियर का पूर्ण ज्ञान कोई अर्जित कर ले तो भी अन्य लोगों के लिए पूरा ज्ञान प्राप्त करने का क्षेत्र कम नहीं होता। इस दृष्टि से अध्ययन और शोध में लगे हुए लोग विश्व शान्ति के लिए सहायक हैं। नि:सन्देह बौद्धिक सुखार्थी साधारण विषयार्थियों से अच्छे हैं। उनकी रुचि की मलीनता कम हो चुकी है।

भोज प्रबन्ध नामक एक ग्रन्थ में एक कथा है। राजा भोज रास्ते में जा रहे थे। उन्हें एक लकड़हारा मिला, जो सिर पर लकड़ी का भारी बोझ लिये जा रहा था। राजा ने पूछा—अपि भारो बाधति? (क्या बोझ कष्ट देता है?) उसने उत्तर दिया—'भारो न बाधते राजन् यथा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बाधति बाधते। (हे राजा साहब ! बोझ इतना कष्ट नहीं देता जितना कि (आपके द्वारा गलत प्रयोग किया हुआ शब्द) 'बाधति' कष्ट देता है। बौद्धिक जगत् में विशेष रुचि रखने वाले लोग, प्राय: बहुत से भौतिक अभाव की परवाह नहीं करते।

विद्या व्यसनी कुछ मामलों में श्रेष्ठ अवश्य हैं, परन्तु विद्या-व्यसन भी एकदम निरापद नहीं हैं। पाण्डित्य के क्षेत्र में भी अभिमान् मद, मत्सर आदि का प्रभाव रहता ही है। इसलिए कवियों, लेखकों, शास्त्रियों आदि में परस्पर प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, विरोध, प्रतिरोध आदि देखा जाता है।

संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में एक प्रबल उदाहरण मिलता है। पाणिनि के सूत्रों पर प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित भट्टोजी दीक्षित ने अपनी विशद पुस्तक सिद्धान्त कौमुदी लिखी। मुग़ल राज्य कालीन पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका खण्डन करते हुए अपना ग्रन्थ लिखा। भट्टो जी दीक्षित को मरने के बाद भी यह खण्डन सहन नहीं हुआ। अत: उन्होंने अपने वंशज को आज्ञा दी कि वह उसका प्रतिवाद लिखे। उसने कहा, भला मैं पण्डितराज जगन्नाथ के ग्रन्थ का खण्डन कैसे कर सकता हूँ ? वे बोले, 'यह कुछ नहीं। तुम रोज रात को अमुक पेड़ के नीचे आ जाया करो। मैं स्वयं तुम्हें प्रतिवाद ग्रन्थ लिखा दूँगा।' इस प्रकार एक नया ग्रन्थ 'चन्द्रोदय टीका' तैयार हुआ और भट्टो जी दीक्षित ने अपने पक्ष का मण्डन (मरने के बाद भी) किया।

शास्त्र वासना भी एक वासना है, और बहुत बार तो एक लौकिक वासना है, इसलिए एकदम निरापद कभी नहीं हो सकती। बहुधा विद्वान् इसलिए उपहासास्पद हो जाते हैं, कि अपनी बौद्धिक उड़ानों में वे जो कुछ प्रतिपादित करते हैं, तदनुसार ढला हुआ उनका जीवन नहीं दिखाई देता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् समालोचक और कवि सैमुएल् जॉन्सन् ने एक विशद कविता लिखी 'मानव अभिलाषाओं की व्यर्थता।' अन्य वासनाओं की तरह शास्त्र वासना की भी व्यर्थता किसी सोपान पर जाकर सिद्ध होती है। वह अपवाद रूप नहीं है। जो विद्वान् अपने विचारों पर स्वय ही आचरण नहीं कर पाता, वह यह आशा कैसे कर सकता है कि उसके विचार पाठकों के जीवन को प्रभावित करेंगे।

इसीलिए श्री शंकराचार्य जी ने 'शास्त्र व्याख्यान कौशल' को भी कहा है कि वह भोग के लिए है, मोक्ष के लिए नहीं, 'भुक्तए न तु मुक्तए।' (विवेक चूड़ामणि)

इसलिए शास्त्र प्रवृत्ति भी अपेक्षाकृत अच्छी भले ठहरेगी, एकदम निर्दोष या निर्मल नहीं।

जहाँ विशुद्ध परोपकार (व निःस्वार्थ) भाव से कोई सेवा की जाती है, मन से, वचन से या कर्म से, वहाँ रुचि विमलतर है। परन्तु मान बड़ाई ईर्ष्यादि विकारों से रहित विशुद्ध सर्वभूत हित की दृष्टि से की हुई सेवा विरल ही देखी जाती है। वह मुक्त पुरुष का ही क्षेत्र है। साधारण परोपकार कार्य के साथ कुछ न कुछ मलिन वासनाएँ जुड़ी रहती हैं या जुड़ जाती हैं।

श्री स्वामी रामतीर्थ एक बार अमैरिका के एक पार्क में विश्राम कर रहे थे। किसी ने उनसे कहा, 'क्या काहिल (आलसी) पड़े हो? जाओ कुछ अच्छा काम करो।' वे बोले, 'जहाँ तक अच्छा काम करने का सवाल है क्या उस पेशे में अभी भी बहुत भीड़ नहीं है?' तो वासना कैसा भी वेश बनाकर आए वह विशुद्ध कभी नहीं होती। सन्तों की रुचि निर्मल इसलिए होती है कि वह निर्वासनिक होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वासना और उससे प्रेरित कार्यों की एकान्तिक निन्दा व्यावहारिक दृष्टि से ठीक न होगी, समाज में बहुत सा आवश्यक कार्य वासनाओं के वश होकर ही किया जा रहा है, बहुत से उपयोगी कार्य भी ऐसे ही हैं, अत: प्रेरणा का नाश नहीं शुद्धि चाहिए। प्रेरक रुचि जितनी निर्मल हो जाय उतना ही अच्छा, क्योंकि रुचि की मलीनता से अनर्थ परिपाक होगा।

एक महान् मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने लिखा था—'यदि मानव की सहज प्रवृत्तियाँ और तत्सम्बन्धी संवेग हटा लिए जायँ तो शरीर उसी प्रकार निश्चेष्ट पड़ा रहेगा, जैसे वह घड़ी जिसकी बालकमानी निकाल ली गई हो।' परन्तु साधारण मनोवैज्ञानिक की अनुभूत सृष्टि के परे एक और दुनिया है, जहाँ वासना की प्रेरणा है ही नहीं। उस दुनियाँ वाले प्राय: दिव्य शरीरधारी हैं, परन्तु मानव शरीर धारी कुछ व्यक्ति भी उस दुनियाँ के सदस्य हैं। इन्हें वासना की प्रेरणा बिल्कुल नहीं है।

ऐसा नहीं है कि ये कर्म नहीं करते। इनका जीवन बालकमानी रहित घड़ी की तरह बिल्कुल निश्चेष्ट नहीं होता। कभी कभी तो इनकी सक्रियता आश्चर्यजनक होती है—उदाहरणार्थ आदि शकराचार्य का जीवन, स्वामी विवेकानन्द व स्वामी रामतीर्थ का जीवन, श्री महर्षि अरविन्द का जीवन। ऐसे सन्त अति विमल रुचि वाले होते हैं।

श्री महर्षि अरविन्द के दर्शन में समझाया गया है कि विशुद्ध लोकोपकार या लोकोद्धार कार्य अभिमान् सहित नहीं होता। अभिमान विसर्जन के बाद भगवत्प्रेरणा से ही होता है। श्री अरविन्द दर्शन में कहा गया है कि भागवत सत्ता (भगवान् की शक्ति) तो जगत् के उद्धार में प्रवृत्त है ही, यदि हम अस्मिता (अभिमान्) विसर्जित करके अपने को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसके समर्पित कर दें तो वह शक्ति हमारे अन्तःकरण के माध्यम से भी कार्य करेगी। अति विमल रुचि तो वही है जो उस समय प्रकट होगी। सारांश यह है कि जो भगवत्प्रेरित रुचि है वह अति निर्मल है, शैतान प्रेरित रुचि मलीन है, मायाकृत वासना से प्रेरित रुचि मलीन है। कुरान के आदि में प्रार्थना है—इहदि नस् सिरातुल मुस्तक़ीम। (हे ईश्वर मुझे सीधी राह ले चल।' और कुरान् के लगभग अन्त में प्रार्थना है कि 'मुझे शैतान के वसवसे (दुष्प्रेरणा) से बचा।' बाइबिल में भी प्रार्थना की गई है कि 'हे प्रभु! मुझे प्रलोभनों से बचाकर शुभ मार्ग में ले चल।'

वेद में भी कहा है—

अग्ने नय सुपथा राये। हे अग्निदेव मुझे सत्पथ पर ले चलिए।

मनः सूक्त के ६ मन्त्रों में से हर एक के अन्त में कहा है—

'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

इस प्रकार भगवत्सत्ता प्रदत्त रुचि ही निर्मल रुचि है।

श्रीमद्भागवत के वेणुगीत नामक दशम स्कन्ध के एक्कीसवें अध्याय में गोपियों ने वंशी माधुरी का अपूर्व वर्णन किया है, इसमें वे यह प्रश्न उठाती हैं कि—

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधर सुधरमपि कोपिकानां
भुंक्ते स्वयं यदवशिष्टरसं हृदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः।
(१०.२१ ६)

अरी गोपियों! इस वंशी ने कौन सा पुण्य किया है कि यह बराबर भगवान् के ओठों से लगी रहती हैं। गोपियों के लिए जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्रीकृष्ण का अधरामृत है उसे यह स्वयं पी लेती हैं ? बचा खुचा रस हम लोगों को मिलता है ।

रसिक जनों ने इसका उत्तर दिया है । वंशी ने अपने अन्त:करण को बिल्कुल खाली कर दिया है, अपने को भगवान् के हाथो में समर्पित कर दिया है, अब उसमें से अपना कोई स्वर नहीं निकलता । जो स्वर लहरी भगवान् भरते हैं, वही उसमें से निकलती है । अत: वंशी को यह सौभाग्य प्राप्त है ।

यदि हम लोग भी इस तरह भगवान् को अन्त:करण समर्पित कर दें और भगवान् की प्रेरणा ही उसमें काम करे तो हम भी भगवान् से अभिन्न हो सकते हैं । फिर भगवान् की ही इच्छा और लीला से जो रुचि प्रगट होगी, वह अति विमल होगी ही ।

मानस का मल क्षीण हो जाने पर विमल रुचि देखी जाती है, परन्तु मल के एकदम नष्ट हो जाने पर तो अति विमल रुचि होगी ही इसमें कोई सन्देह नहीं ।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं—

नयन मलिन पर नारि निरखि, मन मलिन विषय संग लागे ।
हृदय मलिन वासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे ।।
पर निन्दा सुनि श्रवन मलिन भए, वचन दोष पर गाए ।
बहु प्रकार मल भार लाग, निज नाथ चरण विसराए ।।

(वि०प०)

विषयासक्ति ही मन का मैल है, वासनाएँ ही हृदय का मैल हैं, मान मद ही वह मैल है, जिसके कारण हम भगवान् से अलग रहते हैं और भजन का वास्तविक सुख नहीं पाते ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काम विकार के प्रताप से स्त्री शरीर में अत्यन्त रमणीयता और सुख का आभास होता है, उससे हमारी रुचि बिगड़ जाती है—

ज्यों चितई परनारि सुने चातक प्रपंच घर घर के।
त्यों न साधु सुरसरि तरंग, निरमल गुरगन रघुवर के॥
चन्दनि चन्द्र बदनि पट भूषन, ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति पद कमल परस को तनु पातकी न तरस्यो॥

(वि०प०)

यह मन का बिगाड़ है जो हमें अल्प (सीमित, क्षुद्र, अनित्य) में आसक्त कर देता है और भूमा (अनन्त, व्याप्त, चिरन्तन) से अलग रखता है, उसकी क़दर करने लायक नहीं रहने देता। अतः यह मन की मलीनता है। श्री विल्व मंगल जी ने तो नारी रूप के आकर्षण से अलग रहने के लिए अपनी आंखें ही फोड़ ली थीं, परन्तु भगवान् के अपार सौन्दर्य का दर्शन करते हुए मस्त रहने का अधिकार और अवसर प्राप्त किया था। श्री विल्वमंगल जी माधुर्य के सागर भगवान् श्रीकृष्ण के रूप के ही प्रेमी हो गए थे—

बालं नीलममी वयं मधुरिम स्वाराज्य माराध्नुमः।

(श्रीकृष्ण कर्णामृत)

श्री सूरदास जी महाराज भी बाहरी शोभा व नारी सौन्दर्य नहीं देख पाते थे, लेकिन जो दिव्य दर्शन उनको होता था, उसके कारण उनके पदों में जो अलौकिकता, सजीवता, विशदता प्राप्त है, उसे देखकर लौकिक दृष्टि रखने वालों को आश्चर्य होता है कि कोई अन्धा व्यक्ति ऐसा सजीव व सचित्र वर्णन कैसे कर सकता है! इसलिए सूर पंचशती के अवसर पर एक कवि ने (जो कि स्नातक कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाते हैं) अत्यन्त प्रेम से एक पद श्री सूरदास जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा है, जिसमें कहा है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सूर तुम्हारी दृष्टि मिले तो, दोनों नयन निछावर कर दूं।
('सुकवि विनोद' मासिक सितम्बर ८०)

श्री गोस्वामी जी स्वयं पत्नी के व्यंग्य से प्रभावित होकर, नारी आकर्षण से विरत हो गए और भगवद्रूप रसिक हो गए—

कटती है रघुनाथ संग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेश।।

इस दोहे से गोस्वामी जी अपनी पत्नी के प्रति कृतज्ञ सिद्ध होते हैं और यह कल्पना ध्वस्त हो जाती है कि राम चरित मानस में कुछ (प्रतीतित: स्त्री विरोधी) वचन इसलिए पाये जाते हैं कि श्री गोस्वामी जी पत्नी से व्यथित थे और उन्हें नारी वर्ग से वितृष्णा हो गई थी। अन्य सन्त भी जो घटना क्रम से नारी सौन्दर्य को छोड़कर भगवान् के रूपामृत सागर में मग्न हो गए, सम्बन्धित नारी से व्यथित नहीं हुए। श्री विल्वमंगल जी का 'श्रीकृष्ण कर्णामृत चिन्तामणिर्जयति' (चिन्तामणि की जय हो) से प्रारम्भ होता है, और श्री जयदेव जी ने श्री गीत गोविन्द के आरम्भ में ही 'पद्मावती चरण चारण चक्रवर्ती' लिखा है। यहाँ ग्रहणीय विचार यह है कि हाड़ मांस के देह में आसक्ति होना मन का मैल है, इसके धुल जाने पर ही मगवद्रस की बहार आती है। कार्य रूप (परिणाम रूप) जो शरीर है, ऐसे एक शरीर में पूर्ण (भगवान्) की तरह बुद्धि रखकर आसक्त हो जाना, यह तामसिक ज्ञान है। (गीता १८.२२)

इसी तरह लोभ भी मन का विकार (मैल) है। तमाम गुण किसी में हों, परन्तु थोड़ा लोभ भी हो तो वह उन गुणों को विगाड़ देता है—

लोभ: स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्।
(श्रीमद्भागवत)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

थोड़ा सा लोभ उन गुणों का घात कर देता है, जैसे श्वेत कुष्ठ का एक दाग किसी रूपसी के सौन्दर्य का व्यर्थ कर देता है। कोई वकील या डाक्टर अपने काम में अत्यन्त निपुण क्यों न हो, परन्तु यदि वह लालची समझा जाता है तो लोग उससे बचना ही चाहते हैं।

गुण सागर नागर नर जोऊ। अल्प लोभ भल कहै न कोऊ॥

(रा०च०मा०)

क्रोध पित्त के समान दाहकारी है।

मानस रोग के प्रसंग में श्री राम चरित मानस में विकारों का वर्णन है ही। रोग रूप मनोविकार मन को स्वच्छ और स्वस्थ नहीं रहने देते।

जैसे दैहिक प्रणय के लिए स्वस्थ और स्वच्छ निर्मल शरीर अभीष्ट है, वैसे भगवदीय प्रेम के लिए निर्मल मन की आवश्यकता है, अतः जिन लोगों को उस प्रेम का चस्का लग जाता है, वे मन की निर्मलता की रक्षा सावधानी से करते हैं।

निरमल मन जन सो मोहिं पावा।

(रा०च०मा०)

इसलिए जिनके मन में मल बिल्कुल नहीं रहा वही श्रेष्ठ सन्त हैं, और उन्हीं का मन अपने मालिक (स्वामी) में अनुरक्त और मग्न रह सकता है।

आई जो उनकी याद तो आती चली गई।
हर नक्शे पा को दिल से मिटाती चली गई॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शास्त्र का उपदेश है—

देहेस्थि माँस रुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं ।
जाया सुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं ।
वैराग्य राग रसिको भव भक्तिनिष्ठः ।।

[श्रीमद्भागवत माहात्म्य ४.७९]

तथा—

तं सत्यमानन्द निधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद् यत आत्म पातः ।

[श्रीमद्भागवत २.१.३९)

अन्यत्र आसक्त न हो, क्योंकि उससे पतन होता है ,

दोहे की प्रथम पंक्ति का एकदम राजयोग परक [ध्यान प्रधान] अर्थ किया जा सकता है, और उच्च कोटि के सन्तों की दृष्टि में और संभवतः श्री गोस्वामी जी की दृष्टि में (बिना उपर्युक्त अर्थ का त्याग या खण्डन किये) वही अधिक ग्राह्य होगा। श्री गोस्वामी जी ने अत्यन्त वैराग्य पूर्ण वृत्ति से इस ग्रंथ का प्रणयन किया है और वैराग्य का उद्दीप्त करना इसका प्रयोजन जो ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। अतः वही अर्थ ग्राह्य है जो सरल होते हुए भी प्रखर वैराग्य पूर्ण चित्त को ग्राह्य लगे।

अपने इष्टदेव में मन सदा लगा रहे, यही दशा श्रेष्ठ है, इससे बढ़कर कुछ नहीं, परन्तु ऐसी दशा बिरले बिरले सन्तों में पाई जाती है।

पहली बात तो यही है कि माया मोह में फँसा हुआ मन भजन में कठोर सिद्ध होता है, वह भजन में लगता नहीं, भजन का विशेष रस उसे मिलता नहीं, अतः हठ पूर्वक या अभ्यास पूर्वक पूजा पाठ भले करे विशेष शौक से नहीं कर पाता। अन्तःकरण ज्यों ज्यों शुद्ध होता जाता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, विषयों में रुचि नहीं रहती, भजन में रुचि बढ़ती जाती है। रुचि पूर्वक भजन करने वाले भी अति निर्मल रुचि नहीं रख पाते, वह अति दुर्लभ है। अति निर्मल रुचि में भजन की परमानन्द की दशा है, भजन का कुछ भी अन्य प्रयोजन नहीं। जब जगत् की कोई भी आवश्यकता उसके किसी सुख का कोई महत्व नहीं रह जाता, वासनाएँ नितान्त क्षय को प्राप्त हो जाती हैं, तब भजन की अति निर्मल रुचि अहर्निशि बनी रहती है, तभी अपने स्वामी के प्रेम में मन लगा रहता है, (उसे लगाना नहीं पड़ता)। इस प्रकार जो अति कोमल है, अति अमल रुचि है, और जिसके मन में वासनाओं का मल बिल्कुल नहीं है, उसी का मन दिन रात अपने साहिब में रत रहता है, दूसरे का नहीं।

सिय राम सरूप अगाध अनूप, विमोचन मीनन को जलु है।
श्रुति राम कथा मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहि को थलु है॥
मति रामहि सों गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को थलु है।
सबकी न कहैं, तुलसी के मते, इतनों जग जीवन को फलु है।
(कवितावली उत्तरकांड)

जगत् से वैराग्य और भगवान् से अनुराग एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह हैं। पक्के और सच्चे वैराग्य के बिना प्रेमा (या परा) भक्ति की बहार नहीं आती।

जेहि लागि विरागी अति अनुरागी विगम मोह मुनि वृन्दा।
(रा०च०मा०)

श्री रूप गोस्वामी जी की दृष्टि में ऐसे सन्त ही हरि भक्ति रसामृत सिन्धु की गहराई में रहने वाली मछलियाँ हैं, जिनको उन्होंने नमस्कार किया है।

राम सुप्रेम पियूष हृद, तिनहु किए मन मीन।

यह है वह दशा जिसमें—

तुलसी रत मन होइ रहै, अपने साहिब माहिं।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाके मन ते उठि गई, तिल तिल तृस्ना चाहि ।
मनसा वाचा कर्मना, तुलसी बंदति ताहि ॥२६॥

जिसके मन से तृष्णा बिल्कुल मिट गई है, तिलभर, जो भर या लवलेश मात्र भी नहीं रह गई है, श्री तुलसीदास जी मन वचन कर्म से (तीनों प्रकार से) उस सन्त की वन्दना करते हैं ।

श्री गोस्वामी जी सन्तों के वैराग्य और प्रभु अनुराग की दशा के वर्णन में उच्चतर सोपानों की ओर अग्रसर होते जाते हैं । । पक्का वैराग्य ही दिव्य प्रभु प्रेम की आधार शिला है । बिना वैराग्य के न ज्ञान प्राप्ति है न प्रभु प्रेम की प्राप्ति है ।

प्रारम्भिक सोपान पर जो भक्त होता है, वह न संसार के तमाम कामों से अलग है, न वासनाओं से । जैसे और सब काम हैं, वैसे ही पूजा पाठ भी उसका एक काम है । कभी कभी तो किसी नए साधक के लिए यह बहुत कम जरूरी काम भी रहता है । इस काम में एक दो दिन नागा हो जाय, काम न किया जा सके तो कोई हानि नहीं जान पड़ती । फिर इस काम के आदी (अभ्यस्थ) हो जाने पर इसकी खटक हो जाती है, उसमें रुकावट पड़ना अच्छा नहीं लगता । धीरे धीरे सन्तों की कृपा से भजन बहुत जरूरी काम बन जाता है । तब उसे शौक से किया जाता है ।

वे बड़भागी हैं जिनके लिए भगवत्स्मरण अत्यन्त प्रिय तथा महत्वपूर्ण कार्य हो गया है, उन्हें भजन की उत्कृष्ट दशाओं के प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करने का शौक हो जाता है और उसके लिए अधिकाधिक वैराग्य धारण करते हैं।

प्रारम्भ में तो लौकिक वासनाओं के पूरा करने की साध रहती है। भजन की भी सार्थकता इसी में जान पड़ती है कि वह लौकिक दुःख निवारण और सुख प्राप्ति में सहायक हो। परन्तु भजन के मार्ग में आगे बढ़ने पर यह समझ में आता है कि भगवान् व्यवहार के लिए नहीं हैं, व्यवहार भगवान् के लिए है। भजन इसलिए नहीं करना है कि व्यावहारिक सुविधाएं बनें, बल्कि व्यावहारिक परिस्थितियों का भगवान् के लिए उपयोग होना चाहिए। सुख की स्थिति है, तो साधनों का भगवत्सेवार्थ प्रयोग करें, दुःख की स्थिति है तो आर्त भाव से भजन कर सकते हैं, परन्तु आदर्श सन्त रहनि तो वही है कि—

परिहरि देह जनित चिन्ता सुख दुःख सम बुद्धि सहौंगो।
(वि०प०)

'समत्वमाराधनमच्युतस्य' प्रह्लाद।

श्री रामप्रसाद शरण जी 'दीन', उच्च कोटि के सन्त, भगवत्प्रेमी कवि व कथावाचक थे। उनका एक छन्द निम्नवत है—

चाहे कुबेर की सम्पत्ति होय, चहै विधि द्वार ही द्वार फिरावै।
'दीन' इव मूख होय चहै, बहु शास्त्रन को पढ़ि लोक रिझावै॥
चाहे अरोग रहैं नित ही, चहै रोगी ह्वै सारी ही बैस बितावै।
देह धरे को यही फल है, जो विदेहजा के पति को यश गावै॥

सात टूक कोपीन में अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी रघुवर हिय बसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन॥
(दोहावली)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो त्रिभुवन के वैभव को प्राप्त करने के लिए लव या अर्ध निमेष के लिए भी भगवच्चरणाविन्द से चित्त को चलायमान नहीं करता, वही अग्रगण्य वैष्णव है। (श्रीमद्भागवत ११.३.५३)

हम लोग जब तक अपनी वासनाओं को पूरा करने की हसरत रखते हैं, हमारी चित्तवृत्ति भगवच्चरणारविन्दों में अचल कैसे हो सकती हैं ? श्री रूप गोस्वामी जी का प्रश्न है कि जब तक भोग व मोक्ष की स्पृहा रूप पिशाची हृदय में नाच रही है, तब तक हरि भक्ति का अभ्युदय कैसे होगा ? [श्री हरि भक्ति रसामृत सिन्धु] जैसे चिराग की लौ हवा से चंचल होती है, निवात स्थान पर रक्खे हुए दीपक की लौ हिलती नहीं, उसी प्रकार योगी की चित्तवृत्ति 'विषय बयार' के अभाव में नहीं डिगती [गीता ६.१९] जब तक कोई न कोई वासना है, तत्सम्बन्धी संकल्प उठते रहेंगे, वृत्ति डिगेगी, 'अलोलचित' [वि०प०] होकर अर्थात् निश्चल चित्त से भगवान् का स्मरण न हो सकेगा। जिसे ध्यान का मजा आ गया वह कोई भी विक्षेप सहन नहीं करना चाहता, परन्तु विषयासक्ति के रहते हुए निर्विक्षेप दशा तो चलेगी नहीं, अतः भजन का शौक रखने वाले निर्वासनिक दशा के इच्छुक हो जाते हैं।

जीव की वासनाएँ बहुत सी होती हैं, परस्पर विरोधी भी होती हैं, इनको पूरा करके शान्त नहीं किया जा सकता। इनके कारण सामाजिक और नैतिक क्षेत्र में बहुत सी जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। उनके अतिरिक्त ध्यान प्रधान सन्त के लिए वासनाएँ विक्षेप प्रस्तुत करती हैं। इसलिए अपने इष्ट में मग्न रहने की सुविधा नहीं बनती।

वासनाएँ जागृत, स्वप्न, प्रसुप्त भेद से तीन प्रकार की मानी गई हैं। जो वासना चेतन मन में बलशाली होकर क्रियमाण है वह जागृत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वासना है, यह स्पष्ट प्रमुख और प्रबल है। जो वासना अर्धचेतन मन में क्षीण जान पड़ती है प्रबल होकर क्रियमाण नहीं है, वह स्वप्न वासना है। परिस्थिति बदलने पर वह जागृत हो सकती है। ऐसी भी वासनाएँ हैं, जिनका चेतना मन में कोई अस्तित्व नहीं है, परन्तु बीज रूप से अन्तःकरण में दबी पड़ी हैं। विविधि प्रकार के बीज पृथ्वी में दबे पड़े हैं, अनुकूल ऋतु व परिस्थिति पाकर अंकुरित होते हैं, इसी प्रकार बीज रूप में विद्यमान् वासनाएँ अज्ञात रहती हैं, प्रसुप्त हैं, परन्तु अनुकूल परिस्थिति में वे जागृत हो जाती हैं।

जिसके मन में जागृत लौकिक वासनाएँ बहुत हैं, उसका मन भगवान् के ध्यान में नहीं लगता। वृत्ति रूपी दीप शिखा चंचल रहती है, विषय वासना की हवा से लौ हिलती रहती है, ध्यान में ठहरती नहीं। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (योग सूत्र ३/१, तत्रप्रयैकतानता ध्यानम्। (योग सूत्र ३/२) वृत्ति इधर उधर जाय तो उसे बार-बार लौटाकर अभीष्ट वस्तु में लगाना यह प्रत्याहार है। एक ही विषय में उसे ठहराए रहना धारणा है। और उसमें अखण्डता आ जाय, वृत्ति बराबर अभिलषित वस्तु में लगी रहे यह ध्यान हैं।

जहाँ जागृत वासनाएँ नहीं होती, वहाँ अर्ध चेतन की वासनाएँ विघ्न करती हैं, इसलिए कम सही परन्तु विक्षेप रहता है। सुसुप्त वासना तुरन्त विघ्नकारी नहीं परन्तु वह सम्भावित विघ्न है, आगे विक्षेप उपस्थित कर सकती है।

उपासना विक्षेप की निवारक मानी गई है। ईश्वर की भक्ति वासना को दूर करती है और समाधि को सुलभ बनाती है। समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् (योग सूत्र २.४५)।

जीव साधना के जिस स्तर पर होता है तदनरूप वासनाएँ जाग्रत होती हैं। इसको यों भी कह सकते हैं कि वासनाएँ प्रकृति के तीन गुणों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
के अनुरूप जागृत होती है। तमो गुणी को निन्द्रा आलस्य और प्रमाद की वृत्तियाँ होती हैं, रजो गुणी को भोग, ऐश्वर्य, धन, बल, मद' मात्सर्य, दर्प, अभिमान् आदि की वृत्तियाँ होती हैं। सतो गुणी को प्रेम, मैत्री, मुदिता, उपेक्षा आदि की वृत्तियाँ होती हैं, तद्नुकूल वासनाएँ भी उठती हैं प्रत्येक व्यक्ति में प्रकृति के तीनों गुण विद्यमान हैं परन्तु प्राय: एक की प्रमुखता रहती है। यह गुणों का समिश्रण सदैव एक सा नहीं रहता, यह बदलता रहता है। उसी हिसाब से वासनाओं में भी परिवर्तन होता है।

तमोगुणी व्यक्ति निद्रा, आलस्य, प्रमाद, क्रोध आदि के वश में होने से निश्चल चित्त नहीं रख पाता है और इसलिए भगवान् के ध्यान के लिए बहुत अंशों में अयोग्य ठहरता है। निद्रा और तन्द्रा समाधि के सुविदित विघ्न हैं। रजो गुणी का चित्त अशान्त रहता है। रजोगुण में क्रिया है चचलता है अस्थिरता है। इसलिए रजोगुण के वश हुआ चित्त चिन्ता से व्याकुल रहता है ध्यान में स्थिर नहीं रह पाता है। सतो गुणी चित्त में ही सच्ची भगवान् की भक्ति या ज्ञान का उदय हो सकता है। सतो गुण चित्त की स्थिरता के अनुकूल है। सतो गुणी निश्चिन्तता और शान्ति का सुख चाहता है इसीलिए कबीर ने गाया—

मनलागो मेरो यार फकीरी में,
जो सुख पाया राम भजन में, सो सुख नहीं अमीरी में।

सतो गुणी व्यक्ति का चित्त विषयों के सुख से हटने लगता है और शान्त रस में डूबा रहना चहता है।

दम्भिकों की बात छोड़ दें तो यह देखा जायगा कि भगवान् के भक्त और ध्यानी सन्त सब सतो गुणी होते हैं। इसीलिए भगवान् की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भक्ति का रस और आध्यात्मिक आनन्द उनसे सधता है और उन्हें अनुकूल पड़ता है। सब लोग जिनमें सतो गुण प्रमुख होता है भगवान् के ध्यान में मग्न नहीं दिखाई देते। सतो गुण के अनुरूप भी कुछ वासनाएँ होती हैं और बड़े बड़े प्रतिभाशाली सतोगुणी व्यक्ति इन वासनाओं के पूरा करने में संलग्न दिखाई पड़ते हैं। इतना हो है कि सतोगुण से सम्बन्धित वासनाएँ प्रायः समाज हितकारिणी दिखाई देती हैं और इसीलिए वे प्रशस्त मानी गई हैं। ऐसे लोग मिलेंगे जो इन वासनाओं का रहना और प्रमुख रहकर सक्रिय होना ही कल्याणकर मानते हैं। वे ऐसी वासनाओं का होना निर्वासनिक दशा से श्रेष्ठ मानते हैं। देश का उद्धार करना, परतन्त्र देश को स्वतन्त्र करना, धर्म या राष्ट्र के हित के लिए बलिदान करना, दीन दुखियों की सेवा करना, यज्ञादि करना, शास्त्राध्ययन करना, शास्त्र विवेचन, व्याख्यान, प्रवचन, कथा, पूजा पाठ आदि में लगे रहना, या अपने मित्रों सम्बन्धियों, अनुयायियों से इस प्रकार के अच्छे काम कराना, सम्पन्न होने पर अत्यन्त दानशील होना अथवा अपने प्रभाव से दान कराना, रोगियों, वृद्धजनों, फकीरों आदि की सेवा करना, यह सब सतो गुणी कार्यक्रम हैं। इनमें जो व्यक्ति अत्यन्त सक्रिय रहते हैं वे महान् पुण्य अर्जित करते हैं। कभी कभी तो ऐसे लोगों के पुण्य अपरिमित दिखाई देते हैं, उनका हिसाब नहीं लगाया जा सकता, वे अपार मालूम होते हैं। तथापि यह मानना पड़ेगा कि ऐसे सक्रिय लोगों को भी प्रायः भगवान् के ध्यान में मग्न रहने की सुविधा नहीं रहती या कम रहती है।

यद्यपि ऐसे पुण्यवान् लोग समाज को बहुत पसन्द आते हैं परन्तु योगियों की सूक्ष्म दृष्टि से यह सक्रिय दशा एकदम निरापद नहीं है। इसमें भी कुछ आशंकाएँ हैं जो साधारण मनुष्य के विचार में नहीं आतीं और यह सम्भव है कि सक्रिय पुण्यवान व्यक्ति भी इन सूक्ष्म बातों की उपेक्षा कर दें।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक तो जो व्यक्ति सतोगुण में स्थित है और उसमें आसक्त भी है उसके कार्यक्रम में यदि विरोधी तत्वों द्वारा रुकावट पड़ी तो विरोध, प्रतिरोध, संघर्ष, प्रतिशोध आदि के आने की सम्भावना रहती है। यह सम्भव हैं कि कोई व्यक्ति सतोगुणी कार्यक्रम की रक्षा के लिए ही रजो गुणी वृत्तियों को अपना ले। इस प्रकार सतो गुण से रजोगुण के स्तर पर उतर आना सम्भव है।

सतो गुण की भी एक उच्च दशा होती है जिसमें अपने कार्यक्रम में विघ्न पड़ने पर या अपने सतोगुणी साधन में विघ्न डाले जाने पर भी प्रतिरोध, विरोध या संघर्ष नहीं होता। इसीलिए सतो गुणी वृत्तियों में उपेक्षा पाई गई है विरोध नहीं। जिस सतो गुण में स्थित हुआ व्यक्ति सतो गुण की रक्षा के लिए भी रजो गुणी तमो गुणी वृत्तियों को नहीं धारण करता, बल्कि विरोधी तत्वों की उपेक्षा ही करता है उसी व्यक्ति का सतो गुण अधिक सुरक्षित है। शुद्ध सतो गुणी कभी व्यवहार में प्रवृत्त भी देखा जा सकता है, परन्तु वह क्रोध आदि विकारों के वश में नहीं होता। उसका चित्त शान्त रहता है। उसका मन भगवान् के ध्यान के लिए अधिक अनुकूल होता है ऐसे उच्च कोटि के सन्त कहीं कहीं मिलते हैं कि जो सतोगुणी कार्यों प्रवर्तक, संरक्षक, प्रेरक या संचालक भी हैं और पर्याप्त समय तक भगवान् के ध्यान में लीन भी रहते हैं। इन लोगों में इनका कार्यक्रम या उससे सम्बन्धित चिन्ताएँ इनके ध्यान के लिए प्रायः विघ्नकारी नहीं सिद्ध होतीं। इसका कारण यह है कि इनके सतोगुणी कार्य निर्वासनिक होते हैं और ध्यान के लिए विक्षेपकारी वासना होती है न कि किया हुआ या कराया हुआ कार्य। इसलिए जिनकी वासनाएँ शान्त हो गई हैं वे निर्विघ्न भजन कर सकते हैं। उनके ध्यान में विक्षेप नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि ध्यान के उच्चतर सोपानों पर वासना का क्षय अत्यन्त आवश्यक है ज्यों-ज्यों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वासना समाप्त होती जाती है अपने इष्ट के ध्यान में मग्न रहने की भूमिका बनती जाती है।

सतो गुणी संकल्पों की पूर्ति में भी समय और शक्ति लगती है, सम्बन्धित विषय का चिन्तन करना पड़ता है, भगवान् से प्रार्थना करने का भी नम्बर आ सकता है। यह सब कुछ अनर्थकारी तो नहीं है, परन्तु इसकी प्रशस्ति केवल सामाजिक दृष्टि से है। शुद्ध, ऊँचे, हितकारी प्रयोजनों के लिए सिद्धि या प्रतिभा के भरपूर उपयोग की भी लालच होती है। उच्च सोपानों पर योगी सत्य-संकल्प होता जाता है, उसके संकल्प सफल होकर रहते हैं, परन्तु शक्ति का व्यय तो होता ही है। यह आशंका भी रहती है कि व्यक्ति अपने वर्तमान् सोपान पर अटका रहेगा और प्राप्त शक्ति का उपयोग करता रहेगा। इस प्रकार शक्ति या सिद्ध भी अन्तराय (विघ्न, बिक्षेप) का काम कर सकती है।

साधक जिस स्तर पर रहकर परोपकारादि के कार्यों में लगता है, उस स्तर की शक्तियों के प्रयोग में उच्चतर सोपान का साधन प्रायः रुका रहता है। इसके अतिरिक्त संसार को सत्य मानकर ही परोपकार आदि कार्यों की सार्थकता है, स्वप्नवत् जानकर नहीं। दृश्य में सत्य बुद्धि या पदार्थ बुद्धि होने से वह अज्ञान की भूमिका में टिका ही रहेगा।

आत्म निवेदन भक्ति की दृष्टि से भी अपना निजी संकल्प और कार्यक्रम अनन्य शरणागति और आत्म निवेदन के विरुद्ध पड़ता है।

सन्तों का यह भी कहना है कि बद्ध जीवों को आराम देने का कार्य एक प्रकार से जेल सुधार कार्यक्रम की ही तरह है। आराम देना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तो अच्छा है, परन्तु असली हित तो कारागृह से मुक्ति है, न कि कारागृह के भीतर की सुविधाएँ। इसलिए जीवों का असली उपकार उनको मुक्त करना है। मुक्त पुरुष ही उन्हें मोक्ष में सहायता दे सकते हैं, बद्ध पुरुष नहीं।

उपर्युक्त तर्क तो अपनी जगह पर ठीक हैं परन्तु वे सब उस दशा में लागू नहीं होते जहाँ कार्य प्रभु प्रेरणा से या गुरु या सन्त की प्रेरणा से किया जाता है अपने संकल्प और अभिमान पूर्वक नहीं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग में सभी वृत्तियों का निरोध है, शरणागति में निज संकल्पों का पूरा त्याग, ज्ञान में जगत् को स्वप्नवत् देखने पर, जागा हुआ व्यक्ति स्वप्न की किसी वस्तु का सेवन नहीं करता है। इसलिए कहा है—

सकल्पाद् विरमेत् कविः।
सर्व सकल्प सन्यासी योगारुढ़स्तदुच्यते। (गीता)
न ह्यसंनस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन। (गीता)

एक बहुत बड़े सन्त स्वामी आत्मानन्द-जी तहसील जलालाबाद जिला मुरादाबाद में रहते थे। उन्होंने एक दूसरे सन्त से कहा, 'तुम दूसरे के उद्धार के फेर में न पड़ना नहीं तो मशालची हो जाओगे, मशालची।' (यानी दूसरे को प्रकाश देने के लिए सिर पर मशाल लिए हैं, स्वयं अँधेरे में हैं। उन्होंने यह भी कहा, 'जिस भगवान् ने तुम्हारा उद्धार किया है, वह दूसरों के वास्ते क्या मर गया है?'

यह तो स्पष्ट है कि इस संसार में (और अपने देश में) साधक और सिद्ध कर्म योगियों की अतीव आवश्यकता है। उनके बिना समाज का हित सध नहीं सकता, परन्तु सिद्धावस्था के व्यवहार में पड़कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर्म की प्रवृत्ति भगवत्प्रेरणा से ही होगी, वह निजी संकल्प और कामना से रहित होगी। अत: वासना त्याग में परोपकार आदि की वासना का अपवाद लगाने की आवश्यकता नहीं है।

यह भी समझ लेना चाहिए कि साधारण, आधुनिक पढ़े लिखे लोगों का यह विचार ठीक नहीं है कि एकदम निवृत्ति परायण ध्यान प्रधान सन्त मात्र परोपजीवी हैं, या समाज पर बोझ हैं, अथवा अपने लिए चाहे जितने ऊँचे और अच्छे हों, समाज के लिए व्यर्थ हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज का पढ़ा लिखा समाज न कर्म-योग पर आरुढ़ हो सके, न कर्म सन्यास मार्ग की कदर कर सके। श्री वैराग्य संदीपनी जैसे 'पूरन शास्त्र विचार' 'वेदन पुरान मत' युक्त तथा 'अखिल ज्ञान को सार', सूत्र ग्रन्थ के श्रवण, मनन, अध्ययन का यह परिणाम आना चाहिए कि हमारी वासनाएँ शान्त हों और यदि हम कर्मयोग के साधक हों (न कि केवल उसके वाचिक ज्ञानी) तो भी कर्म सन्यासी, राजयोगी, ध्यान प्रधान सन्तों के गौरव को भी हम समझ सकें।

प्रस्तुत दोहे में तृष्णा का नितान्त निरसन प्रतिपादित किया गया, आंशिक नहीं, और उसी को मन, वचन, कर्म से वन्दनीय माना गया है। अत: निवृत्ति मार्ग का गौरव इसमें प्रतिष्ठित है। वासना के एकान्तिक शमन के निरूपण पर गोस्वामी जी पहुँच गए हैं। विषयासक्त पुरुष के लिए इस गौरव की कल्पना भी कठिन है, तथापि पाठकों के लिए हितकर होगा कि दिए हुए सूत्र का अध्ययन मनन करके निर्नासनिक जीवन के महत्व को समझ लें। तभी वे श्री गोस्वामी जी के वास्तविक सन्देश को हृदयंगम कर सकेंगे। इसके लिए पहले आवश्यक होगा कि विपरीत कल्पनाओं, पूर्वाग्रहों, विरोधी पक्षपात के भावों का त्याग हो। यदि असदागृहों का त्याग न हुआ तो यह उत्कृष्ट वैराग्य का सन्देश आत्मसात् न हो सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वासना की बास नाहिं आवै लवलेस जहाँ ।
ऐसो नेह नन्दन में सानँद निबहि ले ।
('भक्त भावनी' राजेश कवि कृत)

निवृत्ति परायण, भगवन्निष्ठ, ध्यान परायण, वैराग्यपूर्ण सन्तों को परोपजीवी या समाज पर बोझ या संसार के लिए व्यर्थ मानना महान् अविवेक है ।

सच्चे भगवद्भक्त सन्त के लिए शास्त्र का मत तो कुछ और ही हैं ।

कुल पवित्रं जननी कृतार्था, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
पुत्रवती युवती जग सोई, रघुवर भगत जासु सुत होई ।
(रा०च०मा०)

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि, स्वान्तस्थेन गदाभृता ।
(श्रीमद्भागवत)

सातवँ सब मोहिमय जग देखै । मोत सन्त अधिक करि लेखें ।।
(रा०च०मा०)

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । निज अपराध रिसाहिं न काऊ ।।
जो अपराध भगत कर करई । राम रोष पावक सों जरई ।।
(रा०च०मा०)

साधवो हृदयं मह्यं, साधूनाम हृदयं त्वहम ।
मदन्यत्ते न जानन्ति, नाहं तेभ्यो मनागपि ।।
[श्रीमद्भागवत]

साधु जन मेरा हृदय हैं, मैं साधुजनों का हृदय हूँ । मेरे सिवा वे कुछ नहीं जानते, और मैं उनके सिवा कुछ नहीं जानता ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अत: अत्यन्त सावधानी से विचार करना चाहिए, जिससे हम सन्त निन्दा के पाप से बचें और उनका महत्व समझ सकें, उन पर श्रद्धा कर सकें।

परोपजीवी कौन है ? आचार्य बिनोवा भावे ने कहा है कि जो समाज से, की हुई सेवा से अधिक लेता है, वह एक सीमा तक [अधिक अंश का] चोर है, जो समाज से अपनी सेवा का उचित पारिश्रमिक मात्र लेता है वह मजदूर है, और जो अपनी सेवा के हिसाब से उचित से भी कम लेता है, वह अपनी कुछ सेवा दान कर रहा है, वह दानी है। इस मापदण्ड से यह बिल्कुल नहीं कहा जा सकता कि अपने पेशे या व्यवसाय में सामाजिक परिस्थिति का फायदा उठाकर मनमाना धन अमूल करने वाले अर्जक हैं, और समाज के लिए वरदान रूप सन्त आकाश वृत्ति से रहने पर भी परोपजीवी हैं। कोई किसी विश्वविद्यालय में धर्म और आचार शास्त्र का प्रोफेसर हो तो वह अपनी १६००) रु० की तनख्वाह अर्जित कर रहा है, यदि वह उस पद को त्याग कर निःशुल्क ज्ञान प्रदान करता है, तो क्या वह अपने योग क्षेम के साधन मात्र के मामले में भी परोपजीवी माना जायगा। पण्डित, प्रचारक, तान्त्रिक, आदि मुँहमाँगी दक्षिणा लेते हुए अर्जक माने जायें और वीतराग, अकिंचन, सन्यासी या गुरु परोपजीवी समझे जायें, तो ऐसी बुद्धि की बलिहारी है। यदि कोई साधु या सन्यासी पर्याप्त दक्षिणा लेने लगे तो क्या वह परजीवी न रहकर अर्जक बन जावगा ? वेतन या फीस लेने वाले अधिकार व आग्रह पूर्वक लेते हैं, जबकि सन्त भिक्षा पर निर्वाह करते हैं जो प्राय: टैक्स की तरह नहीं श्रद्धापूर्वक दी जाती है। सच्ची शिकायत यह नहीं हो सकती कि सच्चे सन्त शोषक (या परोपजीवी) हैं, बल्कि यह बात है कि वे शोषक नहीं हैं और एक सीमा तक शोषकों का बाजार बिगाड़ते हैं। अत: सम्बन्धित आपत्ति भ्रम और अविवेक का परिणाम है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यद्यपि आज लोग पृथ्वी की मानव जन संख्या की वृद्धि से परेशान हैं, परन्तु धर्म की दृष्टि से पृथ्वी पर पाप का भार है, जनसंख्या का नहीं।

गिरि सर सिन्धु भार नहिं मोहीं। जस मोहि गुरुज एक पर द्रोही ।।
(रा०च०मा)

सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीक परं नरं।
(श्रीमद्भागवत)

(सब कुछ मैं, पृथ्वी, सहने में समर्थ हूँ, एक मात्र झूठे आदमी को छोड़कर)।

जिस समाज में विविधि अशुभ उपायों से धन कमाने और बचाने वाले इज्जतदार हार स्वरूप (गले की माला की तरह। माने जायँ और पुण्याचरण और पुण्य प्रोत्साहन करने वाले सन्त भार रूप समझे जायँ वह समाज पतनोन्मुख है, इस दृष्टि के बदले बिना उसका उद्धार नहीं हो सकता।

वृत्ते नृपालाद्भयं (भर्तृहरि), धनी को राजा का भय है, जबकि कोपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः। (श्री शंकराचार्य)। धनाधीश को सत्ताधीश से भय है, सत्ताधीश को सच्चरित्र त्यागी से भय है। प्रसिद्ध नीति विशारद चाणक्य ने कहा है—धर्मस्य मूलमर्थं, अर्थस्य मूलं राज्यम् राज्यमूलमिन्द्रियजयः। शक्ति का असली अधिष्ठान तप है, राज्य सत्ता नहीं। सच्चे सन्त अभीष्ट क्रान्ति के उत्तम प्रेरक हो सकते हैं यथा समर्थ स्वामी रामदास जी, श्री शिवा जी महाराज के प्रेरक थे। श्री गुरु गोविन्द सिंह जी सिक्ख क्रान्ति के प्रेरक थे। अतः व्यावहारिक दृष्टि से भी सन्त समाज के लिए वरदान रूप हैं। हार रूप है, भार रूप नहीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आग लगी आकाश में, झरि झरि परत अंगार।
सन्त न होते जगत् में, तो बरि जातो संसार।।

सन्तो महान्तो विचरन्ति सन्तः वसन्तवल्लोक हितं चरन्तः।

महान् लक्ष्य लेकर सन्त जगत् में विचरण करते हैं, वसन्त ऋतु की तरह वे लोक हितकारी आचरण करते हैं। वे सब कुछ सेवा करते हुए अपने प्रभु की चाकरी करते हैं, किसी पर एहसान नहीं करते। किसी और के अधीन नहीं रहते, त्याग का आदर्श उपस्थित करते हैं।

श्याम म्हने चाकर राखो जी। (श्री मीरा जी)

हौं तो परम पुरुष को दासा। अएउ देखन जगत तमासा।।
(श्री गुरुगोविन्द सिंह जी)

सन्त उद्यम करते हैं या नहीं, नौकरी करते हैं या नहीं, धनार्जन करते हैं या नहीं, यह प्रश्न नहीं उठते, गृहस्थाश्रमी सन्त उद्यम कर सकते हैं, साधुवेश वाले नहीं करते। साधु उद्यम करे तो भी निन्दा, भिक्षा से निर्वाह करे तो भी आलोचना, सम्पन्न जीवन दिखाई पड़े तो भी निन्दा, अभावग्रस्त हो तो भी तिरस्कार, यह सब विकृत बुद्धि की उपज है, सम्यक् विचार की नहीं।

निर्वासनिक जीवन का आदर्श रखना यह सन्तों का बहुत बड़ा उपकार है—जानि लेहु जो जाननि हारा।

प्रकृति के गुणों से उत्पन्न वासेनाएँ ही संसार की तमाम समस्याओं की जन्म दातृ हैं, इन्हीं से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सब रोग, दोष,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संघर्ष विनाश आदि उत्पन्न होते हैं। वासनाओं की टक्कर एकता की घातक है—परिवार में, समाज में, राष्ट्र में, विश्व में। इसलिए वासनाओं का कम होना ही असली जन कल्याण है और समस्त होना परम कल्याण है। इस कल्याण की प्रेरणा सन्तों की रहनि से मिलती है। यह उनकी अमूल्य सेवा है।

अशेष संक्लेश शमं विधत्ते, गुणानुवाद श्रवणं मुरारेः।
(श्रीमद्भागवत)

जग मंगल गुण ग्राम राम के। दानि मुक्ति धन धरम धाम के॥
(रा०च०मा०)

श्री भगवन्नाम व भगवद्गुणानुवाद का वातावरण सन्त के दरबार में रहता है, जिससे अपरिमित लोक कल्याण होता है। सन्त जीवन से स्वतः परोपकार होता ही रहता है—

सन्त सहज स्वभाव खगराया। पर उपकार वचन मन काया॥

सन्तों के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं के त्याग के बाद हम उनके वैराग्यपूर्ण, अकिंचन, ध्यान-प्रधान जीवन और आध्यात्मिक मस्ती को समझने की कुछ पात्रता प्राप्त करते हैं।

जिन्हें प्रभु के ध्यान का आनन्द मिलता है, उनके लिए वासना (तृष्णा) वैरिणी है, क्योंकि विक्षेप रूप है, प्रभु से अलग करने वाली है। अतः वे किसी प्रकार की भी वासना नहीं रखना चाहते। जागृत वासना वर्तमान महान् विक्षेप है, स्वप्न वासना हल्का विक्षेप है, प्रसुप्त वासना भावी विक्षेप है। सम्भावित [भावी] विक्षेप भी निर्मूल हो जाने चाहिए जिसमें प्रभु का अखन्ड प्रेम स्मरण होता रहे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस अखण्ड प्रेम स्मरण का आनन्द अनुपम और अकथनीय है, कहा नहीं जा सकता। मूकास्वादनवत् (नारद भक्ति सूत्र)। कहना भी नहीं चाहिए। अंग्रेजी की एक लोकोक्ति में अप्रकाशित प्रेम को पवित्र माना है। यह है राम प्रेमामृत के सागर की मछली बनजाना। इसलिए इसकी महिमा अपार है। यह दशा सब प्रकार से वन्दनीय है।

मन से वन्दनीय है, यानी स्पृहणीय है। ऐसी दशा जिसे प्राप्त नहीं है, वह इसकी कल्पना करे, मानसिक सराहना करे, इस दशा की प्राप्ति की इच्छा करे, तो यह इसकी (इस दशा के सन्तों की) मानसिक वन्दना है। वाणी से ऐसी दशा की चर्चा करना, प्रतिपादन करना, प्रशस्ति करना, वर्णन करना, इसके साधन आदि का निरूपण करना यह वाचा वन्दना है। इस दशा में रहने वाले सन्तों की सेवा करना, इस दशा में बाधक न होना साधक होना, समाज में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ाना और स्वयं इसमें स्थित होने का साधन करना यह सब कर्मणा बन्दना है।

जिसके मन में यह दशा नित्य और सहज रूप से बनी रहती है और जिसने (विक्षेपकारी) वासनाओं को एकदम मिटा दिया है, तिल के बराबर भी बाकी नहीं छोड़ा, उस सन्त की श्री गोस्वामी जी महाराज मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों प्रकार से वन्दना करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कंचन काँचहि सम गनत, कामिनि काष्ठ पषान ।
तुलसी ऐसे सन्त जन, पृथ्वी ब्रह्म समान ।।२७।।

कांचन (सोना) और कांच (शीशे का टुकड़ा), दोनों को जो समान समझते हैं और तरुणी में और लकड़ी या पत्थर में भी समान दृष्टि रखते हैं, ऐसे सन्तजन, श्री गोस्वामी तुलसीदास जी की सम्मति में, इस पृथ्वी तल पर साक्षात् ब्रह्म के समान हैं।

कांचन और काँच को समान समझना यानी निर्लोभ होना, कामिनी को काष्ठ (काठ, लकड़ी) या पाषाण के समान समझना यानी काम विकार से ऊपर उठ जाना। जो कामिनी और कांचन के आकर्षण से एकदम ऊपर उठ गया, वह साक्षात् साकार ब्रह्म के समान हो गया।

नारि नयन सर जाहि न लागा। महा क्रोध तम निसि जो जागा।।
लोभ फाँस जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम समान रघुराया।।
(रा०च०मा०)

कान्ता कटाक्ष विशिखाः न लुनन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोप कृशानु तापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैः,
लोक त्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः।।
भर्तृहरि (नीतिशतक १०६)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शक्नोतीहैव यः सोढुम् प्राक् शरीर विमोक्षणात् ।
काम क्रोधोद्भवं वेग स युक्तः स सुखी नरः ।।
(गीता ५/२३)

काँचन और कामिनी के प्रति आकर्षण मानव का स्वाभाविक लक्षण है। जहाँ तक मानवता की भूमिका रहेगी, यह प्राकृतिक लक्षण पूर्णतः अस्त नहीं होंगे। यदि यह लक्षण बिल्कुल अस्त हो गए तो यह समझ लीजिए कि सन्त मानवता से ही ऊपर उठ गया दिव्य हो गया, अलौकिक हो गया, मुक्त हो गया, जीव नहीं रहा, शिव हो गया, ब्रह्म हो गया।

कितने ही मनोवैज्ञानिक कह देंगे कि कांचन कामिनी का आकर्षण न मिट सकता है, न मिटना चाहिए। यह मानव स्वभाव का अभिन्न अंग है तथा सभ्य सामाजिक जीवन का आधार है। ऐसे मनोवैज्ञानिक क्रोध को भी आत्म रक्षा, धर्म रक्षा, व्यवस्था रक्षा के लिए आवश्यक मानते हैं। देखने में यहाँ एकदम विपरीत भाव है। मनोवैज्ञानिक मत और शास्त्र मत दोनो कैसे ठीक हो सकते हैं? परन्तु विरोध सच्चा नही है। मानव इन विकारों के वश है यह तो शास्त्र का भी मत है। तो मतभेद कहाँ रहा? शास्त्र तो यह कहता है कि जो इन विकारों से ऊपर उठा वह मानव नहीं रहा। मानव देह धारी होने पर भी ब्रह्म हो गया। मानव मनोविज्ञान इन आकर्षणों का अतिक्रमण भले ही असम्भव मानता हो, वह ब्रह्म मनोविज्ञान तो नहीं है। भली भाँति समझ लेना चाहिए कि सिद्ध सन्तों का मनोविज्ञान मानव का मनोविज्ञान नहीं है, ब्रह्म का मनोविज्ञान है। मानव मनोविज्ञान की वहाँ पहुँच नहीं है, उसका वह कार्य क्षेत्र नहीं है। वह शास्त्र का ही क्षेत्र है। मानवता की सीमाओं में रहते हुए वह असम्भव दिखाई देता है, लेकिन इन सीमाओं से ऊपर उठाने के लिए ही शास्त्र का प्रवर्तन है। जो इन सीमाओं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में बँधा ही रहा, वह बद्ध रहा मुक्त नहीं हुआ, मोक्ष ही तो शास्त्र का प्रयोजन है।

कैदियों की दशा देखिए। जेल के भीतर वे अनेक बन्धनों में रखे जाते हैं। अतः क्या हो सकता है क्या नहीं हो सकता इस सम्बन्ध में उनकी कल्पना उन्हीं प्रतिबन्धों के अनुरूप बनती है। परन्तु कारागार से मुक्त होने पर सम्भावनाएँ बदल जाती हैं और बढ़ जाती हैं। योगी की दृष्टि में अपने संस्कारों और अपनी वासनाओं से बँधा हुआ जीव कैदी की ही तरह है। अतः सम्भावना सम्बन्धी उसकी कल्पना भी प्रतिबन्धित रहती है। माया का जो बन्धन है वह वासना का ही बन्धन है। विषयों से वैराग्य होना ही मोक्ष है—का वा विमुक्तिर्विषयेविरक्तिः (शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी) किसी जीव की जितनी वासनाएँ हैं उतनी डोरियों से वह बँधा है। जो जो वासना समाप्त होती जाय वह उस उस बन्धन के कटने के बराबर है।

यतो यतो विरज्येत, विमुच्येत ततस्ततः।
(श्रीमद्भागवत)

जहाँ जहाँ से वैराग्य होता जाय वहाँ वहाँ से वह मुक्त होता जायगा। सभी वासनाओं के अन्त होने पर जीव पूरी तरह मुक्त हो जायगा। जिस किसी चिन्तक की कल्पना हो कि सब वासनाएँ शान्त नहीं हो सकतीं उसके विचार में मोक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि वह कुछ बन्धनों को अनिवार्य मानता है।

कभी कभी यह कहा जाता है कि अस्थि और मांस से बने इस शरीर में एकदम निर्वासनिक दशा प्राप्त नहीं की जा सकती परन्तु यह याद रखना चाहिए कि यदि देह के सम्बन्ध से कभी विकार का उदय भी हो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाय तो भी योगी विकार के वेग को सहन करने में समर्थ होता है वह विकार के वश में नहीं होता है। (गीता ५/२३)

एक दूसरी बात यह है कि भगवान् के अनन्य शरणागत भक्तों का जो भगवान् की दिव्य लीला में प्रवेश कर चुके हैं रहस्यमय दिव्य शक्ति से कायाकल्प हो जाता है जिससे वह एक दिव्य शरीर में विराजमान रह कर अपनी लीला करते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह महत्व पूर्ण है कि हमारी सहज प्रवृत्तियाँ सबकी सब आत्म रक्षा और जाति रक्षा पर केन्द्रित हैं यदि हम देहाभिमान रखते रहें तो मानव जीवन की रक्षा ही आत्म रक्षा बनी रहेगी और मानव जाति सम्बन्धी अस्मिता रहने तक ही जाति रक्षा का अर्थ मानव जाति की रक्षा का रहेगा जिसके लिए प्रजनन आदि प्रवृत्तियों की आवश्यकता सिद्ध होगी। जब हमारी अस्मिता देह में न रहकर आत्म स्वरूप में होगी तो सहज प्रवृत्तियों की स्वाभाविकता और अनिवार्यता समाप्त होने लगेगी। दधीचि ऋषि ने देव रक्षा के लिए अपनी हड्डियाँ दे दीं और देह त्याग स्वीकार किया। इसी तरह क्रान्तिकारियों का गीत था—

सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए क़ातिल में है॥

अथवा—

सूख जाए न कहीं पौधा ये आजादी का।
खून से अपने इसे, इसलिए तर करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते हैं।

किसी भी बलिदानी के लिए देह रक्षा का महत्व नहीं रह जाता। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकारों की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में बँधा ही रहा, वह बद्ध रहा मुक्त नहीं हुआ, मोक्ष ही तो शास्त्र का प्रयोजन है।

कैदियों की दशा देखिए। जेल के भीतर वे अनेक बन्धनों में रखे जाते हैं। अतः क्या हो सकता है क्या नहीं हो सकता इस सम्बन्ध में उनकी कल्पना उन्हीं प्रतिबन्धों के अनुरूप बनती है। परन्तु कारागार से मुक्त होने पर सम्भावनाएँ बदल जाती हैं और बढ़ जाती हैं। योगी की दृष्टि में अपने संस्कारों और अपनी वासनाओं से बँधा हुआ जीव कैदी की ही तरह है। अतः सम्भावना सम्बन्धी उसकी कल्पना भी प्रतिबन्धित रहती है। माया का जो बन्धन है वह वासना का ही बन्धन है। विषयों से वैराग्य होना ही मोक्ष है—का वा विमुक्तिर्विषयेविरक्तिः (शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी) किसी जीव की जितनी वासनाएँ हैं उतनी डोरियों से वह बँधा है। जो जो वासना समाप्त होती जाय वह उस उस बन्धन के कटने के बराबर है।

यतो यतो विरज्येत, विमुच्येत ततस्ततः।
(श्रीमद्भागवत)

जहाँ जहाँ से वैराग्य होता जाय वहाँ वहाँ से वह मुक्त होता जायगा। सभी वासनाओं के अन्त होने पर जीव पूरी तरह मुक्त हो जायगा। जिस किसी चिन्तक की कल्पना हो कि सब वासनाएँ शान्त नहीं हो सकतीं उसके विचार में मोक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि वह कुछ बन्धनों को अनिवार्य मानता है।

कभी कभी यह कहा जाता है कि अस्थि और मांस से बने इस शरीर में एकदम निर्वासनिक दशा प्राप्त नहीं की जा सकती परन्तु यह याद रखना चाहिए कि यदि देह के सम्बन्ध से कभी विकार का उदय भी हो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाय तो भी योगी विकार के वेग को सहन करने में समर्थ होता है वह विकार के वश में नहीं होता है। (गीता ५/२३)

एक दूसरी बात यह है कि भगवान् के अनन्य शरणागत भक्तों का जो भगवान् की दिव्य लीला में प्रवेश कर चुके हैं रहस्यमय दिव्य शक्ति से कायाकल्प हो जाता है जिससे वह एक दिव्य शरीर में विराजमान रह कर अपनी लीला करते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह महत्व पूर्ण है कि हमारी सहज प्रवृत्तियाँ सबकी सब आत्म रक्षा और जाति रक्षा पर केन्द्रित हैं यदि हम देहाभिमान रखते रहें तो मानव जीवन की रक्षा ही आत्म रक्षा बनी रहेगी और मानव जाति सम्बन्धी अस्मिता रहने तक ही जाति रक्षा का अर्थ मानव जाति की रक्षा का रहेगा जिसके लिए प्रजनन आदि प्रवृत्तियों की आवश्यकता सिद्ध होगी। जब हमारी अस्मिता देह में न रहकर आत्म स्वरूप में होगी तो सहज प्रवृत्तियों की स्वाभाविकता और अनिवार्यता समाप्त होने लगेगी। दधीचि ऋषि ने देव रक्षा के लिए अपनी हड्डियाँ दे दीं और देह त्याग स्वीकार किया। इसी तरह क्रान्तिकारियों का गीत था—

सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए क़ातिल में है॥

अथवा—

सूख जाए न कहीं पौधा ये आजादी का।
खून से अपने इसे, इसलिए तर करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते हैं।

किसी भी बलिदानी के लिए देह रक्षा का महत्व नहीं रह जाता। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकारों की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनिवार्यता का जो प्रतिपादन किया जाता है वह देहाध्यासी व्यक्ति के लिए ही लागू है, तत्वानुभव के बाद यह अनिवार्यता कायम नहीं रहती है। अत: यह सन्देह समाप्त हो जाना चाहिए कि काम क्रोधादि विकारों की समाप्ति कभी हो नहीं सकती। यह विपरीत विचार दृढ़ हो जाना चाहिए कि इन विकारों के निर्मूल हुए बिना उस शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती जिसका वर्णन श्री गोस्वामी जी ने आगे आने वाले छन्दों में किया है। इस ग्रन्थ का नाम 'वैराग्य सदीपनी' है अर्थात् वैराग्य को जगाने वाली। ग्रन्थकार का प्रयोजन सभी वासनाओं को निर्मूल करना है न कि वासनाओं की अनिवार्यता को स्वीकार करना।

प्रस्तुत दोहे में लोभ और काम यह दो प्रमुख वासनाएँ प्रतीक रूप में ले ली गई हैं और इनके शमन का जिक्र किया गया है। ग्रन्थकार का तात्पर्य सभी वासनाओं के उपशम से है न कि केवल दो ही वासनाओं के। दो प्रमुख वासनाएँ प्रतीक रूप में इसलिए कही गयी हैं कि इन्हें पूर्णत: निवृत्त करने के साधन से अन्य वासनाओं का भी त्याग और शमन हो जायगा।

अब यह सोचना चाहिए कि 'कंचन काँचहि सम गनत' वाली दशा क्या कहीं मिलती है और कैसे प्राप्त की जा सकती है? निर्लोभावस्था की पूर्णता जहाँ पहुँचकर कांचन और कांच एक समान जान पड़ें, साधारण व्यक्ति की कल्पना से परे है और असम्भव जान पड़ती है। परन्तु यह प्रतीति उस जीव को होती है जो वैराग्य से उल्टी दशा में विद्यमान है।

कांचन सम्पत्ति का प्रतीक है। मूल्य वाली अर्थ व्यवस्था में कचन या मुद्रा का संचय सम्पत्ति के संग्रह का एक सुविधाजनक उपाय रहता है। आधुनिक समय में काले धन का संग्रह बड़े बड़े नोटों की गड्डियों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के रूप में किया जाता है। यहाँ तक सम्भव है कि यदि धन या सम्पत्ति के छिपाने की मजबूरी न हो तो आजकल धन को डाकघर या बैंक में भी जमा किया जा सकता है और उस दशा में बचत प्रमाण पत्र या पास बुक की प्रविष्ट ही सम्पत्ति का प्रमाण होगी। घर में प्रत्यक्ष संग्रह नहीं करना पड़ेगा। इसलिए छन्द में प्रयुक्त कांचन शब्द का भावार्थ अर्थ या सम्पत्ति के रूप में लेना पड़ेगा।

कांचन और काँच दोनों ही चमकदार हैं परन्तु काँच के टुकड़े बाजार में मूल्यहीन हैं जबकि सोने का बाजार भाव आजकल (सन् १९८४ में) प्रति तोले १६०० रु० तोले से अधिक है। इसलिए विनियम मूल्य के विचार से स्वर्ण बहुमूल्य है और काँच मूल्यहीन है। दोनों की कोई तुलना नहीं हो सकती इसलिए सच तो यह है कि कांचन ओर काँच की समानता उसी की दृष्टि में हो सकती है जिसके लिए सम्पत्ति व्यर्थ है। जिस तरह का जीवन हम लोग बिता रहे हैं उसमें सम्पत्ति व्यर्थ नहीं, परम आवश्यक है। इसलिए ऐसा जीवन बिताते हुए और तत् सम्बन्धी दृष्टिकोण को अपनाए हुए हम लोग कांचन और काँच को समान मानने वाली दशा की न कल्पना कर सकते हैं न उसे प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यह समझना भारी भूल होगी कि हमारी अर्थ व्यवस्था के अतिरिक्त कोई व्यवस्था सम्भव नहीं है अथवा यह कि हमारे संस्कारों के विपरीत संस्कारों पर आधारित जीवन सम्भव नहीं है या वैसा जीवन सुखी और शान्त नहीं रह सकता।

पहले तो यह देखिए कि यदि मुद्रा की अर्थ व्यवस्था समाप्त कर दी जाय या किसी समाज में उसका चलन न हो तो स्वर्ण का आकर्षण कम हो जाएगा। क्योंकि वह अतिरिक्त सम्पत्ति के संग्रह का सुविधाजनक उपाय नहीं रह जाएगा। जिस समाज में केवल वस्तु विनिमय ही से काम चलाया जाय उसमें किसी भी वस्तु का आवश्यकता से अधिक बिपुल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संग्रह करने की प्रेरणा नहीं रहेगी, क्योंकि यदि उसके बदले में अपनी आवश्यकता की वस्तुओं की प्राप्ति मे उसकी आवश्यकता या सुविधा न हो तो उस वस्तु का भण्डारण की सुविधा करने का दायित्व आ पड़ेगा जो लाभ दायक नहीं जान पड़ेगा। इसलिए मुद्रा का चलन यदि बन्द कर दिया जाय तो परिग्रह की अर्थव्यवस्था का एक प्रधान स्तम्भ हट जायगा इसलिए कांचन का आकर्षण बहुत कुछ हमारी अर्थ व्यवस्था के आश्रित है। भिन्न व्यवस्था में वह कम हो जायगा।

अब प्रचलित अर्थ व्यवस्था का एक दूसरा पहलू देखिए। सम्पत्ति संग्रह का सम्पन्न व्यक्ति के लिए बहुत बड़ा लाभ यह है कि वह धन से दूसरों के श्रम को खरीद लेता है। यदि किसी के पास लाखों रुपया भरा हो परन्तु चारों ओर कुछ मील तक ऐसा कोई आदमी न हो जो अपनी मेहनत उसके हाथ बेचकर अपना काम चलाने की आवश्यकता समझता हो तो उस सम्पन्न व्यक्ति को बिल्कुल साधारण व्यक्ति की तरह जीवन किताना पड़ेगा। एक दो कमरों में गुजर करना पड़ेगा, स्वयं उनकी सफाई करनी होगी, अपनी खेती करनी होगी, अपना खाना बनाना होगा पानी भरना होगा, बरतन माँजने होंगे। इस तरह उसका संचय उसे कोई आराम न पहुँचा सकेगा। अपने जीवन में अतिरिक्त रुपए से लोगों की मेहनत खरीद कर उनकी मेहनत से आराम उठाना और स्वय मेहनत से बचना, और रुपए से रुपए पैदा करते रहना जिससे यह प्रक्रिया और भी आगे चलाई जा सके, इसी का नाम शोषण है। केवल कांचन किसी को आराम नहीं दे सकता। समाज में बहुत से निर्धन होने चाहिए जिनकी मेहनत खरीद कर अमीर आदमी चैन से रह सकें। इसलिए भी शास्त्र में कहा गया है कि—

नानुपहत्य भूतानि भोगाः सम्भवन्ति हि।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिना जीवों को पीड़ित किए हुए भोग सम्भव नहीं। स्पष्ट है कि स्वर्ण का आकर्षण मुद्रा प्रसार की स्थिति में हैं। मुद्रा की धाक इसलिए जमी है कि वह परिग्रह मूलक अर्थ व्यवस्था का मूल स्तम्भ हैं और परिग्रह का आकर्षण यह है कि आपको उसमें अपने भविष्य की सुरक्षा दिखाई देती है और वर्तमान् में शोषक बन जाने की प्रेरणा मिलती है। कल्पना कीजिए कि किसी समाज में राष्ट्र की ओर से सामाजिक सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध है, मुफ्त दवा का इन्तजाम है शिक्षा का सरकार की ओर से मुफ्त प्रबन्ध है, शिक्षा के बाद रोजगार का निश्चित प्रबन्ध है और बुढ़ापे में गुजर के लिए पेंशन भी मिलती है तो भविष्य की सुरक्षा के लिए सम्पत्ति संग्रह की प्रेरणा लगभग समाप्त हो जायगी। यदि ऐसा समाज स्थापित हो जाय तो सम्भवत: किसी को किसी अमीर के हाथ अपनी मेहनत बेंचने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि वर्तमान में शोषण की सुविधा भी न हो तो संग्रह की हुई सम्पत्ति आराम न दे सकेगी। इस प्रकार यदि किसी सम्पन्न व्यक्ति का धन वर्तमान् में और भविष्य में उसे दूसरों से अधिक सुखी नहीं बना पाया तो वह संग्रह लगभग व्यर्थ साबित होगा। तब कांचन का आकर्षण कहाँ रहेगा ?

उपर्युक्त बातों के होते हुए भी आज की सभ्यता मे धन सम्पत्ति का कुछ उपयोग रहेगा क्योंकि धन से आवश्यकतानुसार वस्तुओं को खरीदा जा सकता है। परन्तु यदि मूल्य वाली अर्थ व्यवस्था भी बदल जाय तब तो स्वर्ण बेकार होने लगेगा।

हम लोग मूल्य वाली अर्थ व्यवस्था के इतने आदी हो गये हैं कि हमें रामचरित मानस में यह पढ़कर आश्चर्य होता है कि रामराज्य में 'वस्तु बिनु गय पाइए' अर्थात् वस्तुएँ बिना मूल्य के ही मिल जाती थीं। परन्तु हम इसको क्या कहेंगे कि रूस की समाजवादी सरकार इस फेर में है कि मूल्य रहित अर्थ व्यवस्था कैसे प्रचलित की जाय। यह असम्भव नहीं है बल्कि साम्यवादी आदर्श के लिए आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हम चाहे साम्यवादी सरकार का नाम लें या कल्याण कारी सरकार का, यदि हम प्रजा को सुखी करना चाहते हैं तो हमें यह प्रबन्ध करना ही पड़ेगा कि साधारण प्रजा जन की आवश्यकता की वस्तुएँ विपुल मात्रा में उत्पादित हों और सबके पास पहुँचें। जब तक मूल्य की अर्थ व्यवस्था रहेगी तब तक यदि हम देश की पूरी आवश्यकता के अनुसार कपड़ा या शकर पैदा भी कर सकेंगे तो भी वह सबको नहीं मिलेगी पड़ी रह जायगी या विदेशों को भेजी जाएगी। इसलिए यदि गरीबी को मिटाना है तो शोषण को भी मिटाना है, मूल्य वाली अर्थ व्यवस्था को बदलना है और वह व्यवस्था लानी है जिसमें देश की जनसंख्या की आवश्यकताओं के उत्पादन में सबको वृत्ति मिले। और सबके लिए समस्त आवश्यक सामान का उत्पादन हो और वितरण व्यवस्था ऐसी हो कि वह सब तक पहुँचे। ऐसी अर्थ व्यवस्था चाहे साम्यवाद के नाम पर हो चाहे कल्याण कारी राज्य के नाम पर हो चाहे राम राज्य के नाम पर हो, सच्ची शोषण विहीन व्यवस्था होगी। और ऐसी व्यवस्था में सम्पत्ति के संग्रह की कोई प्रेरणा नहीं रह जायगी और स्व. के आकर्षण का अस्त होगा।

इस पर यह तो कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विचार धारा एक काल्पनिक, सम्भावित व्यवस्था के ऊपर आधारित है और वर्तमान दशा के कठोर सत्य के साथ उसका मेल नहीं बैठ सकता परन्तु यह समझ लेना कुछ कम नहीं है कि वर्तमान् समाज में लोभ की प्रमुखता (और उसकी अनिवार्यता की प्रतीति) प्रकृति, वंशानुक्रम या सहज प्रवृत्ति की देन नहीं है, वह हमारे पूंजीवादी विकृत समाज की उपज है। यदि स्वर्ण का का आकर्षण हमारी सभ्यता और समाज का रोग हो न कि हमारा अनिवार्य स्वाभाविक लक्षण, तो फिर यह स्पष्ट है कि इस रोग का इलाज करना चाहिए, अनुसरण और परिवर्धन नहीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिसे आज कोरा आदर्शवाद, कल्पना की उड़ान कहा जा सकता है, वही हमारी बीमार सभ्यता की स्वस्थ दशा है, अर्थात् संपत्ति प्रधान, स्वार्थ प्रधान, संग्रह प्रधान, लोभ प्रधान, मुद्रा प्रधान, अर्थ व्यवस्था के बदले कर्तव्य प्रधान, धर्म प्रधान, श्रम प्रधान, सेवा प्रधान सामाजिक व्यवस्था। उक्त व्यवस्था के बिना, समाधान कभी नहीं हो सकता, पर हम विकृत व्यवस्था के उपासक होकर उसे अनिवार्य मान रहे हैं।

श्रीमद्भागवत में अर्थ के पन्द्रह दोष गिनाए गए हैं, और उसे अनर्थ माना है।

स्तेयो हिंसाऽनृतं दम्भः, कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः, संस्पर्धा व्यसनानि च।

(१) चोरी, (२) हिंसा, (३) झूठ, (४) दम्भ, (५) काम, (६) क्रोध, (७) स्मय, (घमण्ड) (८) मद (प्रमाद), (९) फूट (१०) वैर, (११) अविश्वास, (१२) प्रतियोगिता तथा तीनों व्यसन, (१३) विलास, (१४) जुआ, (१५) आसव (शराब)।

सच तो यही है कि सम्पत्ति के विपुल संग्रह से यह सब दोष पैदा होने लगते हैं। उसका केन्द्रीयकरण अनर्थों की जड़ है। स्वर्ण इस संग्रह का सुविधाजनक माध्यम है।

सरिता प्रवाह से शुद्ध होती है, द्रव्य प्रवाहमान् है, वैसा ही द्रव्य (धन, सम्पत्ति) को भी होना चाहिए।

स्वामी रामतीर्थ ने कहा था कि जिन चीजों पर आप अपना कब्जा मानते हैं, वे आप पर कब्जा जमाए हैं और आपको दबाए हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक और पहलू देखिए। एकदम व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से व्यक्तिगत कल्याण के लिए परिग्रह होना चाहिए परन्तु अमीर आदमी का लड़का बाप के परिग्रह पर ही चैन करना चाहता है। इज्राएल मे ऐसे सैकड़ों गाँव हैं जिनमें सम्पत्ति गाँव की है, गाँव के लोग सामूहिक भोजनालय में भोजन करते हैं, गाँव के दिए हुए कमरे में रहते हैं और गाँव का बताया हुआ काम करते हैं। साम्यवादी आदर्श के अनुसार पूंजी सब राष्ट्र की होगी, आवश्यकतानुसार उत्पादन होगा, जिसमें योग्यतानुसार सब भाग लेंगे, सबकी आवश्यकताएँ राज्य पूरी करेगा। इसमें राज्य परिग्रह करेगा, व्यक्ति बहुत सीमा तक परिग्रह से मुक्त होगा। स्वर्ण का आकर्षण अस्त प्राय होगा।

साम्यवादी व्यवस्था तभी चल सकेगी जब राज्य की ओर से प्राप्त पदार्थों में नागरिकों को सन्तोष होगा और हर एक पूरा कर्तव्य निष्ठ होगा। साम्यवादी आदर्श समाज में राज्य नहीं रहेगा। यह तभी होगा जब समाज से प्राप्त में सन्तोष हो और स्वधर्म (कर्तव्य) पालन में निष्ठा हो। सर्वोदय व्यवस्था का भी ऐसा ही आदर्श है।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्य स्विद्धनम्

(ईशोपनिषद् १)

इसके भाष्य में श्री शंकराचार्य जी ने कहा है कि किसी के धन की लालच नहीं करनी चाहिए, न अपने धन की, न पराए धन की।

देवाल्लब्धेन सन्तोष: आत्मविच्चारणार्चनन्।

(श्रीमद्भागवत)

"यथा लाभ सन्तोष सदाई।"

(रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आज की पूँजीवादी उद्योगवादी व्यवस्था में लोभ की प्रतिष्ठा है और वही अनर्थों की जड़ है। लोभ का नितान्त त्याग, सेवा की अत्यन्त निष्ठा ही इसकी दवा है। दोहे में लोभ का नितान्त त्याग ही प्रतिष्ठित हुआ है।

बाइबिल में भी श्री ईसा जी का प्रसिद्ध वाक्य है, आप लोग भगवान् और धन-कुबेर दोनों की उपासना नहीं कर सकते।" मैथिउ ६.२४) कोई भी दो मालिकों की सेवा नहीं कर सकता। (६.२४। यह सवाल बराबर उठता रहता है कि यदि धन की ओर से लापरवाह होकर भगवान् की उपासना करेंगे तो खाएँगे क्या? पहनेंगे क्या? श्री ईसा जी ने इसका ओजस्वी उत्तर दिया ही है। 'मैं आप से कहता हूँ कि आप अपने जीवन की चिन्ता न करें, क्या खाएंगे, क्या पहनेंगे। (६.२५) हवा में उड़ती चिड़ियों को देखिए, वे न बोतीं हैं, न काटती हैं, न खलिहान बनाती हैं, परन्तु दिव्य परम पिता उनको खाने को देता है। क्या आपका मूल्य उन चिड़ियों से अधिक नहीं है। (६.२६) और आप में से कौन ऐसा है जो चिन्ता करके अपने जीवन के विस्तार को एक बित्ता भी बढ़ा सकें? (६.२७) और आप वस्त्रों के लिए क्यों चिन्तित हैं? मैदान में लगे कोकाबेली के फूलों पर विचार कीजिए। वे कैसे विकसित होते हैं? वे न मेहनत करते हैं न सूत कातते हैं (६ २८। तथापि मैं कहता हूँ कि बादशाह सॉलोमन (सुलेमान) अपने गौरव के शिखर पर रहते हुए भी इनकी तरह नहीं सजे थे। (६.२९) यदि भगवान् इस प्रकार वनस्पति को सजाता हैं, जो आज जीवित है, कल सूख जायगी और अँगेठी में जला दी जायगी, तो क्या वह तुम्हारे लिए इससे अच्छा वस्त्र-प्रबन्ध नहीं करेगा? अरे अल्प श्रद्धालु मनुष्यों?" (६.३०) पहले तुम भगवदीय राज्य की खोज करो, और भगवदीय पुण्यमय जीवन, और यह सब चीजें तुम्हें अपने आप मिल जायेंगी। (६.३३)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

माँगो और मिलेगा, खटखटाओ खुलेगा (७.७) आप में से कौन है जो अपने बेटे को रोटी माँगने पर पत्थर दे (७.९) या मछली माँगने पर साँप दे ? (७.१०) तो जब आप पापयुक्त होकर भी अपने बच्चों को अच्छे उपहार देना जानते है तो आपका उच्चतम लोकाधिपति परम पिता आपको अच्छे उपहार देने में कितना अधिक आगे होगा ? (७.११)

श्री ईसा जी के यह उपदेश वैसे ही हैं, जैसा संस्कृत में कहा है कि—

भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवा: ।
योऽसौ विश्वम्भरो देव: स भक्तान् किमुपेक्ष्यति ।।

'वैष्णव लोग भोजन और वस्त्र की चिन्ता व्यर्थ ही करते हैं । जो भगवान् विश्व का भरण पोषण करता है ।' वह अपने भक्तों की उपेक्षा कैसे कर देगा ?'

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम ।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम ।।

दो हजार बरस में भी ईसाई दुनिया प्राय: श्री ईसा जी के उपर्युक्त शब्दों को नहीं समझ पाई । बहुत से लोग यही समझते और कहते रहे कि श्री ईसा जी के उपदेश बहुत अच्छे ऊँचे हैं, परन्तु उन पर चलकर व्यवहार सिद्ध नहीं होगा । टॉलसटॉय ने कहा है कि जिन उपदेशों पर चलने से व्यवहार बिगड़ जाय, उन्हें गलत न कहकर अच्छे और ऊँचे क्यों कहा जाता हैं ?

श्री मलूकदास जी के दोहे को भी व्यापक रूप से निरुद्यमी जीवन की पैरवी माना जाता है, परन्तु उस रूप में उसे लेकर अग्रसर हों तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऐसी ठोकरें लगेंगी कि फिर सीधी (मेहनत की) राह पर आ जाना पड़ेगा। श्री ईसा जी के तथा श्री मलूकदास जी के वचन सच्ची शरणागति के जीवन को समझाने के लिए हैं, आलस्य प्रचार के लिए बिल्कुल नहीं। उनका अर्थ विकृत नहीं करना चाहिए, दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। उक्त बचन वैसे ही हैं, जैसे गीता का वचन—योगक्षेमं वहाम्यहम् (९.२२)।

क़ुरान शरीफ में भी सूरे बकर में पहले ही कहा है कि यह रोशन किताब उसी को रास्ता दिखाती है, जो ग़ैब (अदृश्य दिव्य शक्ति) के भरोसे जीवन बिताता है। 'साबिर' नहीं है जो सब्र के साथ, 'यथा लाभ सन्तोष सदाई' रखते हुए, सुख दुःख को समान बुद्धि से सहते हुए भगवान् की याद में लगे रहते हैं। योग क्षेम वहन का विशेष प्रबन्ध केवल अनन्य चिन्तन करने वालों के लिए है, सबके लिए नहीं। साधारण प्रारब्ध परिपाक सबके लिए है।

श्री ईसा जी ने पहाड़ी पर के उपदेश में यह भी कहा हैं कि, अपने लिए इस पृथ्वी पर खजाना इकट्ठा न करो जहाँ कीड़े खाते हैं, मोर्चा लगता है और चोर सेंध लगाते हैं। (मैथिड ६१९) क्योंकि जहाँ तुम्हारा खजाना रहेगा वहीं तुम्हारा मन रहेगा। (६.२१) राजयोग की दृष्टि से धन चित्त को विक्षिप्त रक्खेगा, अतः उसका त्याग ध्यान की निर्विघ्नता के लिए आवश्यक है। जिसके लिए हरि स्मरण ही धन है, सम्पदा ही विक्षेपकारी होने से आपदा है, उसके लिए स्वर्ण का आकर्षण कैसे सम्भव है ?

तावद्भयं द्रविण गेह सुहृन्निमित्तं, शोक स्पृहा परिभवो विपुलश्च च लोभः।
तावन् ममेत्यसदवग्रहआर्तिमूल, यावन्न तेंघ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥
(श्रीमद्भागवत ३.९.६)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तब तक धन, घर, मित्र आदि की चिन्ता या तद्विषयक भय रहता है, और शोक, स्पृहा, लोभ आदि विकार भी रहते हैं, तब तक असद् वस्तु में अध्यास बना रहता है जब तक कि आपके चरणों की अभयप्रद शरण का वरण नहीं किया जाता।'

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एकौ बाधा।।

(रा०च०मा०)

एक बार एक धनी व्यक्ति श्री ईसा जी के पास आया। उसने शान्ति का उपाय पूछा। ईसा ने अपने पाँच मुख्य आदेश बताए, उसने कहा, 'मैं तो अपनी युवावस्था से इन पर चल रहा हूँ, पर शान्ति नहीं मिली। ईसा ने कहा, एक काम करो शान्ति मिल जायगी। अपनी सब सम्पत्ति गरीबों में बाँटकर हमारे पास आ जाओ'। अफसोस से उसका चेहरा उतर गया और वह चुपचाप चला गया। तब ईसा ने कहा, ऊँट का सुई के छेद में से निकल जाना चाहे सम्भव हो, धनी व्यक्ति का दिव्य लोक में प्रवेश उससे अधिक कठिन है।' इस दृष्टान्त से भी अपरिग्रह का महत्व सिद्ध होता है। बिना अपरिग्रह के अनन्य चिन्तन वाली भगवदुपासना सम्भव नहीं। बाहर से धनी व्यक्ति हो तो भी इस दशा के लिए वह भीतर से अकिंचन ही रहेगा। लोभी मनुष्य तो धन का ध्यान करेगा।

ध्यातुम् वित्तम् अहर्निशं नियमितं ध्यानं न शंभोः पदे।

भर्तृहरि (नीति शतक)

'हित ज्यों धन लोभ लीन को' (वि०प०) अतः भगवान् के अनन्य चिन्तन के लिए लोभ का नितान्त निरसन आवश्यक है।

साधारण जीव जब बड़े बड़े ऊँचे और अनन्य चिन्तन रत सन्तों को बाहरी जीवन में अभावग्रस्त देखता है तो उसे उपर्युक्त शास्त्रीय वचनों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पर संशय होने लगता है, परन्तु उँचे सन्तों की, व हरी जीवन की गरीबी बहुत बार उनके लिए कवच का कम करती है और उन्हें अन-अधिकारी तार्किकों को दूर रखकर सुरक्षित रखती है। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे। (रामचरित मानस) भगवान् के अत्यन्त प्रिय भक्त कई बार बाहरी जीवन में अत्यन्त निर्धन होते हैं परन्तु अपने आन्तरिक दिव्य जीवन में उनकी अलौकिक सम्पन्नता रहती है, जिसमें सम्राट भी उनका मुकाबला नहीं कर सकते। कथायें हैं कि मीरा जी तथा स्वामी हरीदास जी (तानसेन के गुरु) के सामने अकबर का वैभव भी फीका पड़ गया। श्री स्वामी हरिदास जी का शैर है—

अहले दुनिया, तू क्या है, तेरा असर क्या है ?
हम खुदा से नाज़ करते हैं, बसर क्या है ?

इसी प्रकार कणाद ऋषि की कथा है कि वे खेतों से सीला बटोर कर गुजर करते थे और तपस्या करते थे, तत्कालीन राजा को किसी ने प्रेरणा दी कि वह उनके कष्ट को दूर करें। राजा ने कणाद के पास जाकर योग्य सेवा पूछी। कणादि ने कहा हम कुछ नहीं चाहते राजा ने प्रार्थना की कि आप खाने की तकलीफ उठाते हैं। हमें आज्ञा दें तो हम सब सुविधाजनक प्रबन्ध कर दें। कणाद ने कहा आप जाएँ, आपसे किसने कहा कि हमें कोई अभाव या तंगी है। हमें कोई कमी नहीं। फिर कणाद ने राजा से कहा सामने का पहाड़ देख रहे हैं ? अगर हम चाहें तो यह सारा पहाड़ सोने का हो सकता है। हमें कोई कमी नहीं है।" राजा साहब चले गए। परन्तु वे सोचने लगे कि 'जब कणाद पूरे पहाड़ को सोना बना सकते हैं, तो फिर यह अगर एक चट्टान भी सोने की बना दें तो राज्य की सब आर्थिक समस्या ही हल हो जाय।" अतः कुछ समय के पश्चात् राजा फिर कणाद के पास गया। और उनसे प्रार्थना की कि कम से कम एक चट्टान ही सोने की बना दें तो राज्य की आर्थिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समस्या ही हल हो जाय। कणाद ने कहा—"देख ! तू अभाव ग्रस्त है कि मैं। मेरा प्रबन्ध ठीक करने आया था, अब मुझसे भीख माँगने आया है।" अन्त में कणाद ने राजा को आशीर्वाद दिया कि उसके राज्य का काम ठीक तरह से चलता रहे। इस प्रकार जो भगवान् का फकीर है, अमीर उसका मुकाबला नहीं कर सकता—

बेहतर हूँ मैं शाहों से, तेरे दर का गदा हूँ।

मैं आपके द्वार का भिखारी हूँ इसलिए मेरी हैसियत महाराजाओं से बढ़कर है। इसी प्रकार—

कुशादा दस्ते करम जब वो बेनियाज़ करे।
नियाज़मन्द न क्यों आशिकी पे नाज़ करे॥

जब वह पूर्णकाम भगवान् अपने कृपा भरे हाथों को खोल कर दान करने लगता है तो उसका भिखारी प्रेमी अपने प्रेम पर क्यों न गौरवान्वित हो।

सत्य यह है कि हम मामूली आदमियों को दुनियाँ का बहुत भरोसा है, भगवान् का नहीं जबकि ऊँचे सन्तों को भगवान् का पूरा भरोसा है। दुनियाँ का कुछ भी नहीं अतः वे निर्लोभ रह सकते हैं और जिस तरह लोभी व्यक्ति दिन रात धन का ध्यान करता है उस तरह वे भगवान् के ध्यान में लीन रह सकते हैं। हमारे लिए यह आश्चर्य जनक है, उनके लिए स्वाभाविक है।

श्री गोस्वामी जी महाराज कवितावली जी में कहते हैं कि–

झूठो है, झूठो है झूठो सदा है जग, वेद पुरान सुसंत कहा है।
ताको सहै सठ, संकट कोटिक, काढ़त दंत करंत हहा है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ग्यान पनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा हैं।
जानकी जीवन जान न जान्यो, तो ज्ञानी कहावत ज्ञान्यो कहा है।

सन्तों की यह महिमा तो कही कि 'सम लोष्ठाश्म कांचनः' गीता परन्तु यह भी कहा कि कामिनी को कस्पुतली या प्रस्तर मूर्ति की तरह पहचानते हैं। नारी का आकर्षण भी बिल्कुल नहीं रह गया है। यह सम्पूर्ण काम विजय है। यहाँ भी तमाम लोग इसे असम्भव मानने वाले मिल जायेंगे। वे आसानी से दृष्टान्त भी दे सकते हैं कि विश्वामित्र, नारद, सौभरि आदि महान् ऋषि गण भी काम विकार ग्रस्त हुए। कोई नहीं कहता कि काम विकार का अतिक्रमण सहज है। यह भी माना जा सकता है कि अधिकांश मनुष्यों के लिए इसका पूर्ण शमन सम्भव नहीं है। यहाँ जिस शमन का उल्लेख है, वह बहुत ही उच्च कोटि के सन्तों के सम्बन्ध में है, न कि साधारण जनों के सम्बन्ध में है, शोध के आचार्यों की बिभूति प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी में कहाँ मिलेगी ?

परन्तु यदि हम पर्वत शिखर तक नहीं जा सकते तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि हमें टीले पर भी नहीं चढ़ना चाहिए। बहुत से लोग हिमालय के ऊँचे शिखरों पर नहीं चढ़ सकते परन्तु शिमला, मंसूरी, रानीखेत, नैनीताल की सैर तो करते हैं न ? लाखों विद्यार्थी एम०ए० तक नहीं पहुँच पाते, परन्तु कक्षा १० या १२ तक तो पढ़ते हैं। किसी कला या विद्या में पारंगत न हो सकें तो उसमें हाथ ही न लगाएँ ऐसा सिद्ध नहीं होता।

काम विकार सम्बन्धी कुछ भी संयम न बरता जाय तो सभ्य समाज चल नहीं सकता; परन्तु देश, काल, अवसर, संस्कृति आदि के भेद से भिन्न भिन्न सीमाओं तक मर्यादाएँ निश्चित की गई हैं। विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धर्मों, संस्कृतियों, देशों आदि में मर्यादाएँ बिल्कुल एक सी नहीं हैं। मर्यादा भंग के दण्ड भी सब जगह एक से नहीं हैं। परन्तु मर्यादा की आवश्यकता सर्वत्र मान्य है।

यह कल्पना बहुत जनों की है कि कामाचार को थोड़ा बहुत संयमित कर सकते हैं, परन्तु एकदम वर्जन शक्य नहीं। परन्तु सदाचार और सत्यनिष्ठा के नाते ही लाखों करोड़ो लोगों को विभिन्न कालावधियों तक पूर्ण संयम बरतना ही पड़ता है। इसके बिना सभ्य परिवार और समाज भली भाँति चल नहीं सकता। धैर्य और अभ्यास भेद से विभिन्न लोगों की इस विषय में क्षमता अलग अलग है।

आजकल यह विचार भी फैलता जा रहा है, विषयभोग का नितान्त अभाव पागलपन या अन्य रोगों का कारण बनता है। यहाँ उस विषय विषय की चर्चा प्रासंगिक न होगी। इतना कहना पर्याप्त है कि विवशता का संयम और मिथ्याचार रोग का कारण हो सकता है, विधिपूर्वक, निष्ठा पूर्वक, पालन किया हुआ ब्रह्मचर्य रोगों का प्रतिषेधक है।

तपसा ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नत।
(तपस्या और ब्रह्मचर्य से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया)

सभ्य समाज के विकास व उसकी रक्षा के लिए गृस्थाश्रम आवश्यक है, अतः पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य सबका और जीवन भर का व्रत नहीं हो सकता। मर्यादित गृहस्थाश्रम की कद्र होनी चाहिए और ऋषियों ने की भी है। गृहस्थ को ज्येष्ठ श्रेष्ठ माना है। मनु कहते हैं—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वं जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

। जैसे हवा के सहारे सब जीव जीवित हैं, वैसे ही गृहस्थाश्रमी के सहारे सब आश्रम चल रहे हैं।)

पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को असम्भव मानना मूर्खता है, भले ही वह सर्व साधारण के लिए साध्य न हो। यह गलत भी है, अनर्थकारी भी है, कि हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का आदर्श ऐसी महान् विभूतियों के लिए भी असम्भव मानें जैसे—

श्री हनुमान जी, भीष्म, शुकदेव, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, ईसा, सन्त पाल, टेरेसा, सूफ़ी सन्त रबिया आदि।

प्रेम की महिमा लोक में भी प्रतिष्ठित है, शास्त्र में भी परन्तु प्रेम शब्द कितने ही अर्थों में विभिन्न प्रकार की भावना स्थितियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। किसी विशुद्ध अर्थ में प्रेम ही परमेश्वर है, किसी निकृष्ट अर्थ में वह निन्दनीय और दण्डनीय है। अंग्रेज कवि बाइरन ने कहा था—

एक शब्द बहुत बार अपवित्र किया जा चुका है, अब मैं उसे क्या दूषित करूँ।

अतः प्रेम शब्द निश्चित अर्थ वाला नहीं रह गया है। तथापि यह माना जा सकता है कि प्रेम के विभिन्न स्तर या सोपान हैं, उच्चतर स्तरों पर प्रेम शुद्धतर होता जाता है। स्वार्थ जितना निकलता जाय (दूर होता जाय), अपने सुख के स्थान पर प्रेमास्पद का सुख और हित साधन हो और उसी में अपना सुख और सन्तोष हो, उतना ही शुद्ध प्रेम मान्य है।

प्रकृति के तीन गुणों की दृष्टि से भी दाम्पत्य प्रणय तीन प्रकार का है। जहां हिंसा, प्रतिशोध, बदला लेना, दण्डित या अपमानित करना, ऐसे भाव प्रबल होते हैं, तमोगुणी भाव हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उन्नति करना, शान बढ़ाना, सुखोपभोग, आराम उठाना और देना, धाक जमाना, अभिमान करना आदि भाव प्रबल हों तो रजोगुणी प्रेम है।

जहाँ मर्यादा का सहर्ष पूर्ण पालन है, जहाँ गृहास्थाश्रम को भी तप का स्थान माना गया है, विलास मात्र का नहीं, जहाँ पत्नी सहधर्म चारिणी गृहमेधि धेनुम् (गृह यज्ञ की गाय की तरह) मान्य है, जहाँ धर्माचरण, पुण्य कार्य, मोक्ष साधन में परस्पर सहयोग ही एकत्व का मुख्य आधार है, वहाँ सतोगुणी प्रेम है।

जहाँ प्रेमास्पद भगवद्रूप ही जान पड़ता है, लौकिक भावों का अस्त है, विशुद्ध परमार्थी प्रीति है, वह गुणातीत स्तर है। (यथा श्री रामकृष्ण परमहंस जी का दाम्पत्य)।

अपनी पहुँच के परे, लगभग कल्पना के भी परे, उँची स्थितियों को अमान्य करना अपने ही विकास के द्वार को बन्द करना है।

दाम्पत्य प्रणय या आकर्षण से रहित दशा को असम्भव मानना तो भूल है ही, जरूरत यह है कि हम पहचानें कि आदर्श दाम्पत्य में भी विकार से उठी हुई दशा आ जाती है।

श्री पार्वती जी ने शिव जी को पति रूप में प्राप्त करने के लिए तप किया था।

श्री कालिदास जी कुमार सम्भव' में लिखते हैं–

तथा समक्ष दहता मनोभवं, पिनाकिना भग्न मनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता ।।

(उस प्रकार अपनी नजरों के सामने शिव जी के द्वारा कामदेव का भस्म किया जाना देखकर, श्री पार्वती जी भग्न मनोरथा हो गईं। वे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपने सौन्दर्य की मन ही मन निन्दा करने लगीं, क्योंकि सौन्दर्य का शुभ फल यही है अपने प्यारे पतिदेव का प्रेम (सौभाग्य) मिले।

इयेष सा कर्तुमवन्ध्य रूपतां, समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथा विधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

(तब उन पार्वती जी ने समाधि और तप के द्वारा अपने सौन्दर्य को सार्थक करने की इच्छा की, क्योंकि उनके बिना उस प्रकार का (दाम्पत्य) प्रेम और वैसा (शिव जी की तरह का) पति कैसे मिल सकता था ?

पार्वती जीं के दीर्घ काल तक तप कर चुकने के बाद शिव जी वहाँ परीक्षा लेने पहुँचे और उनका प्रेम सच्चा पाकर बोले, 'हे देवि ! इस समय से मैं आपका दास हूँ'। ऐसा भाव श्री गोस्वामी जी ने 'पार्वती मंगल' में भी व्यक्त किया है–

हमहिं आजु लगि कनउड़ कोहु न कीन्हेउ।
पारवती तप प्रेम, मोल मोहिं लीन्हेउ॥

श्री रामचरित मानस में पार्वती जीं के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए सप्तर्षियों के भेजे जाने का वर्णन है। उन्होंने कहा है—

अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस। (बालकाण्ड)

श्री पार्वती जी ने उत्तर दिया—

तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगे संभु रहे सविकारा॥
हमरे जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
जो मै शिव सेए अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहाँ भी अति कुशलता से और मर्यादा पूर्ण ढँग से विकार मुक्त दाम्पत्य प्रणय का चित्रण किया गया है। गोपी भाव, राधा भाव आदि को भी ऐसा ही विकार मुक्त, दिव्य समझना चाहिए। परा (या प्रेमा) भक्ति, विशेषत: मधुर भाव का ठीक ठीक समझना ही सम्भव नहीं, जब तक कि हम विकार मुक्त परन्तु तड़प (अगाध भाव) युक्त प्रेम को न समझ लें।

इस तरह कामिनी कांचन के आकर्षण से एकदम परे हो जाने पर ही अपने प्रभु के प्रेम में मग्न रहने की दशा मिल सकती है।

राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।
सुख जीवन ज्यों जीव को, मणि ज्यों फणि को।
हित ज्यों धन लोभ लीन को।।
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी, नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुणाकर,
पावन प्रेम पीन को।।
मनसा को दाता कहैं श्रुति प्रभु प्रवीन को।
तुलसिदास को भावतो, बिलिजाउँ दयानिधि।।
दीजै दान दीन को। (वि०प०)

जहाँ नारी में सत् (सत्य) बुद्धि, चित (चैतन्य स्वतन्त्र प्राणी) बुद्धि और आनन्द (सुख) बुद्धि नहीं रह जाती, बहाँ रूप, कोमलता भोग आदि का लोप हो जाता है, तब फिर नारी कठपुतली से या प्रस्तर मूर्ति से अधिक महत्व नहीं रखती।

साधारण मर्यादापालन और संयम की आवश्यकता तो सबको है, क्योंकि वह भी न हो तो परमार्थ पथ में गति नहीं। परन्तु एक उँचे सोपान पर पहुँच कर पता चलता है कि काम और राम दोनों की सेवा नहीं हो सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम ।
तुलसी कबहुँक रहि सकैं, रवि रजनी एक ठाम ।। (दोहावली)

तुलसी दो में एक ही, खेल छांड़ि छल खेलु ।
कै ममता करु राम सो, कै ममता परहेलु ।। (दोहावली)

जिन सन्तों ने यह दशा प्राप्त कर ली है कि कांचन कामिनी का आकर्षण रह ही नहीं गया वे ही भगवान् में मग्न रह सकते हैं। वे सच्चे ज्ञानी हैं, उनके लिए जगत् स्वप्नवत् हो चुका है, वे मोह निशा में नहीं हैं, जाग चुके हैं। जागने वाले को स्वप्न की वस्तुओं से कोई राग द्वेष नहीं रहता। ज्ञान के आलोक में भी सब प्रकार के विषय भोगों से वैराग्य हो जाता है।

ज्ञान अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति। इस अनुभूति के बाद ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।। जानत तुमहि तुमहि होइ जाई। (रा०च०मा०) तस्मात् ऐसे सन्तजन ब्रह्म के समान हैं, ऐसा वचन यथार्थ है, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कंचन को मृतिका करि मानत ।
कामिनि काष्ठ शिला पहिचानत ।।
तुलसी भूलि गए रस ऐहा ।
ते जन प्रकट राम की देहा ।।२८।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जो सोने को मिट्टी की तरह मानते हैं, कामिनी को कठपुतली की तरह पहचानते हैं, जो कांचन कामिनी का रस छोड़ तो चुके हैं, भूल भी चुके हैं, वे साक्षात् साकार ब्रह्म श्री राम जी का स्वरूप हैं, उनकी देह भी प्रभु के श्री विग्रह की तरह है ।

श्री गीता जी में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज्यं रसोप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। (५.५६)

जो भोगों का सेवन (ग्रहण, आहरण, परिग्रह, स्वीकार) बन्द कर देता है उसके भोग (इन्द्रिय भोग के पदार्थ) तो दूर हो जाते हैं, परन्तु रस (उन भोगों में सुख का आभास) बना रहता है, परं तत्व की अनुभूति से वह 'रस' भी मिट जाता है ।

सर्व परिग्रह भोग त्यागः । कस्य सुखं न करोति विरागः ।।
(श्री शंकराचार्य)

कोई यह कल्पना न करे कि घर बार छोड़कर भाग जाने से वैराग्य हो जायगा या सरलता से हो सकता है । मर्यादानुकूल भोग भोगता हुआ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सम्पन्न मनुष्य, उस व्यक्ति से कहीं अच्छा है (और साधन करने में समर्थ है) जो भोगों का त्यागकर उनके अभाव में दुःखी है या उनकी प्राप्ति की कामना करता है, अतः भोगी जीवन पुनः स्वीकार करता है। यदि कोई एक बार भोगों को दुःख मूलक जानकर त्याग देता है तो फिर—

यदि सेवेत तान् भिक्षुः, स वै वान्ताश्यापन्त्रपः। (श्रीमद्भा०)

यदि भिक्षु उन भोगों का पुनः सेवन करता है, तो वह कै किए किए पदार्थ को खाने वाले कुत्ते की तरह है।

रमा विलास राम अनुरागी। तजहिं वमन जिमि नर बड़भागी॥

वमन किए हुए भोज्य पदार्थों पर निर्धन और भूखे व्यक्ति का भी मन नहीं चलता, इसी प्रकार सच्चे भगवत् प्रेमियों का मन विषय भोगों की ओर नहीं जाता। यह सुविदित है कि भ्रमर पुष्प पराग का प्रेमी होता है। वह पुष्पों का रस चूसने विभिन्न पुष्पों पर जाया करता है परन्तु वह चम्पा के फूल पर नहीं जाता है। उसकी तीव्र गन्ध भ्रमर के लिए अनुकूल नहीं है। यदि चम्पा का कोई बाग लगा हो तो भ्रमर उस बाग से भी दूर रहेगा। अर्थात् भ्रमर का अन्य पुष्पों के प्रति आकर्षण है परन्तु चम्पा के प्रति सहज विकर्षण है श्री भगवान् के प्रेमी भक्त भगवान् के चरण कमलों के भ्रमर माने गए हैं। श्री रामचरित मानस में श्री भरत की प्रशंसा में कहा गया है कि—

राम चरन पंकज मन जासू। लुब्ध मधुप इव तजै न पासू॥

जिस समय श्री रामचन्द्र जी वन को चले गये थे और श्री भरत जी उन्हें वापस लाने के लिए चित्रकूट जा रहे थे उस समय मार्ग में, भरद्वाज जी के आश्रम में उनका साथ के सभी लोगों के सहित अतिथि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सत्कार हुआ। उस समय श्री भरद्वाज जी की सिद्धि के प्रताप से इस सत्कार का अलौकिक प्रबन्ध हुआ। श्री बाल्मीकि रामायण के वर्णन के अनुसार अयोध्यावासी इस सत्कार से इतने सुखी हुए कि वे वहीं निवास करने की इच्छा करने लगे। चित्रकूट जाने या अयोध्या लौटने की इच्छा उन्होंने छोड़ दी। श्री भरत जी को भी वही अलौकिक सत्कार मिला। साधारण लोगों पर उस सत्कार का जो प्रभाव पड़ा उसे श्री गोस्वामी जी ने अपने मर्यादित ढंग से कहा है–

सूक चन्दन बनितादिक भोगा। देखि हरष विस्मय बश लोगा।।

परन्तु भरत जी ने उस सत्कार को श्री भरद्वाज जी की आज्ञा से विवश होकर अत्यन्त संकोच पूर्वक स्वीकार किया। उन्हें किसी सुख, आकर्षण हर्ष या वैभव का अनुभव नहीं हुआ। श्री गोस्वामी जी कहते हैं—

सम्पति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निशि आश्रम पीजरा, राखे भा भिनुसार।।

यहाँ यह प्रदर्शित किया गया है कि जैसे रात्रि में चकवा और चकई एक साथ नहीं रहते, दिन में ही उनका समोद मिलन होता है उसी प्रकार श्री राम जी के विरह में भरत जी किसी दिव्य सम्पत्ति का भी अभिनन्दन नहीं कर करते। यहाँ यह बात अत्यन्त कुशलता पूर्वक प्रदर्शित कर दी गई है कि राम प्रेम की मूर्तिवत् श्री भरत जी को सभी सम्पत्ति और वैभव से सहज विकर्षण है। श्री विनय पत्रिका जी में कहा है कि–

जिन रघुबीर चरन अनुरागे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसका प्रबल प्रत्यक्ष उदाहरण श्री गोस्वामी जी ने श्री भरत जी के चरित्र में प्रस्तुत किया जब राज दरबार में सभी लोगों ने, यहाँ तक कि श्री कौशल्या जी ने और श्री वशिष्ठ जी ने भी उनसे राज्य करने का आग्रह किया तो उन्होंने कहा–

ग्रह गृहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय बारुनी, कहहु कवन उपचार।।

इस प्रकार श्री अयोध्या के विशाल साम्राज्य को श्री भरत जी ने रोग के समान अशुभ जाना और परित्याग कर दिया। चित्रकूट से लौट कर श्री भरत जी ने श्री राम जी की आज्ञानुसार समस्त शासन प्रबन्ध सम्हाला और श्री नन्दिग्राम में पर्ण कुटी में निवास करते हुए ऐसा तप भी किया जिसे 'मुनि मन अगम' माना गया। सारे राज्य का प्रबन्ध करते हुए श्री भरत जी श्री रामचन्द्र जी से भी अधिक तीव्र तपस्या में लगे रहते थे। श्री अयोध्या का विशाल वैभव सब उनके ही प्रबन्धाधिकार में था। परन्तु उनको उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं था।

अवध राज सुर राज, सिहाहीं। दशरथ धन लखि धनद लजाहीं।।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंपरीक जिमि चम्पक बागा।।

जिस प्रकार भ्रमर को चम्पा के पुष्प के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता, उसी प्रकार श्री भरत जी श्री अयोध्या में वास करते हुए भी और सारी सम्पत्ति के अधिकारी होते हुए भी थोड़े से भी आकर्षण का अनुभव नहीं करते थे।

श्री रामानुजाचार्य के गुरु श्री यामुनाचार्य थे। श्री यामुनाचार्य जी ने श्री विष्णु भगवान् की प्रशंसा में आलवन्दार स्तोत्र लिखा है। इस स्तोत्र के एक सुललित श्लोक में वे कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तवामृत स्यंदिनि पाद पंकजे, निवेशितातिमा न हि चान्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्द निर्भरे, मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षत्ति ।।

"जैसे मधुका प्रेमी भौंरा मकरंद से परिपूर्ण कमल के विद्यमान रहते गन्ने में लगे हुए कीड़े की ओर नहीं देखता है, उसी तरह आपके अमृत स्रावी चरण कमलों में जिसका मन प्रवेश कर गया है वह किसी और वस्तु की इच्छा नहीं करता है।" इस तरह इन प्रमाणों और उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्र वचन व सन्तों के अनुभव से यह भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि सच्चे भगवद् भक्त को विषयों का आकर्षण बिल्कुल नहीं होता। श्री गोस्वामी जी का तो यहाँ तक मत है कि विषय कटु लगने चाहिए परन्तु उनका मधुर लगना एक भयानक लक्षण है—

काम भुजंग डसत जब जाही। विषय निम्ब कटु लगत न ताही ।।
(वि०प०)

जिसे कामना रूपी सर्प काट लेता है, उसे विषय भोग रूपी नीम कड़ुवी नहीं लगती। इस प्रकार श्री गोस्वामी जी के अपने मत के अनुसार विषयों में सहज कटुता है न कि रमणीयता।

इस दृष्टि से देखने और मनन करने से शास्त्र का यह सिद्धान्त समझ में आयेगा कि जो सन्त विषयों के आकर्षण से नितान्त ऊपर उठ जाते हैं वे अपने सच्चे स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करते। बल्कि मोहवश प्राप्त हुए अपलक्षण को दूर करके अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

काँचन और कामिनी के बारे में जो विचार पिछले छन्द (दोहे) में प्रकट किया गया उसे ही इस चौपाई में पुष्ट किया गया है। तथापि कुछ उक्ति वैचित्र्य रखा गया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बहुत थोड़े लोग हैं जो विषय भोगों का स्वरूप से नितान्त त्याग करते हैं। ऐसे लोगों में भी इस प्रकार के लोग पाए जाएँगे जो उस त्याग का गौरव या अभिमान रखते हैं। प्रातः काल घर की सफाई करके कूड़ा फेंकते समय किसी को यह अनुभव नहीं होता कि वह कुछ त्याग कर रहा है। रोग के त्याग का अभिमान नहीं होता, धन सम्पत्ति के त्याग का अभिमान होता है। जहाँ यह भाव बना रहे कि मैंने बड़ा भारी त्याग किया है, वहाँ वस्तु का त्याग भले ही हुआ हो, उसके महत्व का भाव त्याग के बाद भी बना हुआ है। जहाँ विषयों का त्याग किया जाता है परन्तु उनके महत्व को अन्तःकरण स्वीकार किए रहता है और उसी महत्व के आधार पर त्याग का अभिमान हो जाता है, वहाँ सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर त्याग हुआ ही नहीं, क्योंकि चित्त में अब भी विषय भोग रमणीय और संग्रहणीय मान्य हैं। इसलिए अभिमान से किया हुआ त्याग, क्रोध या आघात या उच्चाट से किया हुआ त्याग उत्तम वैराग्य का प्रमाण नहीं माना गया है। घमण्ड से किया हुआ त्याग किसी अवसर पर धाक जमाने के लिए होता है. जैसे किसी नौकरी से आवेश में आकर त्याग-पत्र दे देना। तात्कालिक भावना का वेग शान्त हो जाने पर आसक्ति फिर जोर कर सकती है। जो बच्चा क्रोध में आकर किसी गुब्बारे को फोड़ देता है वह थोड़ी देर में फिर गुब्बारे के लिए रो सकता है। इसी तरह कभी कभी किसी आवेश में आकर घर छोड़ कर भागे हुए लोग, साधु हो जाने के बाद भी घर वालों की याद करके रोते पाए गए हैं। बड़ी आयु के लोग जिन्हें गुब्बारे के खेल में कोई सुखाभास नहीं रह गया, गुब्बारे के लिए कभी तृष्णा नहीं रख सकते। जिस किसी विषय में जिसका सुखाभास नष्ट हो गया है, उस विषय में उसे स्पृहा नहीं होती। जब तक विषयों में सुखाभास रहता हैं तब तक विषयों के ध्यान से संग संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से (स्वरूप की) विस्मृति और उससे बुद्धिनाश और अन्त में सर्वनाश होता है। (गीता २.६२.६३) यदि विवेक के प्रताप से मोह नाश हो गया और सुखाभास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नष्ट हो गया, तब यह भय नहीं रहता कि कुछ दिनों बाद वैराग्य ठण्ढा पड़ जायगा, विषयासक्ति पुनः प्रकट होगी। अतः श्री योग वासिष्ठ में कहा है--

सतामुत्तम वैराग्यं विवेकादेव जायते।
'सत् पुरुषों का उत्तम वैराग्य विवेक से ही उत्पन्न होता है।'

स्वर्गीय परम पूज्य श्री हनुमान् प्रसाद पोद्दार जी (सम्पादक, कल्याण) ने 'साधन पथ' में भी विषयों में रमणीयता के बाध को आवश्यक बताया है। असली वैराग्य वही है जिसे प्राप्त करने पर संसार का कोई विषय रमणीय न लगे। जगत् का सुखाभास एकदम समाप्त हो जाय।

इस प्रकार त्याग की भी विभिन्न भूमिकाए हैं--

निषिद्ध विषयों व पाप कर्मों का त्याग, काम्य कर्मों व कामनाओं का त्याग। जगत् के विषयों में रमणीय भावना का त्याग, महत्वपूर्ण विषयों के त्याग के अभिमान् का त्याग, विषवों में सुखाभास का अस्त, विषयों में कभी सुख मिला था उसकी स्मृति का भी त्याग, जगत् में सत्य बुद्धि का भी नितान्त त्याग, 'वासुदेवः सर्वं' भाव, द्वैत का त्याग। इन सब त्याग की भूमिकाओं से होते हुए भगवान् से एकत्व की प्राप्ति, मायाकृत बन्धन की समाप्ति।

'तुलसी भूलि गयो रस एहा।' इस तृतीय चरण में यह स्पष्ट संकेत है, कि कामिनी काँचन का रस जिन्हें भूल गया है, अर्थात् जगत् के विषयों का सुख अब नहीं भासता, पहले भोगा हुआ सुख भी अब सुखवत् मान्य नहीं रह गया, पहले के भोग की सुखद यादगार भी अब दिल में नहीं रही। जैसे स्वप्न में भोगे हुए सुख अवास्तविक मान्य हो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाते हैं और स्वप्न के सुखों की स्मृति भी शीघ्र ही क्षीण हो जाती है, यदि स्वप्न की कुछ स्मृति रह भी जाय तो भी वह सुखपूर्वक व्यतीत किए हुए समय की स्मृति की तरह नहीं रहती। जो त्याग की जितनी ऊँची भूमिका में प्रतिष्ठित हुए हैं, वे उतने ही धन्य हैं।

पिछले दोहे की पुनरुक्ति द्वारा पुष्टि तो इस चौपाई में की गई है परन्तु कुछ विलक्षणता भी है, पहले कहा—

'कंचन कांचहि सम गनत', अब कहा कंचन को मृतिका करि मानत। वहाँ तो सोना भला काँच के चमकदार टुकड़े की तरह था भी, यहाँ तो वह निरा मिट्टी ही हो गया, पहले भी स्वर्ण की आर्थिक महिमा अमान्य थी, परन्तु यहाँ तो वह पृथ्वी तत्व के एक रूप की तरह ही रह गया, उसकी चमक दमक की भी कोई विशेषता मान्य नहीं रही। मनुष्य कृत आधुनिक अर्थ व्यवस्था में स्वर्ण बहुमूल्य है। अन्य प्राणियों के लिए जो प्राकृतिक व्यवस्था है, उसमें स्वर्ण का कोई विशेष मूल्य नहीं, वह एक चमकदार पदार्थ है जैसे कांच का टुकड़ा। किसी वानर या भालू को स्वर्ण की चमक का तात्कालिक आकर्षण हो सकता है, उसके लिए वह स्थिर महत्व की वस्तु नहीं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सभी पदार्थ विद्युन्मय हैं। परमाणु की पुनर्रचना से एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का रूप ले सकता है। प्रसिद्ध सिद्ध सन्त स्वामी विशुद्धानन्द जी कहते थे कि सूर्य विद्या से परमाणु पुनर्रचना करके एक पदार्थ से दूसरा बनाया जा सकता है और वे बना भी देते थे। भूगर्भ वेत्ता कहते हैं कि कोयला और हीरा दोनों ही कार्बन हैं। तत्वतः भिन्न नहीं। लाखों बरस की गर्मी और दबाव से कोयले से ही हीरा बन गया। अब तो यह सिद्ध हो गया है कि प्रयोग शाला में भी कोयले से हीरा बनाना सम्भव है, परन्तु वह प्रयोग इतना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खर्चीला है कि उस तरह से हीरा बनाना सस्ता नही पड़ता है। तो फिर हीरा भी चमकदार कोयला है, स्वर्ण भी चमकीली मिट्टी है।

घोंघा, सिप्पी या शंख के ऊपरी कठोर आवरण को खोल कहते हैं, वृक्ष के ऊपरी कठोर आवरण को छाल कहते हैं, पशु या मनुष्य देह के ऊपरी आवरण को खाल या चर्म कहते हैं, उर्दू में इसे जिल्द कहते हैं, पुस्तकों के भी ऊपरी कठोर आवरण को जिल्द कहते हैं। मनुष्य देह में चर्म या खाल ऊपरी आवरण मात्र है। पेड़ों में ऊपरी आवरण का अत्यन्त कठोर होना आवश्यक है; नरम टहनियों, पत्तियों और कोपलों में जहां कोमलता की आवश्यकता है यह छाल नही होती। पेड़ों में छाल के भीतर लकड़ी भी कठोर होती है क्योंकि तने को स्थिर रहना है, झुकना नहीं है, परन्तु मनुष्य देह में कार्य क्षमता के लिए खाल का नरम होना आवश्यक है। जहाँ जहाँ कठोरता की आवश्यकता है, कठोर हड्डी रखी गयी है, परन्तु वह मांस और खाल से ढकी रहती है। पशु और मानव देह में सौन्दर्य चर्म में ही भासता है, और सौन्दर्य का ही आकर्षण होता है। यह माना जा सकता है कि गृहासक्त पुरुष के लिए देह की कोमलता और सौन्दर्य का महत्व है परन्तु जो व्यक्ति इन सुखों से ऊपर उठ चुका है उसके लिए इसका कोई महत्व नहीं जैसे—अबोध बालक यदि कोई वस्तु खरीदने के लिए बाजार जाय तो वह 'पैकिंग' से आकर्षित होकर वस्तु को खरीद सकता है। असली वस्तु की पहचान उसे नहीं है। परन्तु जानकार व्यक्ति वस्तु की पहचान करेगा, आवरण से आकर्षित नहीं होगा। इसी तरह मानव जीवन में भी चर्म सौन्दर्य से आकर्षित होना और उसे अति महत्व देना विवेक का लक्षण नहीं है। यह पुराने लोगों की बुद्धिमानी थी कि वह विवाह के लिए लड़की पसन्द करने में केवल चर्म सौन्दर्य को अति महत्व नहीं देते थे जिन देशों में युवक अपना साथी स्वयं चुनते हैं वहाँ बहुत मामलों में विवाह इसीलिए टूट जाते हैं कि जहाँ दैहिक आकर्षण को अति महत्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्राप्त हो गया और गृह संचालन के लिए आवश्यक गुणों की समीक्षा नहीं की गयी वहाँ बाद में असन्तोष आदि का उदय होना सहज और स्वाभाविक है। गृह संचालनादि कार्यों के लिए आवश्यक गुणों का सामाजिक और पारिवारिक जीवन में जो महत्व है वह चर्म सौन्दर्य से कहीं अधिक है। परन्तु जिन्हें केवल साधारण परिवार चलाना ही अभीष्ट नहीं है उनके लिए दूसरे दूसरे गुणों का अति महत्व होगा। उच्च कोटि के पुण्यात्मा, धार्मिकों साधकों के लिए नारी, कामिनी है ही नहीं। वह सहधर्म चारिणी है, पति के धर्म को सम्हालने और सुलभ बनाने वाली धर्म पत्नी है। अतः धर्माचरण, तपस्या, भजन निष्ठ जीवन में साथ देने की क्षमता होना उसके लिए अभीष्ट है जो किसी सन्त की धर्म पत्नी है। ऋषियों और दार्शनिकों की धर्म पत्नियों में विचित्र और अलौकिक गुण पाए गए हैं। उनके आत्मिक गुण महत्व पूर्ण हो जाते हैं। एक प्रबल उदाहरण श्री वाचस्पति मिश्र की धर्म पत्नी भामती का मिलता है। पचास वर्ष तक वे पति के साथ घर में निवास करती रहीं, उनकी सार सम्हाल भी करती रहीं उनके अध्ययन अध्यापन कार्य में भी सहायक रहीं, परन्तु पति को गृह सुखों की ओर बिल्कुल आकृष्ट नहीं किया। दोनों की जान पहचान तक नहीं हुई। तब दो घटनाएँ हुईं जिनका बहुत प्रभाव पड़ा। एक दिन श्री मिश्र जी अपने अध्ययन के कार्य में लगे हुए थे कि हवा के झोंके से चिराग बुझ गया। भामती ने यह देख लिया और उन्होंने सहसा जाकर चिराग जला दिया। श्री मिश्र जी बोले—"तुम कौन ?', उसने जबाब दिया—'आपकी दासी, उन्होंने कहा—'तुमको हमारी दासी किसने बनाया ?' उसने उत्तर दिया—'धर्म को छोड़कर हमारे आपके बीच ऐसा सम्बन्ध कौन स्थापित कर सकता है ?" मिश्र जी ने पूछा, "तो तुम हमारी धर्म पत्नी हो ?" उसने कहा—'जी हाँ।' ५० वर्ष हुए जब आपने विवाह मण्डप के नीचे मेरा पाणिग्रहण किया था, परन्तु उस समय भी आप दूसरे हाथ में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुस्तक लिए हुए थे। श्री वाचस्पति मिश्र को श्री भामती जी की इस तपस्या का लोहा मानना पड़ा। दूसरी घटना यह हुई कि श्री वाचस्पति मिश्र ने श्री शंकराचार्य जी के अद्वैत वेदान्तों को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वेदान्त सूत्रों पर जो शांकर भाष्य था उस पर अपनी विस्तृत टीका लिखी जिससे वे अध्यापन में भी सहायता लेते थे। एक बार उनको यह देखने को मिला कि किसी ने उनकी पोथी में संशोधन किया है। संशोधन ठीक था। सचमुच गलती हो गई थी जो ठीक कर दी गई थी। श्री मिश्र जी को यह आश्चर्य हुआ कि हमारी अपनी पोथी में किसने संशोधन कर दिया ? उन्होंने शिष्यों से पूछा परन्तु किसी शिष्य ने संशोधन करने की बात स्वीकार नहीं की। गुरू की पोथी में संशोधन करने की हिम्मत कोई शिष्य करता ही कैसे ? तब उन्होंने भामती जी से भी पूछा। वे बोलीं, "क्षमा कीजिएगा यह मेरी ढीठता है। मैंने यह सोचा कि आपकी यह पोथी दूसरे दूसरे विद्वानों के पास जायगी कहीं दूसरी जगह जाकर आपकी गलती न पकड़ी जाए इसलिए मैंने ठीक कर दिया। "श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा कि मुझे पता नहीं था कि तुम इस कोटि की विदुषी हो। अब यह मेरी टीका तुम्हारे नाम से ही विख्यात होगी। इसलिए श्री वाचस्पति मिश्र की टीका आज तक भामती की टीका ही कहलाती है।

वसिष्ठ और अरुन्धती, अत्रि-अनुसूया, सत्यवान्-सावित्री, राम-सीता, के जीवन में भी आत्मिक गुणों की प्रधानता मिलती है। सन्त जीवन में कामिनी का आकर्षण एकदम अस्त हो जाता है, परन्तु यह सम्भव है उनकी धर्म सहचरियाँ उनके तप की भी संगिनी हों यथा-- मनु-शतरूपा, कर्दम-देवहूति, च्यवन-सुकन्या, म० गाँधी और कस्तूरबा, श्री रामकृष्ण परमहंस और श्री शारदामणि आदि। अहिल्या जी का सौन्दर्य ऐसा विलक्षण था कि देवादि भी आकर्षित होते थे। वे महर्षि गौतम के आश्रम पर रक्खी गईं परन्तु श्री गौतम ऋषि दीर्घ काल तक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साथ रहने पर भी नितान्त अनाकृष्ट रहे। तब दैवी विधान से (आज्ञा से) वे श्री गौतम की ही धर्म पत्नी हुईं। श्री श्रीरामकृष्ण परमहंस जी ने श्री शारदामणि जी से कह दिया था, वह रामकृष्ण जिसके साथ तुम्हारा विवाह हुआ था, मर गया। यह दूसरा ही रामकृष्ण है, जो समस्त स्त्रियों को देवी जी का स्वरूप ही देखता है।

ते धीर अछत विकार हेतु जे रहहिं मनसिज वस किये।

जो नारी देहाभिमान रखती है और सौन्दर्य से आकृष्ट करना चाहती है वह कामिनी है, सच्चे सन्त के लिए वह काठ की पुतली है, उसका आकर्षण निष्प्रभाव है।

जिस प्रकार भारतीय दण्ड संहिता में बार बार पुरुष का ही उल्लेख अपराध परिभाषाओं में आता है। परन्तु स्त्रियाँ भी उसमें सम्मिलित मानी गई हैं, ऐसा नहीं है कि अपराध परिभाषाएँ या दण्ड प्राविधान उन पर लागू न हों। इसी प्रकार शास्त्र में भी पुरुष वाचक शब्द हैं, या पुरुष को सम्बोधित उपदेश हैं शास्त्रों के संवादों में प्रायः पुरुष श्रोता हैं। परन्तु उपदेश स्त्रियों के लिए भी हैं। सन्तो के लक्षण जो वर्णित हुए हैं, महिला सन्तों पर भी बराबर लागू हैं। इसलिए अपने आप समझ लेना चाहिए कि आदर्श महिला सन्त के लिए पुरुष का आकर्षण भी अस्त होगा। वह भी काष्ठ शिला रह जायगा।

तथापि जो विकार मुक्त दिव्य भगवदीय प्रेम पंथ का सम्पर्क है, उसका यहाँ वर्जन नहीं है।

अन्तःकरण से विषयासक्ति को निर्मूल और निर्बीज कर देने का चमत्कार भगवत् स्मृति में है। भगवान् की याद में डूबा रहने वाला

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्ति ही विषयासक्ति से इतना रहित हो सकता है कि स्मृति भी शेष न रहे। रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥

एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं तो जतन कोटि महि जाहीं॥
(रा०च०मा०, उत्तर काण्ड)

जिस सन्त के अन्तःकरण से विषयासक्ति इस प्रकार निर्मुल हो चुकी है, वह भगवान् से एक और अभिन्न हो चुका है। अतः ऐसे सन्त को इस जगत् में साक्षात् राम रूप घोषित किया है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आकिंचन इंद्री दमन, रमन राम इक तार।
तुलसी ऐसे सन्त जन, बिरले या संसार ॥२९॥

जो अकिंचन हैं, इन्द्रियों का दमन किए हुए हैं, और जो निरन्तर राम के ध्यान में ही लगे हैं, तुलसीदास जी कहते हैं कि ऐसे सन्त इस संसार में बिरले ही मिलते हैं।

शुद्ध संस्कृत रूप अकिंचन है, आकिंचन उससे निकला हुआ (तद्भव) रूप है। दोहे के प्रथम चरण में १३ मात्रा होनी चाहिए, दूसरे में ११, तीसरे में १३, और चौथे में ग्यारह। यहाँ प्रथम चरण में यदि 'अकिंचन' पाठ होता तो १२ ही मात्रा रह जातीं, इसलिए 'आकिंचन' पाठ रखा गया जिससे १३ मात्रा पूरी हो गईं, छन्द नहीं बिगड़ा।

अकिंचन—जिसके पास कुछ नहीं है। श्री रामचरित मानस में कहा है—परम अकिंचन प्रिय हरि केरे। शब्दार्थ ग्रहण करने से तो यह प्रतीत होगा कि जिसके पास कोई सामान न हो, घर, द्वार, भूमि, अन्न, वस्त्र, बर्तन आदि कुछ न हो वह अकिंचन। परन्तु गरीब से गरीब के पास भी प्रायः भिक्षा पात्र मिलेगा। त्यागी सन्तों के पास भी प्रायः दण्ड, कमण्डल, लँगोटी, अचला रहता है। कौपीन भी हो तो भी उतना वस्त्र तो है ही।

विचार करने से यह प्रतीत होगा कि शब्दार्थ ग्रहण से काम नहीं चलेगा। भाव ग्रहण करना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक तो 'पास' का मतलब निकट नहीं स्वामित्व में', ऐसा करना होगा। कोई अवधूत भी थोड़ी देर किसी सेठ के बैठके में बैठ जाय, तो उसके पास सोफा, बिजली का पखा आदि सब रहेगा, परन्तु यह सब उसका नहीं है, सेठ का ही है। इसलिए वह अकिंचन ही है। बैंक या डाकघर में जमा रुपया आपके निकट नहीं रहता परन्तु वह रुपया आपका है इसलिए आपके पास ही मान्य है। सेठ जी का रुपया मुनीम के पास रहे तो भी सेठ जी का ही रुपया है, मुनीम का नहीं। सरकार का रुपया सरकारी है, चाहे किसी के पास हो। अकिंचन वह है जो अपरिग्रही है। परिग्रहण का भी अर्थ भौतिक रूप से हाथ से पकड़ना नहीं है। मन से अपनाना है। क़ैदी के हाथ पैरों में हथकड़ी बेड़ी हो तो भी वह उनका परिग्रही नहीं है। किसी को दस रुपए का नोट देकर बाज़ार भेजिये और सामान मँगाइये तो नोट उसके हाथ में जाने पर भी आपका है, उसके परिग्रही आप ही हैं।

हवा सब जगह पाई जाती है, उसके बिना काम नहीं चलता, परन्तु उस पर स्वामित्व स्थापित न हो तब तक वायु सेवन होते हुए भी वायु परिग्रहण नहीं है। परन्तु यदि आपने कूलर लगा रखा है और उसका लाभ वहीं ले सकता है, जिसे आप अनुमति दें, तो वायु परिग्रहण हुआ है।

जो लोग इन्द्रिय सुखों के नितान्त त्यागी हैं, उन्हें भी कभी कभी परिस्थिति वशात् सुख स्वीकार करने पड़े। आप यदि गर्मी में किसी को पंखा हाँकने की सेवा करने की अनुमति नहीं देते, तो आप तब क्या करेंगे जब प्रकृति द्वारा ही हवा का झोंका भेज दिया जाय, अथवा विद्युत चालित पंखा चल रहा हो? यदि आप दुर्घटनाग्रस्त हो जायँ और बहुत अच्छे अस्पताल में पहुँचा दिए जायँ तो अपने नियम, व्रत, के विरुद्ध भी वहाँ सुख, सुविधा व व्यवस्था को सहन करना पड़ेगा न?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यदि किसी पुरुष व किसी स्त्री के हाथ हथकड़ी से संयुक्त कर दिए जायँ तो भी पाणिग्रहण (या प्रमदा परिग्रह) मान्य न होगा। नाटक में विविधि सम्बन्धों का अभिनय होने पर भी वे सम्बन्ध स्थापित नहीं होते, अमान्य ही रहते हैं। अतः दार्शनिक, यौगिक या आध्यात्मिक दृष्टि से आप उन्हीं वस्तुओं के परिग्रही हैं, जिन्हें आपने मन से अपने स्वामित्व में स्वीकार किया है। यही आपके बन्धन (चिन्ता, व्यग्रता, आशा, निराशा, भग्नाशा आदि) का कारण बनती हैं, अन्य नहीं।

परिग्रहो हि दुःखाय, यद्यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्त सुखमाप्नोति, तद्विद्वान् यस्त्वकिंचनः॥ (श्रीमद्भा०)

'प्यारी से प्यारी वस्तुओं का परिग्रह ही दुःख का कारण है जो विद्वान् (ज्ञानी) अकिंचन है, वह अनन्त सुख प्राप्त करता है।' साधारण दृष्टि से परिग्रह बढ़ने से सुख सुविधा की वृद्धि होती है, इसीलिए प्रायः सब श्रीमान्, लक्ष्मीवान् होना और रहना चाहते हैं। परन्तु धन के साथ चिन्ता, लोभ, अभिमान् आदि बढ़ते हैं, और सच्ची भगवत्प्रीति बाधित होती है।

अपरिग्रह सिद्ध होने से आवश्यक वस्तुएँ सहज प्राप्त होती रहती हैं। (योग सूत्र)। भगवत्प्रपन्न सन्त के लिए योग क्षेम वहन हेतु भगवान् की दिव्य विशेष व्यवस्था भी काम करती है। इसलिए कहा है कि परिग्रह दुःख मूलक हैं, अकिंचन को अनन्त सुख प्राप्त है।

न सुख देवराजस्य, न सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमेव विरक्तस्य, मुनेरेकान्त वासिनः॥

प्रसिद्ध सिद्ध सन्त श्री शाहन्शाह जी एक बार लखनऊ से दिल्ली जा रहे थे। जो सज्जन उन्हें स्टेशन तक भेजने गए वे घर से पूड़ी,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तरकारी बनवा कर पोटली ले गए। उसे रखने लगे तो शाहन्शाह जी ने कहा, 'इसमें क्या है ?'' वे बोले, 'महाराज ! दिल्ली के रास्ते मे खाने का समय हो जायगा, इसलिए आप के लिए पूड़ी तरकारी बनवा लाया हूँ।' शाहन्शाह जी ने कहा, आपका खाने का मन होगा, इसलिए बनवाया। हमारे साथ तो हमारा खानसामा रहता है, वह हमें सही समय पर खाना देगा।' जब गाड़ी अलीगढ़ पहुँची, खाने का समय हुआ। अलीगढ़ स्टेशन पर शाहन्शाह जी के एक भक्त अपने किसी अतिथि को लेने आये थे। वे अतिथि उसी गाड़ी से उतरने वाले थे। अतिथि तो आए नहीं पर उन भक्त को गाड़ी में शाहन्शाह जी मिल गए। वे उन्हें सप्रेम आग्रह पूर्वक अपने घर ले गए और भोजन कराया। दो चार दिन बाद दिल्ली से एक पत्र लखनऊ आया, जिसमें इन बातों का उल्लेख था।

पीछे पीछे हरि फिरैं कि भूखे ना रहि जायँ।

अकिंचन और इन्द्रिय दमन इन दोनों गुणों का सम्बन्ध है। इन्द्रिय दमन करने वाला ही अकिंचन रह सकता है, कोई और तो भोग सामग्री का परिग्रह करने को विवश हो जायगा। वासनाएँ हैं और भोग प्राप्त नहीं, तो ऐसी परिस्थिति में समाधान या शान्ति नहीं हो सकती।

महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के बाद अपरिग्रह गिनाया है, क्योंकि पूर्वोक्त चार के दृढ़ होने पर ही अपरिग्रह साध्य, सहज और स्वाभाविक बनता है।

जहाँ भोग वासना है, सम्पत्ति की आवश्यकता रहेगी, अपरिग्रह नहीं सधेगा। परन्तु जहाँ शरीर को भी अपना नहीं मानते, आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मिट गई, प्रभु को कोई मांग पत्र नहीं देना है, वहां प्रभु स्वयं व्यवहार संचालित करते हैं।

पेड़ पानी के बिना नहीं रह सकते, परन्तु बड़ पेड़ों की गहरी जड़ें भूमिगत नमी से पानी खींचकर ऊपर फेंकती रहती हैं। पेड पानी की खोज में कहीं जा नहीं सकते, परन्तु ऋतु विज्ञान वेत्ता बताते हैं कि पेड वर्षा को भी आकृष्ट करते हैं। जिस भूभाग के जंगल कट जाते हैं वहाँ वर्षा का वार्षिक औसत घट जाता है। इसी प्रकार अपरिग्रही की आवश्यकताएँ, स्वयं पूरी होती रहती हैं, परिग्रही की अपूर्ण आवश्यकताएँ बढ़ती ही जाती हैं। स्वामी रामतीर्थ जी ने एक प्रवचन में समझाया कि वासना स्वयं पूर्ति में बाधक है।

चाह गई चिन्ता गई, मनुवाँ बेपरवाह।
जाके मन कुछ चाह नहिं, सो शाहन प्रति शाह॥
तौ लौं जोगी जगत् गुरु, जौ लौं रहै निरास।
जौ मन में आसा भई, जग गुरु जोगी दास॥

'अकिंचन' के बाद 'इन्द्री दमन' कहने में एक और मन्तव्य है। योगियों का कथन है कि भगवत्प्राप्ति के ठीक पहले तक माया का फ़साद सम्भव है और पतन की आशंका है।

योग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अविद्या नास। (रा०च०मा०)

परमार्थ पथ में अन्तराय (विघ्न) आते ही हैं, परीक्षा होती ही है। ऊँची श्रेणी की परीक्षा भी कठिनतर होती है। अपरिग्रह सिद्ध होने के पूर्व बहुत सा तितिक्षा रूप तप करना पड़ता है। फिर यह सोपान प्रायः आता है कि बिना बुलाए ही लक्ष्मी आने लगती है। उसके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

त्याग वैराग्य आदि नये साधकों के लिए है, प्रौढ़ साधक तो दीन दुनियाँ दोनों का आराम उठा सकते हैं। जब वैभव पूर्ण जीवन में भी वराग्य न टिका तब तक साधन पक्का कहाँ हुआ ? सिद्ध सन्तों के लिए त्याग वैराग्य कुछ नहीं–को विधिः, को निषेधः।

इस तरह के विचार और आधार सदैव प्रस्तुत किये जाते हैं। इनमें पड़ कर पतन होगा कि नहीं और कितना पतन होगा, यह तो पृथक प्रश्न है, परन्तु जिसकी भगवान् से सच्ची लौ लग गई है वह इन बातों में पड़ेगा नहीं।

जिसे शौक हो गया कि परम प्रेमास्पद के ध्यान में ही मग्न रहे–

बैठे रहें तमुव्वरे जानाँ किए हुए।

उसे कब अनुकूल हो सकता है कि अन्यान्य विषय उठ खड़े हों जिन पर उसे ध्यान देना पड़े।

ग़ालिब साहब ने एक शैर में कहा है—

नुक्सां बहीं वला से, जुनूँ में हो घर खराब।
सौ गज़ जमी के बदले बियाबाँ गरां नहीं।

यदि प्रेमोन्माद में घर विलट जाय तो कोई हानि नहीं। घर की सौ गज़ ज़मीन चली जाय पर उसके बदले पूरा जंगल मिल जाय तो यह मंहगा सौदा नहीं है। श्री पार्वती जी ने भी तो कहा था—

नारद वचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवन उजरौ नहिं डरऊँ॥

त्याग वैराग्य की कमी होने से निर्विघ्न निरन्तर प्रभु स्मरण न हो सकेगा। इसलिए प्रभु का सच्चा प्रेमी वैराग्य निष्ठ होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैराग्य राग रसिको, भव भक्ति निष्ठः ।

अकिंचन और इन्द्रिय दमन युक्त जीवन की सफलता यही है कि सप्रेम निरन्तर प्रभु स्मरण होता रहे ।

जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह ।

तुलसी ते प्रिय राम के, कानन बसैं कि गेह ।। (दोहावली)

वैराग्य यह जीवन का एक पक्ष हुआ, सफल जीवन के लिए दूसरा पक्ष भी लेना चाहिए–सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर (गीता) हर समय प्रभु स्मरण ।

बिना हरि भजन के वैराग्य की दृढ़ता, सफलता व शोभा नहीं है । विषधों में सुख नहीं है, इसका अनुभव होने से, वहां सुखाभास नष्ट होने से वैराग्य हुआ, यह एक नकारात्मक उपलब्धि हुई, सकारात्मक उपलब्धि नहीं हुई । जहाँ सचमुच सुख हो वहीं उसकी प्रतीति हो और वहीं प्रीति हो तो यह सकारात्मक उपलब्धि हो । सच्चे सुख के निधान अमृत स्रावी भगवत् पदारविन्द हैं, वहाँ प्रेम होना चाहिए । गलत जगह सुख ढूंढ़ा और नहीं पाया, इतना अज्ञान तो दूर हुआ, परन्तु सही जगह भगवद्भजन में आनन्द है, वहां मिलना भी चाहिए और फिर तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत (श्रीमद्भागवत) उस आनन्द विधान परय सत्य का भजन होना चाहिए, ओर मिथ्याभास सचमुच मिट गया हो तो चित्त उधर जाना ही नहीं चाहिए । अर्थात् सप्रेम निरन्तर (अखण्ड) भजन होना चाहिए । 'रमन राम एकतार' का यही अर्थ है ।

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोइ एक होइ धर्म ब्रत धारी ।।
धर्म शील कोटिक महँ कोई । विषय विमुख बिराग रत होई ।।
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई । सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ । जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ ।।
जिन सहस्र महुँ सब सुख खानी । दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी ।।
धर्म शील विरक्त अरु ज्ञानी । जीवन मुक्त ब्रह्म पर प्रानी ।।
सबते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति रत गत मद माया ।।

इसी प्रकार श्री गीता जी में कहा है–

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वत: ।। (७.३)

बहूनां जन्मनामन्ते, ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ।। (७,१९)

दृढ़ वैराग्य वाला विवेकी सुर्लभ है, उनमें भी सम्यक् ज्ञानी दुर्लभ हैं, जीवन मुक्त और ब्रह्मलीन विज्ञानी और भी दुर्लभ हैं । परन्तु श्री भगवान् में निष्कपट अहैतुकी प्रीति रखने वाले सबसे दुर्लभ हैं । किसी भी भूमिका के सन्त सुलभ नहीं हैं

सत्संगति दुर्लभ संसारा । निमिष दण्ड भरि एकउ बारा ।।

परन्तु सन्तों में भी पूर्ण विरक्त, जिनके लौकिक संकल्प विकल्प भी अस्त हो चुके हैं, भगवान् की अहैतुकी भक्ति ही एक मात्र प्रयोजन रह गया है, 'सकल प्रकार विकार विहाई' तथा मन वचन कर्म से निरन्तर भगवद्भजन करते हैं, ऐसे सन्त बहुत ही दुर्लभ हैं, बिरले बिरले ही पाए जाते हैं । वे बहुत ही उच्च श्रेणी में पहुँच गए हैं ।

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू । कर्ण धार बिनु जिमि जलजानू ।।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अहंवाद मैं तैं नहीं, दुष्ट संग नहिं कोइ ।
दुख ते दुख नहिं ऊपजै, सुख ते सुख नहिं होइ ।।३०।।

अहंभाव तथा मैं तू व मेरा तेरा भाव जिनमें नहीं, दुष्टों का संग जिनके जीवन में बिल्कुल नहीं है, दुःख पड़ने से दुःखी नहीं होते, सुख मिलने से सुखी नहीं होते ।

इस दोहे में और अगले दोहे में मिलाकर सन्त लक्षण संक्षेप से कहे गये हैं, जिनमें एक प्रकार से समत्व के गुण का ही विस्तार है । पहले अभिमान का अभाव बताया गया है ।

सन्तों में अभिमान नहीं होता है ।

अहं = मैं, अस्मि = हूँ । 'अहंभाव' मैं पना । अहंवाद में केवल होने का अर्थ नहीं है, श्रेष्ठता का भाव भी समाया हुआ है । अपने को श्रेष्ठतर समझना और उसी तरह व्यवहार करना यह अहंवाद है । यह अहवाद परमार्थ का घातक है ।

कबीर ने कहा है–

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारे भुईं धरै, तब पैठै घर माहिं ।।

खाला = मौसी । शब्दशः सिर काट कर ज़मीन पर रख नहीं सकता, न तब प्रेम के घर में प्रवेश कर सकता है । परन्तु यह भावार्थ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिया जा सकता है कि अभिमान को नष्ट करके धूल में मिला दे तब प्रेम का अधिकारी हो सकता है।

योग वासिष्ठ का वचन है–

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरव।
अभिमानं सुरा पानं, त्रयस्त्यक्त्वा सुखी भवेत्।

श्री काष्ठ जिह्वा स्वामी जी ने कहा है–

मान बड़ाई जा दिन भाई, ता दिन किस्मत फूटी।
पूरी विपति मँहती आई, प्रीति राम से टूटी। (वैराग्य प्रदीप)

अहंकार निरसन एक ऐसा तत्व है जिसकी प्रायः उपेक्षा हो जाती है, परन्तु यह कदापि उपेक्षणीय नहीं है, साधन के लिए अनिवार्य है। अहंकार का त्याग कठिन है, उसके गुप्त और प्रकट कई रूप हैं, एक रूप में छूट जाय तो भी अन्य रूप में बना रहता है। सभी रूपों इसे पहचानना और त्याग देना दुष्कर है। परन्तु मान और ज्ञान का विरोध है। आप दोनों को एक साथ धारण नहीं कर सकते।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
(रा०च०मा०)

ज्ञान की दृष्टि से भाषणों व पुस्तकों में अद्वैत सिद्ध करना पर्याप्त नहीं है, अद्वैत दृष्टि होनी चाहिए। यदि एक ही चैतन्य सत्ता चराचर में सब रूपों में विराजमान है, दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं (अद्वितीयं), तो फिर मैं ब्रह्म हूँ, अन्य लोग ब्रह्म नहीं हैं, मैं पूज्य हूँ, अन्य पूजक हैं, ऐसा भेद कैसे टिकेगा?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक बार स्वामी राम तीर्थ जी से अमरीका में कहा गया कि 'आप वेदान्त प्रतिपादित करते हैं, अपने को ब्रह्म बताते हैं, हम कैसे मानें ? आप कोई चमत्कार दिखाइये तो मानें। स्वामी राम तीर्थ ने कहा—'यह जो सारा संसार प्रकट हुआ है, उससे बढ़कर और चमत्कार क्या होगा ? यदि आप ब्रह्म के इस चमत्कार मे प्रभावित नहीं हुए तो अन्य किसी छोटे से चमत्कार से क्या होगा ? दूसरे, चमत्कार से हमारा वेदान्त सिद्ध नहीं होगा, असिद्ध होगा। चमत्कार से तो आप मुझे ब्रह्म मान लें तो भी अपने को नहीं मानेंगे। मैं यह कहां कहता हूँ कि मैं ब्रह्म हूँ, आप नहीं हैं।' जरा सी असावधानी से या प्रमाद से यह प्रभाव पड़ता है कि अद्वैत सिद्धि बिगड़ जाती है, निज महत्व सिद्धि होने लगती है। अपने विशेष महत्व को मिटाकर ही अद्वैत स्थिति में ठहरा जा सकता है। उसका आग्रह करके नहीं। इस तरह मान और ज्ञान का विरोध है। जिसको मान बड़ाई न मिले वह बड़भागी है, एक महान विघ्न से बचा। यदि वह ज्ञान में स्थित रहना चाहे तो मान से बचे। गुणी और ज्ञानी जनों को मान मिलना चाहिए, मिलेगा और व्यवहार में उसे स्वीकार भी करना पड़ेगा, परन्तु गुण कृत इन भेदों को वास्तविक समझना और अपने लिए मान का आग्रह करना ज्ञान दृष्टि के विपरीत है। इस विषय में प्रमाद होने से यह विडम्बना पैदा हो जाती है कि—

बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि। (वि०प०)

उस उपदेश से क्या होगा जो अपनी ही समझ में नहीं आया ? उस दर्शन का क्या उपयोग जिस पर अपना ही विश्वास नहीं जमा।

संसृति मूल शूल पद नाना। सकल शोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपा निधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिया जा सकता है कि अभिमान को नष्ट करके धूल में मिला दे तब प्रेम का अधिकारी हो सकता है।

योग वासिष्ठ का वचन है–

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवं।
अभिमानं सुरा पानं, त्रयस्त्यक्त्वा सुखी भवेत्।

श्री काष्ठ जिह्वा स्वामी जी ने कहा है–

मान बड़ाई जा दिन भाई, ता दिन किस्मत फूटी।
पूरी विपति मँहती आई, प्रीति राम से टूटी। (वैराग्य प्रदीप)

अहंकार निरसन एक ऐसा तत्व है जिसकी प्रायः उपेक्षा हो जाती है, परन्तु यह कदापि उपेक्षणीय नहीं है, साधन के लिए अनिवार्य है। अहंकार का त्याग कठिन है, उसके गुप्त और प्रकट कई रूप हैं, एक रूप में छूट जाय तो भी अन्य रूप में बना रहता है। सभी रूपों इसे पहचानना और त्याग देना दुष्कर है। परन्तु मान और ज्ञान का विरोध है। आप दोनों को एक साथ धारण नहीं कर सकते।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।।
(रा०च०मा०)

ज्ञान की दृष्टि से भाषणों व पुस्तकों में अद्वैत सिद्ध करना पर्याप्त नहीं है, अद्वैत दृष्टि होनी चाहिए। यदि एक ही चैतन्य सत्ता चराचर में सब रूपों में विराजमान है, दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं (अद्वितीयं), तो फिर मैं ब्रह्म हुँ, अन्य लोग ब्रह्म नहीं हैं, मैं पूज्य हूँ, अन्य पूजक हैं, ऐसा भेद कैसे टिकेगा?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक बार स्वामी राम तीर्थ जी से अमरीका में कहा गया कि 'आप वेदान्त प्रतिपादित करते हैं, अपने को ब्रह्म बताते हैं, हम कैसे मानें ? आप कोई चमत्कार दिखाइये तो मानें। स्वामी राम तीर्थ ने कहा—'यह जो सारा संसार प्रकट हुआ है, उससे बढ़कर और चमत्कार क्या होगा ? यदि आप ब्रह्म के इस चमत्कार मे प्रभावित नहीं हुए तो अन्य किसी छोटे से चमत्कार से क्या होगा ? दूसरे, चमत्कार से हमारा वेदान्त सिद्ध नहीं होगा, असिद्ध होगा। चमत्कार से तो आप मुझे ब्रह्म मान लें तो भी अपने को नहीं मानेंगे। मैं यह कहां कहता हूँ कि मैं ब्रह्म हूँ, आप नहीं हैं।' जरा सी असावधानी मे या प्रमाद से यह प्रभाव पड़ता है कि अद्वैत सिद्धि बिगड़ जाती है, निज महत्व सिद्धि होने लगती है। अपने विशेष महत्व को मिटाकर ही अद्वैत स्थिति में ठहरा जा सकता है। उसका आग्रह करके नहीं। इस तरह मान और ज्ञान का विरोध है। जिसको मान बड़ाई न मिले वह बड़भागी है, एक महान विघ्न से बचा। यदि वह ज्ञान में स्थित रहना चाहे तो मान से बचे। गुणी और ज्ञानी जनों को मान मिलना चाहिए, मिलेगा और व्यवहार में उसे स्वीकार भी करना पड़ेगा, परन्तु गुण कृत इन भेदों को वास्तविक समझना और अपने लिए मान का आग्रह करना ज्ञान दृष्टि के विपरीत है। इस विषय में प्रमाद होने से यह विडम्बना पैदा हो जाती है कि—

बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि। (बि०प०)

उस उपदेश से क्या होगा जो अपनी ही समझ में नहीं आया ? उस दर्शन का क्या उपयोग जिस पर अपना ही विश्वास नहीं जमा।

संसृति मूल शूल पद नाना। सकल शोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपा निधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खुद को इतना मिटा कि तू न रहे।
और तुझमें दुई की बू न रहे।

प्रभु की माया के प्रताप से जिस विषय में जो अनाड़ी है, उस विषय के विशेषज्ञ होने का अभिमान उसके मन में उत्पन्न हो सकता है। जिस विषय में जो जानकार है, प्रशिक्षित है, कुशल है, या उपाधि धारी है उस विषय में तो अभिमान सहज और स्वाभाविक रूप से पैदा हो जाता है। यदि किसी में प्रमाणित योग्यता का अभाव हो तो भी उपाधि या प्रमाण पत्र के अनुसार अभिमान के उदय होने में कोई खास रुकावट नहीं पड़ती। फिर उपाधि के अतिरिक्त व्यक्तिगत योग्यता या दक्षता का अभिमान होता है। अपने ही आप प्रमाणित करना है तो बुद्धि बहुत जल्दी प्रमाणित कर देती है कि हम बहुतों से अच्छे हैं या सबसे अच्छे हैं। इन चीजों की ठीक ठीक निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ माप नहीं हो सकती। अतः विपुल अवकाश मिलता है कि हम जितना चाहें अभिमान से फूल जायँ। वारांगनाओं, दस्युओं, नेताओं आदि की ही नहीं विद्वानों, लेखकों, कवियों, विचारकों आदि की गर्वोक्तियाँ विज्ञजनों को विदित है ही। अपनी गर्वोक्ति ठीक जान पड़ती है, दूसरे की गर्वोक्ति पर प्रायः हँसी आती है। यह सब माया का जाल है। मोक्ष के निकट वाले सोपानों पर अभिमान के आक्रमण की आशंका कम नहीं प्रायः अधिक ही रहती है। विद्या का अहंकार, सर्वोत्तम अधिवक्ता, शास्त्रार्थी भाषण कर्ता, कथावाचक, कीर्तनकार आदि होने का अहंकार, कवि, लेखक, भाष्यकार, आदि किसी रूप में अप्रतिम होने का अहंकार, यहाँ तक कि अति उत्कृष्ट सन्त, योगी, विरक्त, सिद्ध या चमत्कारी होने का अहंकार सम्भव है। एक बार एक बहुत ही चोटी पर के सन्त ने श्रोताओं से पूछा कि क्या आप में से कोई है जिसे अभिमान न हो? बताया जाता है कि एक श्रोता ने इस पर कहा, 'मेरा तो ऐसा विचार है कि आपको भी इस बात का अभिमान है कि आपको अभिमान नहीं है।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस चतुर उक्ति पर वे सन्त कुछ भी नाराज़ नहीं हुए, बल्कि श्रोता का आदर किया और पास बिठाया। अहंकार के बड़े सूक्ष्म रूप हैं और प्रच्छन्न (छिपे हुए) रूप हैं। इन सब रूपों में अभिमान को पहचानना और निर्मूल करना, भगवत्कृपा साध्य है।

विद्या, रूप, बल, धन आदि अधिक होने पर भी अभिमान न हो तो यह भगवदनुग्रह ही मानना चाहिए। उत्पन्न अभिमान का भगवान् नाश कर दें तो यह भी उनकी महती कृपा है। भले ही उसमें अपमान आदि का दुःख सहना पड़े।

मामूली आदमी के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि अपने में कोई विशेष विभूति हो तो उसका बोध होगा ही तो अभिमान कैसे नहीं होगा? अहंकार रहित विभूतिमता व्यक्ति कम ही मिलते हैं, परन्तु उनका एकदम अभाव नहीं है। अमानी विशेषज्ञ का मनोविज्ञान अध्ययन का एक रुचिकर व हितकर विषय है। गुण हो अभिमान न हो यह एकदम असम्भव नहीं है। दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।

उत्तर प्रदेश के एक पश्चिमी जिले में एक ब्रह्मचारी जी (सन् १९८४ में जीवित) हैं जो शृंगी ऋषि के अवतार की तरह माने जाते हैं। कहा जाता है कि किसी कारण शृंगी ऋषि को शाप मिल गया, जिससे कुछ काल के लिए साधारण मानव देह से साधारण मानव समाज में रह रहे हैं। उनकी स्कूली विद्या कुछ नहीं है। साधारण समय में वे बिल्कुल मामूली व्यक्ति की तरह ही रहते हैं, पूज्य सन्त की तरह नहीं। पर उनमें एक विलक्षणता है कि प्रायः दिन में एक बार उन्हें लेटे लेटे समाधि लग जाती है और उसी अवस्था में वे मँजी हुई हिन्दी में भाषण देते हैं, जो अध्यात्म से आलोकित और मर्म से भरा होता है। भाषण प्रायः ४५ मिनट का होता है। वह विद्वानों के लिए भी श्रवणीय,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मननीय व हितकर होता है। उस समय यही जान पड़ता है कि कोई वैदिक ऋषि वैदिक सभ्यता के वातावरण में ही बोल रहे हैं। बाद मे ब्रह्मचारी जी कुछ नहीं बता सकते कि उन्होंने भाषण में क्या कहा था। वे किसी शंका का समाधान भी नहीं कर सकते। अब यह व्यवस्था हो गई हैं कि उनके भाषण टेप कर लिए जायँ। छप भी गए हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रवचन ब्रह्मचारी जी के हैं भी या नहीं। वे उनका श्रेय ले सकते हैं या नहीं।

'एक योगी की आत्म कथा' नामक परमहंस योगानन्द प्रणीत अंग्रेजी पुस्तक में एक महिला का उल्लेख है, जो खाती कुछ नहीं थीं, परन्तु ५० वर्ष से भी अधिक समय इसी तरह व्यतीत करने पर भी वे साधारण गृहिणी बनी रहीं, पूज्य सन्त या चमत्कारिणी योगिनी के रूप में कभी नहीं आईं। राजस्थान में एक ऐसी ही महिला सम्भव है कि अभी (१९८४ में) जीवित हों, देहात में अपने घर में साधारण स्त्री की तरह वैधव्य व्यतीत करती हुई, पूज्यता, मान बड़ाई से एकदम दूर। पूर्णत: निराहार।

एक पण्डित जी एक सन्त के पास जाकर बोले, 'महाराज! पढ़ा लिखा तो कुछ है नहीं, परन्तु आपके नाम पर आचार्य परीक्षा का आवेदन पत्र भर दिया है।' महात्मा ने कहा, मेरे नाम पर भर दिया है तो अब पाठ्यक्रम बिल्कुल न पढ़ना।' पण्डित जी ने बिना पढ़े परीक्षा दी। महात्मा जी अपने आसन पर ही कुछ क्रिया करते रहते थे। आश्चर्य जनक रीति से पण्डित जी को सब उत्तर आते गए और वे लिखते रहे। वे प्रथम श्रेणी मे सर्वोच्च स्थान पा गए। परीक्षकों ने लिखा, 'वर्षों से ऐसा प्रतिभाशाली परीक्षार्थी नहीं मिला।' इस परीक्षा फल के बाद सन्त ने आज्ञा दी, 'अब उपाधि के अनुरूप जानकारी के लिए आपको अध्ययन करना चाहिए। अब बताइये पण्डित जी को गर्व करने का अवसर था या नहीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पशु नाचत शुक पाठ प्रवीना। गुन गति नट पाठक अधीना ।।
(रा०च०मा०)

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ।।
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपजाऊ ।।
(रा०च०मा०)

अत: विवेकालोकित चित्त अहंकार को क्यों धारण करे? श्री गीता जी के अट्ठारहवें अध्याय में कर्ममात्र के पाँच कारण बताए गए हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च प्रथग्विधम्।
विविधाश्च प्रथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।(१४)

फिर कहा है कि पाँच कारणों के होते हुए भी जो केवल अपने को (कर्ता रूप से) कारण मानता है, उस दुर्बुद्धि की दृष्टि ग़लत है। (१६) पाँचवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि–

नेव किंचित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्ववित्। (८)

तत्ववित् योगी यही मानता है कि, मै कुछ नहीं करता।'

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (गीता ३.२७)

अहंकार से अपहत मूर्ख मन वाला यह मानता है कि, "मैं कर्ता हूँ।" साख्य दर्शन के अनुसार सारा कर्तृत्व प्रकृति का है, पुरुष का कुछ नहीं, कर्तृत्व का आभास ही मोह है, बन्धन का हेतु है।

विवेक की दृष्टि से एक और विडम्बना है जिससे सावधान रहकर बचना चाहिए। हम अच्छी बातों का श्रेय लेना चाहते हैं, अशुभ का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दायित्व नहीं लेना चाहते–वहाँ हम "काल करम विधि सिर धरि खोरी" की बात चलाते हैं।

काल करमहि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय।

लड़का प्रथम स्थान पर पास हुआ तो पिता जी श्रेय लेना चाहते हैं, कैसी अच्छी पढ़ने की व्यवस्था की! फेल हो गया तो अन्य कारणों से, पिता जी का कोई दोष नहीं। गम्भीर रोगी अच्छा हो गया, डाक्टर साहब गौरवान्वित हैं, मर गया तो उसकी मौत आ गई डाक्टर साहब क्या करें? आदि। विवेक दृष्टि से यह सब उपहासास्पद है।

यदि आप अहंकार रखते हैं तो आप सचमुच एक छोटा सा क्षेत्र बनाए हुए हैं, जहाँ आपका ही अधिकार चलता है, भगवान् का नहीं। जब आपका अधिकार चल नहीं पाता तो आप दुखी होते हैं। यदि आप अपने कोने में अपना राज्य न चलाएँ, सर्वत्र भगवान् का राज्य चलने दें तो आप भी प्रकृति के अन्य निरीह प्राणियों की तरह जीवन निर्वाह कर सकेंगे। भगवान् सृष्टि के सचालक होते हुए निश्चिन्त हैं आप एक कोने के उत्तरदायित्व से दबे हैं, चिन्तामग्न हैं, इसलिए चिन्तनमग्न आप कैसे हो सकते हैं?

एक बार एक महान् सन्त ने एक गीता जयन्ती महोत्सव में निम्न मार्मिक दोहा कहा–

ऐ पारथ के सारथी, तुझको कोटि प्रणाम।
मेरे मन की थाम तू, छूटी हुई लगाम॥

जीवन का हमने सौंप दिया सब भार तुम्हारे हाथों में।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसमें अहंकार का त्याग है, तभी शरणागति की सम्भावना है, हरि शरण में ही निर्विघ्नता है, उसी में निश्चिन्तता है और तभी निरन्तर चिन्तन हो सकता है।

महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने श्री गीताञ्जलि में कहा है–सदैव तुम भरते हो, सदैव भरने के लिए जगह रहती है।"

जहाँ नीचा होगा वहीं ऊँचे से बहकर पानी आएगा। जहां व्याकुलता होगी, उधर ही करुणा जायगी। जिसके हृदय में दीनता होगी उस पर भगवान् की कृपा बरसेगी।

एहि दरबार दीन को आदर (वि०प०), अत: दीन व्यक्ति ही भजन का अधिकारी है।

राम ग़रीब नेवाज हैं, हौं लही न ग़रीबी। (वि०प०)

जब हम थे तब हरि नहीं, अब हरि है हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं।। (कबीर)

अत्यन्त उच्च कोटि के विरक्त विद्वान् सन्त श्री १००८ स्वामी एकरसानन्द जी ने अपने शरीर का त्याग करने के कुछ ही पहले एक बार श्री रामचरित मानस सम्मेलन लखनऊ के वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्ष पद (अत्यन्त विशेष परिस्थितियों में) स्वीकार किया, और बड़ा ही अनोखा भाषण दिया। उसमें उन्होंने एक दृष्टान्त का ज़िक्र किया। एक राजा के सिपाही एक चोर का पीछा कर रहे थे। चोर नदी की ओर भागा। नदी के पास पहुँच कर वह अदृष्ट हो गया। नदी के पास छिपने की कोई जगह नहीं थी। चोर नदी में कूदता हुआ, ग़ोता लगाकर निकलता हुआ या तैरता हुआ तभी नहीं देखा गया। सिपाहियों को आश्चर्य हुआ कि चोर कहाँ गया। नदी के किनारे कुछ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मुद पड़े हुए थे। यह शक हुआ कि चोर कफ़न ओढ़कर मुर्दे की तरह लेट गया होगा, क्योंकि छिपने की कोई जगह वहाँ नहीं थी। हुक्म हुआ कि हर एक मुर्दे में बल्लम कोंचो। कोई जीवित होगा तो बल्लम के साथ खून आएगा। बल्लम कोंचा गया। जहाँ खून आया, समझ लिया गया कि यहीं चोर लुका है। कफ़न खींचकर अलग कर दिया गया। घायल चोर पकड़ गया। सिपाहियों ने चोर से पूछा, 'बल्लम कोंच कर निकाल लिया गया और तुमने आह न की?' वह बोला, 'जब मुर्दे का स्वाँग, तो फिर आह का क्या काम?" स्वामी जी ने बताया कि सन्यासियों के अचले को कफनी भी कहते हैं। जीते जी मरना ही सन्यास है। जब कफ़न ओढ़ लिया, मुर्दा बन गए तो फिर किसी भी चाह की आह क्या?'

कबीर की शिकायत थी–

माया मरी न मन मरा, मर मर मर जात सरीर।

सन्यास या पूर्ण अनन्य शरणागति इससे उल्टी है, उसमें शरीर जिन्दा रहता है, माया मर जाती है, वासनात्मक मन मर जाता है और तभी निरन्तर भगवच्चिन्तन की बहार आती है।

जहाँ अहंभाव शेष है, धर्म का, पुण्य का, साधन का या भजनानन्दी होने का भी अभिमान सम्भव है, परन्तु जहाँ मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर (कबीर) वहाँ यह सम्भावना नहीं। खुदी को छोड देना ही, खुदा का हाथ आना है। इस बेखुदी में तो इस दशा के पा लेने का भी श्रेय नहीं ले सकते, क्योंकि यह तो उनका ही करिश्मा है कि बेखुद कर दिया।

श्याम गौर वदनारबिन्द पर, जिसको बीर मचलते देखा।
नैन बान मुस्कान सग फँसि, फिर नहिं नेक सँभलते देखा।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ललित किशोरी युगुल इश्क में, बहुतों का घर घलते देखा।
डूबा प्रेम सिन्धु का कोई, हमने नहीं उछलते देखा।।

जब तक अहंकार है, योगसिद्धि या भजन के प्रताप से कोई सिद्धि हो तो वह अपनी शक्ति प्रतीत हो सकती है और उसका स्वतन्त्र प्रयोग सम्भव है। इतने से ही हम भगवान् से अलग पड़ सकते हैं, क्योंकि उनकी दी गई शक्ति अपनी मानी और अपने हिसाब से प्रयुक्त की। यह ज्ञान के भी विरुद्ध है, शरणागति के भी विरुद्ध है। यह विपर्यय असम्भव हो जायगा जब अहं लय हो जायगा और हम भगवान् के हाथ के खिलौने मात्र रह जायेंगे।

खेलिबे को खग मृग तरु, किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
एहि नाते नरकहु सचु पैहौं, या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं।।
(वि०प०)

जहाँ अहं है, वहाँ इदम् है, अहं=मैं, इदम्=यह दृश्यमान् जगत्। अहं इदम् को वश में करना चाहता है, परन्तु अहं सीमित है, इदं अपरिमित जान पड़ता है। अतः इस संघर्ष में आघात आवश्यक हैं। परन्तु जहाँ अहं और इदं दानों का नियन्त्रक ही सब कुछ है, वहां संघर्ष कहाँ! जो नियन्त्रण करे, ईशित्व करे वही ईश्वर है।

अन्तः पुरुष रूपेण काल रूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्वानां भगवानिति शब्द्यते।। (श्रीमद्भागवत)

भीतर पुरुष रूप से, बाहर काल रूप से, जो सभी का नियन्त्रण और समन्वय करते हैं, उन्हीं को भगवान् कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऐसे भगवान् के प्रेम सिन्धु में डूबना हो तो अहंकार का कवच उतार कर गोता लगाना होगा। अहंभाव के रहते उसकी गहराई न मिलेगी न उसमें स्थिति हो सकेगी।

मानव समाज में जहाँ मैं है वहाँ तैं भी है। मैं और अन्य, फिर अपना और पराया। यह सब भाव उठते हैं। यह व्यावहारिक द्वैत है, जिसमें दृढ़ अध्यास होने से परमार्थ का लोप होता है, राग द्वेष बढ़ता है। फिर साम्यावस्था नहीं रह सकती।

विभिन्न व्यक्तियों के अहंभाव की टकराहट से भी चित्त विक्षिप्त होता है और भजन निष्ठ नहीं रह सकता। साधारण मनुष्यों में कांचन कामिनी सम्बन्धी विवाद उठते हैं, परन्तु इनके त्यागी लोगों में मान बड़ाई के विवाद उठते हैं, जिसका स्पष्ट सम्बन्ध अहं भाव से रहता है।

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईरषा, तुलसी दुर्लभ एह।।

कांचन कामिनी का त्याग करके व्यक्ति प्रायः इस त्याग की मान बड़ाई चाहता है। इसलिए अहंभाव इसमें काम करता है कि हम कितनी प्रतिष्ठा के योग्य हैं। सन्तों महन्तों की प्रतिष्ठा सम्बन्धी तुलनात्मक (सापेक्ष) स्थिति पर विवाद उठ खड़े होते हैं। इनके मूल में भी अहंभाव रहता है। कभी कभी गुरुओं से अधिक या उनके स्थान पर, शिष्यों में विवाद उठ खड़े होते हैं। मान बड़ाई का विवाद कभी भी उठे तो जो हार मान लेता है, अपनी अल्प प्रतिष्ठा मान लेता है' दूसरे को सम्मानित करता है, वस्तुतः उसी की प्रतिष्ठा अधिक हो जाती है। प्रतिष्ठा अपने चाहने वालों से दूर भागती हैं, त्यागियों का पल्ला पकड़ती है। अहंभाव से प्रतिष्ठा या दूसरे से अधिक प्रतिष्ठा का आग्रह करना, प्रतिष्ठा खोने की तैयारी है, पाने की नहीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मैं = अहं, तैं = तुम, आप, तू । स्व पर का भेद । 'मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ।। (रा०च०मा) मैं और तैं के भेद से ही मोर, तोर (मेरा, तेरा) का भेद उदय होता है, वैसा विभिन्न परिवारों में स्व पर (अपना, पराया) भेद होता है, वैसा ही साधुओं के अखाड़ों, संगतों, मठों, गद्दियों आदि में भी हो जाता है। यदि मैं या मेरा स्थान, मठ या गद्दी महत्वपूर्ण है तो मेरा व्यक्ति भी उसी तरह महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। यह आग्रह रहता है। मेरा यानी मेरा पुत्र, शिष्य, अनुयायी, मुझमें श्रद्धा रखने वाला, मेरे स्थान का साधु या मेरा सन्देशवाहक, या सेवक भी मेरा होने के नाते सम्मानित व आदृत होना चाहिए। यदि कोई मेरा विरोधी, प्रत्यर्थी, प्रतिस्पर्धी है, या विरोधी सम्प्रदाय का है तो उसे समादृत न होना चाहिए। इस प्रकार व्यावहारिक राग द्वेष को महत्व मिलता जाता है। परिस्थिति जन्य विषमताओं ओर विवशताओं के कारण यह सब प्रायः अनिवार्य जान पड़ता है। जहाँ कहीं अपने पराए का भाव विकसित होगा, ऐसे परिणामों की आशा है ही। अच्छे अच्छे साधक भी इस दुष्चक्र में फँसते देखे गए हैं। परन्तु स्व पर बुद्धि से ऊपर उठना असम्भव नहीं समझना चाहिए। श्री गीता जी के अनुसार स्व पर बुद्धि से ऊपर उठा हुआ, दूसरों के दुःख सुख को अपने समान ही देखने वाला ही परम योगी है। (गीता ६.३२) जो आत्म निवेदन कर चुका उसका कुछ नहीं, कोई नहीं। कोई उसका बन गया तो वह भगवान् का ही बन गया। भगवान् ही उसका योग क्षेम चलाएँगे। ऐसे परम योगियों को विघ्न नहीं व्यापते। उनके लिए अपना पराया कुछ नहीं, सब भगवान् का है। ऐसे योगियों के साथ (देखने में) पराए लोग भी अपनापन बरतने लगते हैं। व्यवहार रुकने के बजाय निर्विघ्न चलता है। वह स्वतः चलता है, उन्हें चलाना नहीं पड़ता। ऐसी दशा में इस प्रकार के सन्त आन्दोलन, प्रचार, या मठ चलाते हुए भी निश्चिन्त भजन कर सकते हैं। अहंवाद के लीन होने से देह जनित चिन्ता से मुक्ति है, मैं तैं न होने से सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीवन में चिन्ता से मुक्ति है, इसलिए निश्चिन्त चिन्तन चल सकता है।

ऐसे सन्तों का यह भी लक्षण बतलाया गया है, कि उनका दुष्ट संग बिल्कुल नहीं होता। शब्द 'संग' में लगाव का अर्थ है, केवल भौतिक सम्पर्क का नहीं। दुष्ट व्यक्ति भी दफ्तर, डाकघर, रेलयात्रा पर या मठ मन्दिर आदि में जा सकता है, सयोग से उसे सन्त दर्शन भी हो सकता हैं। वह जान बूझकर सन्त दर्शनार्थ भी जा सकता है, परन्तु उसका सन्त से लगाव नहीं होगा, न सन्त का उससे लगाव होगा।

दुष्ट और सन्त परस्पर विपरीत स्वभाव वाले हैं, इसलिए इनमें परस्पराकर्षण नहीं होता विकर्षण होता है। इसलिए सन्तों का दुष्ट संग नहीं होता। अपने विरोधी स्वभाव वाले से किसी का भी मेल कैसे बैठ सकता है? इसलिए दुष्ट को सन्त सग अनुकूल नहीं, सन्त को दुष्ट संग अनुकूल नहीं।

भक्ति की दृष्टि से भी कुसंग त्याज्य है। श्री सूरदास जी ने गाया है—

तजो रे मन हरि विमुखन को संग।

जिनके संग कुमति मति उपजत, परत भजन महँ भंग।

श्री नारद भक्ति सूत्र में भी कहा—

महत् संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

परन्तु दुस्संग के लिए कहा कि वह बिल्कुल त्याज्य है—

दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शरणागति के ६ लक्षण बताए गए हैं, उनमें अनुकूल का संकल्प करना, प्रतिकूल का त्याग करना पहले ही गिनाया गया है। सत्सग भगवान् के अनुकूल है, दुष्ट संग प्रतिकूल है। अतः शरणागति के धर्म के अनुसार कुसग या दुष्ट संग सर्वथा वर्जनीय है। सन्त दुष्टसंग में बिल्कुल नहीं पड़ेगा।

कहा जा सकता है कि सन्त को दुष्टों के संग से क्या भय है, क्योंकि—

बिधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फणि मणि सम निज गुन अनुसरहीं॥

भाग्यवशात् दुष्ट का साथ पड़ जाय, तो भी सन्त प्रकृति का ही व्यवहार करना एक बात है, परन्तु दुष्ट संग से परहेज़ ही न करना दूसरी बात है। यदि कोई सिद्ध सन्त है, जो दुष्ट संग से बिल्कुल नहीं बिगड़ सकते, तो भी ऐसा प्रतिकूल संग वे क्यों करें। यदि कोई सोचे कि हम दुष्ट संग से बिगड़ नहीं सकते, इसलिए हमें दुष्ट संग से परहेज नहीं करना है, तो ऐसा विचार अहंभाव से दूषित तो है ही, साथ ही साथ इसमें प्रतिकूल वर्जन नहीं है। सन्तों का आदर्श व्यवहार वही है, जिसमें यह लक्षित हो कि दुष्ट सग उनकी अपनी रक्षा के लिए ही त्याज्य है, परन्तु यदि सन्त सिद्ध और पूर्णतः सुरक्षित हों तो भी दूसरों के हित में उन्हें दुष्ट सग दूर रखना चाहिए। यदि विशुद्ध ज्ञान और पराभक्ति का प्रयोजन है तो वातावरण को दुष्ट संग से दूषित नहीं होने देना चाहिए। सन्त यदि सिद्ध है तो यह कहा जा सकता है कि अपने लिए उनके जीवन का कुछ प्रयोजन नहीं रहा, अब वे 'पर काजै परमारथी, प्रीति लिए निबहन्त। (छन्द १०)। यदि दुष्ट संग सन्त के अपने लिए घातक न भी हो तो भी दूसरे साधकों के लिए अनर्थकारी होगा, अतः उसकी छूट देना 'परकाजे परमारथी प्रीति' के विरुद्ध होगा। दुष्ट संग और सत्संग दोनों साथ साथ आराम से नहीं चल सकते। इसलिए यदि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सत्संग चलना है तो दुष्ट संग को दूर रखना है। सत्संग में हरि कथा है जो 'ग्राम्य कथा' की घातक है है, दुष्ट संग में विषय रस है, जिसके रसिक हरि रस के अयोग्य हैं। तीर्थ, उत्तम मठ' देवस्थान आदि में केवल सत्संग ही होता रहे तो वहाँ का वातावरण पवित्र व उत्थानकारी बनता जाता है, उससे हरि भक्ति की छाप लोगों पर पड़ती है। इस प्रभाव को दूषित नहीं होने देना चाहिए।

सत्संग का प्रयोजन और उसका चाव जीवनमुक्तों को भी होता है—

जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।
ते हरि कथा न करहिं रति, तिनके हिय पाषान।। (रा०च०मा०)

इसलिए सत्संग की सुचारु व्यवस्था व दुष्ट संग का वर्जन, सन्त के लिए आवश्वक है।

सत्संगति दुर्लभ संसारा निमिष दण्ड भरि एकहु बारा।। रा०च०मा०)

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग।।
(रा०च०मा०)

सत्संगतिः किं न करोति पुंसाम्।

परिस्थिति निरपेक्ष होना सन्त का बहुत ही ऊँचा लक्षण है, लोकप्रियता या लोक निन्दा सम्पन्नता या विपन्नता, आदर या निरादर, स्वास्थ्य या रोग आदि द्वन्द्वों के बीच में जो समत्व में रहता है,वही सच्चा और ऊँचा सन्त है। श्री प्रह्लाद जी का भी वचन है कि—समत्वमाराधनमच्युस्य। (श्रीमद्भागवत)। यह समता की स्थिति तितिक्षा, शरणागति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और ज्ञान की अन्तिम परिणति है। जब तक जगत् सत्य और रमणीय भासित होता रहेगा, यह दशा नहीं आ सकती। जब यह हो जायगा कि—

उमा दारु योषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥

तब सारा दुख सुख कठपुतली का तमाशा बन जायगा। एक सन्त एक बार एक जिज्ञासु को उपदेश कर रहे थे। उन्होंने कहा, 'यदि सपने में आपको शेर मिल जाय और पैर से शुरू करके आपको खाने लगे, और उसी समय (किसी तरह) आपको यह बोध हो जाय कि यह सपने का शेर है और सपने के शरीर को ही खा रहा है, तो फिर यदि वह पूरा शरीर खा जाय तो भी क्या हानि है?' होता यह है कि स्वप्नत्व का बोध जागृत में ही होता है और जागृत में स्वप्न शरीर दृश्यमान् नहीं होता।

दुःख प्राप्त होने से दुख नहीं होता, सुख प्राप्त होने से सुख नहीं होता; यह एक अत्यन्त अनोखा अलौकिक सा लक्षण सन्तों का बताया गया है। यह तो ठीक है स्वप्न के समाप्त होने पर उसकी घटनाएँ और उनके प्रभाव रूप हर्ष शोकादि सब विकार एक साथ लुप्त हो जाते हैं। परन्तु स्वप्न में पेट का दर्द हो तो उसका दुःख तो होगा। सन्त शरीर धारी होकर दुःख से कैसे बचेंगे?

आदि शंकराचार्य की एक घटना बताई जाती जाती है। वे वाराणसी में थे। रास्ते में जा रहे थे। तत्कालीन काशी नरेश द्वैतवादी थे, अद्वैत मत को नहीं मानते थे। वे भी हाथी पर चढ़े हुए उधर से निकले। श्री शंकराचार्य को परेशान करने के लिए उन्होंने हाथी उनकी ओर चला दिया। श्री शंकराचार्य भागे। राजा ने कहा, 'हस्ती मृषा तर्हि किं पलायसे?' (हाथी तो मिथ्या है, फिर क्यो भाग रहे हैं?'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री शंकराचार्य बोले, 'तर्हि पलायनमपि मिथ्या।' (तो फिर भागना भी मिथ्या है।' स्वप्न के काल में व्यवहार चलेगा। बीमारी भी होगी इलाज भी। जागने पर न वह बीमारी सत्य सिद्ध होगी न इलाज। दोनों अविद्यमान् सिद्ध होंगे। इसलिए जगत् के व्यवहार में हाथी भी दौड़ा, श्री शंकराचार्य भी भागे। प्रबोध दृष्टि से न हाथी दौड़ा, न श्री शकराचार्य भागे।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में, प्राच्य विभाग में एक आचार्य थे जो (लगभग ५५ वर्ष हुए) वहाँ वेदान्त पढ़ाते थे। वे प्रवचनों में अद्वैत मत की स्थापना करते थे, संसार का मिथ्यात्व सिद्ध करते थे। एक बार उनकी पत्नी का निधन हो गया तो वे बहुत दुःखी हुए और रोये। उनका एक विद्यार्थी बोला, 'मैं अभी जाकर उनसे पूछता हूँ कि जब जगत् मिथ्या है तो आप पत्नी के निधन पर क्यों रोये?' दूसरे विद्यार्थियों ने किसी तरह उसे ऐसी धृष्टता करने से रोका। परन्तु कुछ समय के बाद जब आचार्य जी के प्रवचन पुनः चलने लगे, तो उसने कक्षा मै उक्त प्रश्न पूँछ ही दिया। आचार्य जी ने कहा, 'जगत् मिथ्या है, पत्नी मरी यह मिथ्या है, मैं रोया यह भी मिथ्या है।' इस प्रकार कुशलता से उत्तर देकर आचार्य जी ने अपनी स्थिति सँभाली।

साधारण दृष्टि से आचार्य जी का उत्तर वैसा ही है जैसे श्री शंकराचार्य जी का, परन्तु विचार करने से इनका अन्तर लक्षित होता है। हाथी दौड़ा यह एक क्रिया हुई, श्री शंकराचार्य जी भागे यह एक प्रतिक्रिया हुई। स्वप्न में, नाटक में, सिनेमा में, टेलीविज़न (दूरदर्शन) में ऐसी क्रिया और प्रतिक्रिया चलती ही है। जहाँ नाटक है, घटनाक्रम भी है। परन्तु आचार्य जी का रोना और शंकराचार्य जी का भागना एक सी बात नहीं है। रोना तब होता है जब अन्तःकरण तीव्र दुःख की अनुभूति करे। आचार्य जी रोये इससे लक्षित हुआ कि उनके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अन्त:करण (मन) ने तीव्र दु:ख की अनुभूति की। यदि निधन की घटना असत्य (मिथ्या) प्रतीत होती तो न तीव्र दुख की अनुभूति होती न रुलाई आती। कहने को यह भी कह सकते हैं कि आचार्य जी का अन्त:करण भी मिथ्या ही था। परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि किसी अन्य ज्ञानी की दृष्टि में भले ही सब मिथ्या हो, आचार्य जी की दृष्टि में जगत् सच्चा था, पत्नी भी सच्ची थी, निधन की घटना भी सच्ची थी, इसी से उन्हें तीव्र दु:ख की अनुभूति हुई और वे रोए। जो अन्त:करण ज्ञान से आलोकित है उसे सुख दुख हर्ष विषाद नहीं व्यापते। जिसे यह सुख दुख व्यापते हैं, वह ज्ञान की भूमिका में स्थित नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। आचार्य जी के रोने से अद्वैत वेदान्त तो असिद्ध नहीं होता, परन्तु आचार्य जी के अन्त:करण में यह प्रतिष्ठित नहीं था यह लक्षित होता है।

जिसके अन्त:करण में ज्ञान प्रतिष्ठित है वह व्यावहारिक जगत् की दु:ख परिस्थितियों में भी शान्त रह सकता है, दूसरा नहीं—

यस्मिन् स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते। (गीता ६.२२)

बड़े से बड़े दु:ख से कुछ भी चलायमान न होना, धीरज न खोना, व्यथित न होना, घबरा न जाना, विलाप न करना, मुख मलीन न होना, स्वयमेव ज्ञान का लक्षण है। महान् विपत्ति में अखण्ड धैर्य जहाँ पाया जाता है, वहाँ उसके कारण की जिज्ञासा होती ही है। यदि कोई और तात्कालिक कारण, व्याधि या दम्भ न हो, कारण यही निकलेगा कि अन्त:करण ज्ञान से आलोकित है। यह बात चाहे सबकी तुरन्त समझ में न आए पर सच है कि जो महान् दु:ख से चलायमान नहीं होता वह सुख से उद्वेलित भी नहीं होता। जो जिस सुख से अति सुखी होगा, उस सुख के अभाव में उसे अति दुख भी होगा। इसलिए वासना या तृष्णा अतृप्त रहने पर वर्तमान् दुख का कारण है, क्वचित्

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तृप्त होने पर भावी दुःख की सूचक है। तस्मात् त्याज्य ही है। जब सन्त के जीवन में 'दुःख ते दुःख नहिं ऊपजै' वाली दशा आ जाती है तो उसी का दूसरा रूप है, 'सुख ते सुख नहिं होइ।'

साधारण जीवन सापेक्षता से भरा है, हमारा सुख दुःख, हानि लाभ, यश अपयश, मान अपमान, गर्व दीनता सभी कुछ परिस्थिति सापेक्ष रहता है। परन्तु ज्यों ज्यों हम निरपेक्ष, पूर्ण सत्य स्वरूप प्रभु के निकट होते जाते हैं, परिस्थिति सापेक्षता कम होती जाती है। आदर्श भक्त के लक्षण हैं—वह हर्ष आमर्ष भय आदि उद्वेगों से मुक्त रहता है। (गीता १२.१५) वह न हर्ष करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न इच्छा करता है (१२.१७), शत्रु मित्र मान अपमान में समान है, सर्दी गर्मी सुख दुख मे भी समान है, आसक्ति रहित है (१२.१८) निन्दा स्तुति में भी समान है, जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तुष्ट है (१२.१९)। यथा लाभ सन्तोष सदाई। (रा०च०मा०) अनिकेत और स्थिर बुद्धि वाला है (१२.१९)। इन लक्षणों से युक्त जो सन्त है, वही सन्त मान्य है, वही निरन्तर भजन करने की पात्रता रखता है। अखण्ड भजन, निरन्तर भगवच्चिंतन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसके जी में आए कर चले। जब तक पात्रता नहीं होगी भगवान् में चित्त स्थिर न रह सकेगा, क्योंकि चित्त अभ्यास के अनुसार अभीष्ट (सुखद) वस्तु में ही टिक सकता है, सहसा उसे उसके प्रतिकूल किसी वस्तु में स्थिर नहीं किया जा सकता है।

इस विचार में अविवेक है, मनोवैज्ञानिक त्रुटि है कि हम दिन भर चाहे जिस तरह के काम करते रहें, चाहे जिस तरह का ध्यान करते रहें, परन्तु जब चाहें, जितना चाहें भगवान् का स्मरण, ध्यान कर सकते हैं। दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक जिस विषय का ध्यान किया जाता है, उसके ध्यान की ही दृढ़ भूमिका बनती हैं। इसलिए परमार्थ पथ पर चलने वालों को अन्तःकरण का कल्प (पूर्ण परिवर्तन) करना पड़ता है। भक्ति से ऐसा करने में सुविधा मिलती है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सम कंचन काँचै गिनत, शत्रु मित्र सम दोइ ।
तुलसी या संसार में, कहत सन्त जन सोइ ।।३१।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि इस संसार में वही सन्त कहलाते हैं, जो सोना और कांच को बराबर गिनते हैं, शत्रु मित्र में भी समान है ।

पूर्व दोहे में जो लक्षण कहे गए हैं, उनमें इस दोहे में कहे हुए लक्षण मिला लेने चाहिए । यह सब लक्षण जिसमें पाए जायँ वह इस संसार में सन्त मान्य होगा (कहा जायगा) ।

'सम कंचन कांचे गिनत' से यह संकेत दिया गया कि सन्त के लिए बहुमूल्य तथा बिना मूल्य दोनों तरह की वस्तुएँ बराबर हैं, भौतिक पदार्थों में से जो बहुत उपयोगी और कीमती है उसमें और अनुपयोगी वस्तु में सन्त भेद नहीं करते । कांचन और कांच में समता का गुण पहले ही कहा जा चुका है और उस पर बिशद विवेचन भी हो चुका है । व्यवहार में जिस वस्तु का जहाँ जो उपयोग है, वहीं वहाँ प्रयुक्त की जायगी, सन्त भी ऐसा ही समुचित उपयोग करेंगे । मठों आदि में रुपए आदि सुरक्षित भी रक्खे जायेंगे, मिट्टी, पत्थर या काँच की तरह लापरवाही से पड़े हुए नहीं मिलेंगे । परन्तु श्री गोस्वामी जी का तात्पर्य यह है कि सन्त सोने में मन से इतने ही अनासक्त रहेंगे जितने मिट्टी में । अर्थात् किसी को दे देने में संकोच नहीं, चोरी हो जाने में व्यथा नहीं, खर्च हो जाने में दुःख नहीं, कहीं से प्राप्त नियमित आय बन्द हो जाय तो शोक नहीं ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक सन्त अयोध्या में (सन् १९८४ में जीवित) हैं। उनकी नियमित आय थी, एक जगह से प्रतिमाह मनी आर्डर आता था। वह बन्द हो गया। कुछ अन्य सन्त संवेदना प्रकट करने गए और कहा, "महाराज ! आपकी वृत्ति बन्द हो गई है।" वे बोले, "हियाँ से (व्यावहारिक जगत् में) बन्द होइ गई है कि हुआँ से (भगवान् के यहाँ से बन्द होइ गई है ?" इस प्रकार सन्त भगवान् के भरोसे प्रायः सम्पत्ति निरपेक्ष जीवन व्यतीत करते हैं। भगवान् की ओर से उनका योग क्षेम वहन होता है। यदा कदा इससे सम्बन्धित चमत्कार भी घटित होते हैं। सम्पत्ति में आसक्त मनुष्य के जीवन में प्रारब्धवश हानि लाभ तो होगा, पर इस प्रकार के भगवदीय चमत्कार नहीं होंगे।

सामाजिक जीवन में अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध रखने में तीन प्रकार के सम्बन्ध बनते हैं—शत्रुता, मित्रता, उदासीनता। 'शत्रु, मित्र अरु उदासीन, ये मन कीन्हें बरियाई।' (वि०प०) अपने स्वार्थों, संस्कारों, रुचियों के अनुरूप शत्रु मित्र आदि भाव बनते हैं। यदि अपना कोई स्वार्थ बचा नहीं, आत्म निवेदन के कारण अपने संस्कारों या रुचियों के अनुकुल होने का भी कोई आधार नहीं रहा, तो ये शत्रु मित्र उदासीन भाव कैसे बनेंगे ? इसलिए समः शत्रौ च मित्रे च (गीता १२.१८) वाली स्थिति बनेगी और चलेगी। जहाँ किसी तरह का अपना पराया भाव रहेगा, वहाँ अपने आदमी का अहित करने वाला विरोधी या शत्रु की भूमिका में आ सकता है, उससे शत्रुभाव हो सकता है। परन्तु जहाँ अतिशय निज पर त्यागी' (वि०प०) भाव है, वहाँ शत्रु भाव नहीं बन सकता। ममता युक्त मैत्री भाव भी नहीं हो सकता, यद्यपि ममता रहित, करुणा प्रेरित, सर्वत्र समान मैत्री (गीता १२.१३) सम्भव है। ऐसी मैत्री में तो सभी मित्र हैं, न कि कुछ मित्र और कुछ शत्रु। पदार्थों में और व्यक्तियों (दोनों में) समता का अभाव इस दोहे में निरूपित है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कुछ सन्तों को मठ, मन्दिर या गद्दी का प्रबन्ध करना पड़ सकता है, कुछ गृहस्थाश्रमी सन्तों को परिवार का या उद्योग व्यवसाय का व्यवहार चलाना पड़ सकता है और यह प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकार की समता की वृत्ति से व्यवहार कैसे चलेगा ? बाइबिल में श्री ईसा जी का पहाड़ी पर का उपदेश भी शत्रुओं को भी प्यार करना सिखाता है। उसके बारे में भी ऐसे सन्देह उठाए गए हैं। परन्तु यदि कोई सन्त इस समता में निष्ठ और प्रतिष्ठित हैं तो उनके प्रति समाज की बड़ी ही श्रद्धामय भावना बन जाती है। चोरों के लिए भी उनका रक्षक व हित चिन्तक बन जाना सहज है। अतः समता निष्ठ सन्त बरबाद के बजाय आबाद ही अधिक होता है। यह नहीं कि इस नीति से गद्दियाँ उजड़ जाती हैं, उल्टे यह आशंका है कि रोकथाम न की गई तो इतनी लक्ष्मी घसिट कर आ जायगी कि भावी उत्तराधिकारियों का सत्पथ पर चलते रहना दुष्कर हो जायगा। अपनी भावना या कर्म के आधार पर सामाजिक प्रतिक्रिया भी हो जाती है।

समता में प्रतिष्ठित सन्त के दरबार में परस्पर विरोधी विचार व भाव रखने वाले लोग पहुँच सकते हैं, और वहाँ अपने विरोध को भूलकर सहयोग कर सकते हैं। समता सहयोग वर्धक शक्ति है। सन्त व्यवहार को त्रिगुणमयी माया से प्रेरित और गुणों को मायामूलक मानकर भेदों, मतभेदों को अति महत्व नहीं देते। अतः उनके यहाँ अहिंसा, प्रेम व सहयोग का पोषक एक स्वस्थ वातावरण बन जाता है। जो सन्त सबको भगवान् का ही रूप देखते हैं, वे किसी से विरोध नहीं कर सकते—

निज प्रभु मय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध।

यदि कोई उनसे वैर विरोध करता है तो सन्त उसे भी प्रभु की लीला ही समझते हैं, सतो गुण के प्रभाव से भी विरोधी के प्रति वे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उदासीन भाव रखते हैं, वैर विरोध कदापि नहीं रखते। यदि राजनीति में, चुनाव आदि में कर्तव्यवश कोई विरोध करना ही पड़े, तो भी सन्त उससे अपने मन में कोई वैर या विरोध का भाव उत्पन्न नहीं होने देते।

न्यायालयों में देखा जाता है कि महान् वकील जो आपस में मित्र होते हैं एक दूसरे के विरुद्ध पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उनका विरोध उस प्रकरण तक, तर्क प्रस्तुत करने व बाद में जीतने तक ही सीमित रहता है। वे परस्पर अपमान नहीं करते। सुनवाई के बाद उनकी मित्रता में कोई फरक नहीं पड़ता। विरोधी वकील किसी और वाद प्रकरण में सहयोगी भी रह सकता है। यानी कर्तव्यगत विरोध है हार्दिक नहीं। इसी प्रकार डा० राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे महापुरुष चुनाव विरोध या दलगत भेदों से सौहार्द और मैत्री में फर्क नहीं पड़ने देते थे। अर्थात् उनके लिए भी कर्तव्यगत विरोध था, हार्दिक विरोध नहीं था। बहुत से सन्त तो ऐसा जीवन बिताते हैं जिसमें कर्तव्यगत विरोध का भी प्रसंग नहीं आता; परन्तु जो व्यवहार से अलग नहीं हैं, वे कर्तव्यगत विरोध का प्रसंग आने पर भी, हार्दिक विरोध का भाव नहीं बनने देते यानी शत्रु भाव किसी से नहीं बनता। यही अहिंसा का सार है। इससे दूसरे लोगों के मन में यदि वैर भाव हो तो वह भी घटने या मिटने लगता है।

ऐसा हो सकता है कि शुद्ध सच्चे और समता निष्ठ सन्त का बरताव सबके साथ एक सा न हो, अनुगत शिष्य व विरोधी के प्रति समान व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि पात्रता अलग अलग है परन्तु पात्रानुसार यथायोग्य व्यवहार होते हुए भी स्वपक्ष परपक्ष भाव नहीं होगा। शीशे के सामने जो भी आएगा उसका मुख प्रतिबिम्बित होगा। प्रतिबिम्ब भेद बिम्ब भेद जनित है, शीशे का कोई स्व पर भेदभाव नहीं कहा जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अविवेकी की दृष्टि में सच्चा सन्त भी पक्षपाती ठहर सकता है, परन्तु यह भ्रम है।

निज भ्रम नहिं समझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
यथा गगन घन पटल निहारी। झंपेउ भानु कहहिं कुविचारी॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी॥

सन्त चरित्र व भाव के रहस्य को अश्रद्धालु, अविवेकी व कुतर्की लोग नहीं समझ सकते। शुद्ध अन्तःकरण के लोग ही सन्त महिमा को कुछ समझ सकते हैं। मठ, मन्दिर या गद्दी की उन्नति भी वस्तुतः चाटुकारी चातुर्य आदि से वैसी सम्भव नहीं है जितनी कि सन्तोष, धैर्य, सेवा आदि से।

बहुत बार पाठकों के चित्त में यह बात उठ सकती है कि व्यवहार निवृत्त सन्यासी के लिए यह सब सम्भव है, परन्तु गृहस्थ या मठाधीश के लिए नहीं। यह नहीं भूलना चाहिए कि बड़े बड़े मठों या बड़ी गद्दियों का प्रारम्भ प्रायः उन सन्तों के द्वारा हुआ था जो नितान्त तपस्वी थे और सन्तों के गुणों से युक्त थे। व्यवहार की मजबूरियाँ तो प्रायः तब उठ खड़ी होती हैं जब मठों मन्दिरों आदि में सम्पन्नता आ जाती है, लौकिक वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं और तपस्या क्षीण हो जाती है। एक बहुत बड़े राजयोगी सन्त श्री अयोध्या में वास करते थे। वे अपने अत्यन्त योग्य उत्तराधिकारी सन्त को आदेश दे गए हैं कि—आश्रम के लिए कोई जमीन दे तो नहीं लेना, कोई मारपीट करे तो नहीं लड़ना' अयोध्या में ही कहीं वास करते रहना यदि कोई पैसा दे जाय तो दिनान्त तक अपने पास रह न जाय और मरते समय कफन के लिए पैसा पास न निकले। ४८ वर्ष से ऊपर हो चुके हैं, उत्तराधिकारी सन्त अब १९८४ में अति वृद्ध हैं परन्तु उन आज्ञाओं का पालन करते हुए सफलता पूर्वक आश्रम चला रहे हैं। इसलिए इस नितान्त भ्रमात्मक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विचार को छोड़ देना चाहिए कि सन्त वृत्ति से व्यवहार नहीं चलता। निर्मल व्यवहार उसी से चलता है। यह ठीक है कि कलुषित व्यवहार से उसका मेल नहीं बैठता।

श्री गोस्वामी जी महाराज ने बड़ी चतुरता से यह लिखा है कि इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति इस संसार में सन्त कहा जाता है। ध्यान देने योग्य तथ्य है कि हम लोग चाहे जितनी आपत्तियाँ उठाएँ और मोहवश संदेहग्रस्त रहें परन्तु जब साधारण सांसारिक मनुष्य के लिए भी इस बात का निर्णय करने का अवसर आता है कि अमुक व्यक्ति सन्त है या नहीं तो वह भी उसी कसौटी का प्रयोग करता है जो पिछले और इस दोहे में अंकित है। सांसारिक लोग चाहे जितने तर्क मिलाते हों कि सन्तों के अंकित लक्षण असम्भव हैं परन्तु यह भी एक अनुभूत सत्य है कि इन लक्षणों से रहित किसी व्यक्ति को वे सन्त मानने को तैयार नहीं। यह एक विडम्बना है। आज प्रायः कहा जाता है कि चुनावों में भले आदमियों का काम नहीं। कोई सन्त स्वभाव व्यक्ति चुनावों में खड़ा हो जाय तो लोग यह समझते हैं कि यह उसकी गलती है। परन्तु वे इस बात के लिए तैयार नहीं कि जो लोग चुनकर आएँ वह सब चालाक, धूर्त और दुष्ट निकलें। चुने हुए लोगों से वह देशभक्ति और सज्जनता की ही आशा करते हैं। जो लोग लौकिक सम्पन्नता को अत्यन्त महत्व देते हैं और उसके लिए नैतिक मूल्यों के बलिदान की आवश्यकता भी मानते हैं, इनमें से कोई भी श्री राणा प्रताप, श्री गुरु गोविन्द सिंह, श्री शिवाजी, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि को मूर्ख नहीं मानते मन में और वचन से इन महापुरुषों का आदर करते हैं।

एक बार प्रसिद्ध सन्त श्री स्वामी शरणानन्द जी का प्रवचन था। उसके बाद एक श्रोता सज्जन ने प्रश्न किया कि महाराज आजकल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सच्चाई ईमानदारी निभती नहीं, कैसे बरती जाय ? श्री स्वामी जी अनोखी सूझ बूझ के थे और उनमें अद्‌भुत हाजिर जबाबी थी। वे बोले यह मत कहो कि सच नहीं बोला जा सकता, यह मत कहो कि ईमानदारी नहीं हो सकती, यह कहो कि हम झूंठ बोलेंगे। हम बेईमानी करेंगे। यदि सच्चाई और ईमानदारी हो ही नहीं सकती तो यह बताओ कि चोर नौकर, बेवफा दोस्त, झूठा साथी मंजूर करोगे ? यदि नौकर के लिए ईमानदारी सम्भव है, दोस्त के लिए वफादारी सम्भव है. साथी के लिए सच सम्भव है तो आपके लिए कैसे असम्भव है ? प्रश्न कर्ता आगे कुछ नहीं बोल सके।

सच यह है कि भगवान् के और शास्त्र के बचनों में हमारे बहुत से सन्देह इसीलिए उठते हैं कि हमारी श्रद्धा कच्ची है और हमारे सम्कार विपरीत हैं परन्तु किसी अन्य दृष्टिकोण से देखने पर हम स्वयं ही उन्हीं सिद्धान्तों में निष्ठ दिखाई पड़ते हैं जिन पर हम सन्देह उटाते हैं और जिन पर हम चल नहीं पाते हैं।

हमें भली भाँति समझ लेना चाहिए कि गृहस्थ या वनस्थ के भेद के बिना न्त मात्र के लक्षण वही हैं जो यहाँ अकित किए गए हैं। यदि किसी सन्त का वाह्य व्यवहार या आचार साधारण अविवेकी मनुष्य की दृष्टि में अंकित लक्षणों से भिन्न हो तो भी यह पाया जायगा कि उनके अन्त:करण में सन्त लक्षण ही व्याप्त हैं। बाह्याचार, देश, काल, अवसर, परिस्थिति, गुरु आज्ञा, लोक संग्रह आदि किसी कारण से भिन्न होना सम्भव है। अविवेकियों की दृष्टि में न्यायालय में खड़े हुए पक्ष और विपक्ष के अधिवक्ता सचमुच वाग युद्ध में रत हैं परन्तु सही यह है कि वे केवल अपने तात्कालिक कर्तव्यों में संलग्न हैं। अन्त: करण गत उनकी भावना में लेश मात्र भी पारस्परिक संघर्ष नहीं। यह तो प्रसिद्ध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही है कि भीष्माचार्य पाण्डव दल से युद्ध करते थे और महाभारत के युद्ध में दसदिन तक वे कौरव सेना के प्रधानसेनानायक रहे। परन्तु उनके मन में पाण्डवों के प्रति कोई भी वैर विरोध या संघर्ष नहीं था और श्रीकृष्ण के प्रति तो उनके मन में अत्यन्त अनुराग था। अतः हमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए कि सच्चे सन्तों में उपर्युक्त लक्षण पाए ही जायँगे। बाह्याचरण के भेदों से इन लक्षणों का अभाव मान लेना त्रुटि पूर्ण होगा।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिरले बिरलें पाइए, माया त्यागी संत ।
तुलसी कामी कुटिलकलि, केकी काक अनंत ।।३२।।

श्री गोस्वामी जी महाराज कहते हैं कि संसार में ऐसे सन्त बहुत ही कम मिलते हैं जो माया के त्यागी हों। ऐसे अनन्त लोग भरे पड़े हैं कि जो देखने में चाहे अच्छे ही हों परन्तु कामी, कपटी या दुष्ट होते हैं। इनका आचरण मोर या कौए की तरह होता है।

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकम् न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न बने बने ।।

हर एक पहाड़ पर माणिक्य नहीं मिलता, हर एक हाथी के मस्तक में मोती नहीं होता, सन्त सब जगह नहीं पाए जाते, चन्दन के पेड़ हर एक जंगल में नहीं मिलते।

यद्यपि श्री गोस्वामी जी ने सन्तों की दुर्लभता और विरलता के बारे में पहले से ही कह रखा है, तथापि यह दोहा विशेषत: इस बात पर बल देने के लिए अंकित किया गया है कि सच्चे सन्त इस संसार में बहुत ही कम पाए जाते हैं, यद्यपि ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिनमें साधारण व्यक्ति को प्रथम दर्शन में साधुपने का आभास मिले।

यह दोहा एक प्रकार से विवेक का उद्‌बोधन है। साधकों को सचेत किया गया है कि साधु वेश में घूमने वाले या अन्य ऐसे लाखों लोग मिल जायेंगे जों सन्त पने का दिखावा रखते हैं। बहुत से लोग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तो केवल दम्भ के लिए ही साधु वेश बनाते हैं या अन्य प्रकार से साधुओं का आचार विचार प्रदर्शित करते हैं। धोखे में आकर साधक के ठगे जाने या हानि उठाने का खतरा रहता है। यद्यपि शास्त्र और सन्त यह उपदेश नहीं देते कि दूसरे की निन्दा की जाय, परन्तु उन्हें यह भी स्वीकार नहीं हैं कि भोले भाले लोग सन्तों की शरणागति को खोजते हुए दाम्भिकों और ठगों के शिकार हो जायँ। अतः शास्त्र दृष्टि से यही अच्छा है कि हममें इतना विवेक हो कि हम सच्चे सन्तों की पहचान कर सकें।

किसी किसी को यह खटकता है कि श्री रामचरित मानस में श्री राम जी के जन्म की कथा बाद में है कपट मुनि की कथा पहले परन्तु वहाँ भी विवेक का उद्‌बोधन है। उस कथा में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार एक धार्मिक और विवेकशील राजा भी कपट मुनि के फेर में पड़कर श्रापित हुआ और उसे रावण के रूप में जन्म लेना पड़ा। इसी से तो श्री गोस्वामी जी कह गए हैं कि सन्तों में दुष्ट संग जरा भी नहीं होता। साधकों को इस धोखे से बचना चाहिए कि सत्संग के धोखे कुसंग या दुष्ट संग न हो जाय। दुष्ट संग सर्वथा त्याज्य है।

प्रश्न यह उठता हैं कि पहले से कैसे जाना जाय कि जो हमें सन्त संग मालूम होता है वह सचमुच सत्संग है या उसका मिथ्याभास है। श्री गोस्वामी जी ने श्री रामचरित मानस में कहा—

तुलसी देखि सुवेष, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकिहि पेष, वचन सुधा राम असन अहि॥

इस प्रकार श्री तुलसीदास जी की सम्मति यह है कि केवल वेश देखकर धोखे में आ जाने वाले मूर्ख व्यक्ति होते हैं, चतुर लोग केवल वेश देख कर धोखे में नहीं आते। इसके लिए श्री गोस्वामी जी ने कृपा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करके केकी अर्थात् मोर का उदाहरण दिया है। मोर का स्वरूप अति सुन्दर है। जिसे भी मोर का एक पंख भी मिल जाता है वह सौन्दर्य के कारण उसे सुरक्षित रखना चाहता है। मोर इतना सुन्दर है। जब वह पख फैलाकर नाचता है तब ऐसा सुन्दर दृश्य उपस्थित होता है कि देखने वाले का मन आश्चर्य और प्रसन्नता से खिल उठता है। इतना ही नहीं, जब मोर बोलता है तब उसकी वाणी मानवों को भी अत्यन्त मधुर, अमृतमयी, जान पड़ती है। इस प्रकार वेश, नृत्य और वाणी से प्रभावित होने वाले लोग अवश्य ही मोर के प्रति अत्यन्त आकर्षित हों जायँगे। परन्तु श्री गोस्वामी जी ने यह बताया है कि मोर का वचन तो सुधा के समान है परन्तु असन अर्थात् आहार (भोजन) अहि है यानी वह साँप को खाता है। इस प्रकार यह सकेत कर दिया गया है कि विवेकी लोगों को चाहिए कि वह केवल वेश और वाणी पर न जायें आहार की भी परीक्षा करें। असन या आहार प्रतीक रूप में कहा गया है। वह इस बात का संकेत है कि अभीष्ट वस्तु, अभिलषित पदार्थ अथवा मनोगत प्रयोजन क्या है ?

सच्चे सन्त मन वचन कर्म में एक ही होते हैं परन्तु दाम्भिकों को मन के उल्टे वचन और कर्म बनाने पड़ते हैं। दाम्भिकों को भी अभिलाषा की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, विपरीत आभास प्रदर्शित करना अभिलाषा पूर्ति का साधन बन सकता है जैसे—रावण ने सन्यासी का वेश बनाकर महाराणी जी का हरण किया और अर्जुन ने भी सुभद्रा की प्राप्ति की लिप्सा से सन्यासी का रूप रखकर द्वारका में प्रवेश किया और सुभद्रा हरण किया। बुरे कामों के लिए दाम्भिकों को अच्छे वेशों के दुरुपयोग की आवश्यकता पड़ती है। यह सही न होगा कि ऐसे दुरुपयोग के आधार पर समाज में अच्छे वेशों का आदर ही समाप्त कर दिया जाय। अच्छे वेशों का आदर होना चाहिए परन्तु हमारी नजर उस लक्ष्य पर होनी चाहिए जिसको लेकर वह वेश बनाया गया। जब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कभी किसी भी दुष्ट व्यक्ति को किसी पाप कर्म के करने में या पाप करने के बाद निकल भागने में उसे कोई वेश बनाना होता है तो साधु वेश प्राय: बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। कितने ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें लोगों ने भयंकर अपराध करने के बाद बच निकलने के लिए साधु वेश बनाया और बच निकले। यह भी देखा गया है कि कभी-कभी साधु वेश सी०आई०डी० के अफसरों को भी अपराधों का पता लगाने में बहुत अनुकूल पड़ता है। भारत वर्ष जैसे देश में लाखों लोग गरीबी और भुखमरी का शिकार होकर भिक्षा वृत्ति अपना लेते हैं। उनके लिए भी सन्त का वेश अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। ऐसे सब लोग सच्चे सन्त मानकर पूजे जायँ और लोग उनके उपदेशानुसार चलने लगें तो समाज का बहुत बड़ा अनिष्ट होता है।

यह ठीक है कि सरल सन्त हृदय को ही सच्चे सन्त की ठीक पहचान होती है परन्तु बहुत से साधकों के लिए यह बहुत उपयोगी होगा कि उन्हें यह बता दिया जाय कि किस बात का खास विचार करके वे कपटी और दम्भी लोगों को पहचान सकते हैं और उनके जाल से बच सकते हैं कसौटी यह है कि किसी के लिए भी अच्छा वेश बनाने और अमृत के समान वचन बोलने का प्रयोजन क्या है? वह उतना अच्छा वेश क्यों बनाए रहना चाहता है अथवा वाणी का उतना अच्छा, मधुर या कुशल प्रयोग क्यों करना चाहता है? एक अभिनेत्री भी मीरा का वेश बनाकर मंच पर आ सकती है और मीरा का भजन गाने में अपना कमाल दिखा सकती है वह मीरा से भी अच्छा मीरा का पार्ट करके दिखा सकती है। परन्तु अगर वह ऐसा करती है तो उसका प्रयोजन क्या होता है? मीरा विशुद्ध कृष्ण प्रेम से प्रेरित थीं, 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।" परन्तु जब मंच पर अभिनय में यह भजन गाया जायगा तब यह नहीं कहा जा सकता कि अभिनय करने वाले के लिए गिरधर गोपाल को छोड़ कर कोई नहीं है। वहां लक्ष्य भगवान् को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रसन्न करना नहीं है, दर्शकों को प्रसन्न करना है। साथ ही अभिनय के निर्देशकों को प्रसन्न करने का भी प्रयोजन रहता है। इस तरह किसी अभिनेत्री और मीरा में वेश और वाणी का बहुत सा साम्य मिल सकता है परन्तु दोनों के प्रयोजन में नितान्त भिन्नता है। कहते हैं कि एक बार तानसेन ने दीपक राग गाया तो दीपक नहीं जला परन्तु उनके गुरु स्वामी हरीदास जी के द्वारा दीपक राग गाया गया तो दीपक जल उठा। तानसेन ने श्री स्वामी हरीदास जी से विनय पूर्वक पूछा, महाराज मेरे गाने में क्या त्रुटि थी जो दीपक न जला जबकि आपके गाने से दीपक जल उठा ? श्री स्वामी हरीदास जी बोले, "कि गाने मे कोई ग़लती नहीं थी। राग ठीक गाया गया था। भेद केवल इतना ही है कि तुम बादशाह के लिए गाते हो मैं भगवाम् के लिए गाता हूँ।' मन्तव्य या प्रयोजन का भेद तुरन्त अपना असर नहीं दिखाता परन्तु जीवन पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ता है।

साधकों की बचत दो प्रकार से हो सकती है यदि कोई सन्त का वेश बना ले या सन्तों के समान शास्त्र के उपदेशों को समझा दे तो इतने में कोई हर्ज नहीं कि हम उसके अच्छे वेश को देखकर उसका औपचारिक सन्मान कर दें अथवा उसका भाषण या उसकी कथा सुनकर उसके पाण्डित्य की तारीफ कर दें या उसकी व्याख्या का लाभ उठाकर कुछ शास्त्र वचनों के सही अर्थों को ज्यादा अच्छी तरह समझ लें। परन्तु किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का उमड़ पड़ना, उसके निकट सम्पर्क में आ जाना और उसके वचनों को आज्ञा की तरह मानने लगना सहसा नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति बनने के पूर्व हमें यह स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाना चाहिए कि उसके जीवन का असली लक्ष्य या प्रयोजन क्या है ?

वकालत या पांडित्य की अधिकता से व्यक्ति योग्यता के लिए पूज्य हो सकता है, सन्त नहीं माना जा सकता। वाक् चातुर्य और सन्त रूपता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक ही चीज़ नहीं है। शास्त्र की बात भी न्यायालय में रखना हो तो बड़ा वकील सक्षम होगा, परन्तु उसकी धाक् वकील के रूप में ही जमेगी, शास्त्र पण्डित के रूप में नहीं। कोई महान् पण्डित या प्रोफेसर वैराग्य को ऐसा अच्छा समझा सकता है, जैसा कि सन्त भी न समझा पाएँ। परन्तु ऐसा वह पैसे के लिए कर सकता है। तो फिर, जब उसे स्वयं वैराग्य नहीं है और उसके द्वारा प्रतिपादित वैराग्य से उसे ही समाधान नहीं है, तो लोगों में उस प्रतिपादन से वैराग्य कैसे प्रतिष्ठित होगा ?

यदि कोई साधु, वेष और वचन से बहुत त्यागी सिद्ध होता है परन्तु उसका प्रयोजन यह है कि वह बहुत बड़ा महात्मा माना जाय, या किसी स्थान की गद्दी उसे ही मिले, या गुरु उसे ही उत्तराधिकारी बना दें या उसके बहुत से शिष्य हो जायँ, ताकि उसे प्रतिष्ठा और वैभव खूब मिले, तो वेश और वचन में वैराग्य होते हुए भी प्रयोजन में वैराग्य नहीं। वैराग्य का आचार भी मान और धन की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। ऐसा आचरण करने वाला सन्त नहीं मान्य है। इसी से तो प्रह्लाद ने कहा कि भगवान् निर्मूल प्रेम से प्रसन्न होते हैं, बाकी सब ढोंग हैं। (श्रीमद्भागवत)।

चाहे कांचन कामिनी हो या मान बड़ाई आदि हो किसी भी लौकिक प्रयोजन को लेकर जो त्याग किया जाता है, वह परिणामतः माया त्यागी सन्त की पदवी नहीं दे सकता। श्री गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में सन्त स्वभाव माँगा है। उसमें सुख, दुःख मानापमान को समान मानकर, देह जनित चिन्ता छोड़कर अविचल हरि भक्ति करने की बात है। इसी तरह निष्काम भक्ति की प्रार्थना की है—

चहौं न सुगति सुमति सम्पति कुछ रिधि सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यदि कोई भी लौकिक प्रयोजन बना रहा तो माया त्याग नहीं हुआ या अपूर्ण रहा।

प्रारम्भ में अहेतुकी भक्ति नहीं होती परन्तु आदर्श तो यही होना चाहिए। जहाँ किसी लौकिक प्रयोजन से भक्ति की जाती है वहाँ प्रयोजन साध्य है, भक्ति साधन है। साध्य का महत्व साधन से अधिक रहता है। दार्शनिक दृष्टि से जो व्यक्ति मायिक प्रयोजन के लिए भगवान् का स्मरण भजन करता है या त्याग करता है, वह व्यक्ति भगवान् से माया को अधिक मानता है, कम नहीं। उसका मन भगवान् से कैसे लगा रह सकता है? जिसके मन में इस प्रकार के विचार हैं, उसको माया त्यागी कैसे माना जाय?

माया त्याग की भी भूमिकाएँ हैं, विभिन्न सीमाओं तक माया त्याग होता है। दोहे में संकेत यह है कि माया को पूर्ण त्यागी बिरले ही है। माया के आकर्षक पदार्थ बहुत हैं और आसक्ति की प्रगाढ़ता अलग अलग है। यह भेद भी है कि केवल बाह्य त्याग है या उसका जिक्र भी त्याग दिया गया है, मन से भी त्याग है या नहीं, सुखाभास पूर्वक स्मरण होता है कि समाप्त है, विषयों का रस बचा है या निवृत्त है? इन बातों पर विचार करके माया त्याग की भूमिका या पूर्णता का निश्चय हो सकेगा। माया में अत्यन्तासक्त प्राणी मायिक आकर्षण का कुछ भी प्रतिरोध नहीं कर पाता। आकर्षण के सामने वह विवश है, अभीष्ट विषय मिलने पर अस्वीकार कर ही नहीं पाता। यहाँ माया त्याग शून्य है।

धन माया का एक सुप्रसिद्ध आकर्षण है। उसका त्याग कठिन है। तथापि मनुष्य को कहीं तो मर्यादा बाँधनी ही पड़ती है। अपने पुत्र का वध करने के लिए एक हजार रुपए मिलते हों तो निर्धन और भुखमरा व्यक्ति भी उसे प्रायः स्वीकार नहीं करेगा। लाखों लोग भूखे रहते हुए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी और अवसर मिलने पर भी चोरी करके धन नहीं लेते, बहुत से लोग चोरी का माल सस्ता मिलने पर भी नहीं लेते, यद्यपि यह सही है कि तस्करी का माल खरीदने में लोगों का संकोच समाप्त हुआ जा रहा है। ग्राह्य और त्याज्य धन का भेद करना ही पड़ता है।

इसी प्रकार से अन्य विषयों में भी विधि निषेध, ग्राह्य त्याज्य का विचार करना पड़ता है। विषयों में एकदम अविचार पूर्वक आकर्षण का अनुसरण करने वाला मनुष्य दुर्लभ है, परन्तु जहाँ आकर्षण प्रबल है और निषिद्ध आचरण करने का अनिष्ट बहुत बड़ा नहीं प्रतीत होता, अथवा निकट भविष्य में उसकी प्राप्ति की आशंका नहीं है, अथवा स्पष्ट समझ में नहीं आता कि क्या अनिष्ट हो सकता है अथवा अनिष्ट परिपाक संदिग्ध है, हो या न हो, वहाँ बहुसख्यक आसक्त जन आकर्षण का अनुसरण करते हैं। इसमें बहुत बड़ा धोखा यह है कि विधि निषेध का निश्चय करने वालों का अनुभव, ज्ञान व विवेक साधारण आसक्त जीवों को प्राप्त नहीं है, अत: उन्हें सम्भावित अनिष्ट का उतना उत्तम दर्शन नहीं हो सकता। अत: जन साधारण अनिष्टों से बच नहीं सकते यदि दूसरे विवेकी जनों की निष्पक्ष सुविचारित सम्मति को मानकर उस पर नहीं चलते। योरप और अमरीका में विवाह रुचि अनुरूप होते हैं परन्तु इससे विवेक के स्थान पर आकर्षण प्रधान हो जाता है, इसीसे विवाह विच्छेद भी वहीं अधिक हैं। प्रत्येक प्रकार के विधि निषेध का रहस्य हर एक की समझ में नहीं आ सकता, परन्तु जो इसका पालन करता है वह लाभान्वित होता है। डाक्टर का बताया हुआ परहेज़ समझ में न आवे तो भी किया जाता है, और लाभदायक होता है। यह त्याग की प्रारम्भिक भूमिका है, और प्राय: इतना ही त्याग करके कोई त्यागी नहीं माना जाता। तथापि विधि निषेध का सावधानी से पूरा पूरा पालन करने वाला प्रशंसनीय है। विवेक का लक्षण है दूरदृष्टि। भावी अनर्थ से बचने के लिए वर्तमान आकर्षण से बचना प्रशंसनीय है। प्रथम भूमिका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में विषयों का सुख मान्य है, परन्तु स्वच्छन्द सेवन से अनिष्ट आशंकित है, उससे बचने के लिए विधि निषेध का पालन है, निषिद्ध का त्याग है।

जब साधक और आगे बढ़ता है तब विषयों का भयावह स्वरूप सामने आने लगता है और रमणीयता का बाध होने लगता है। 'अनविचार रमणीय सदा, संसार भयंकर भारी। (वि०प०) तब यह बात सामने आती है कि विधि निषेध का उपयोग तो इसलिए है कि अविवेकवश विषमताएँ न पैदा हों, परन्तु कुछ अनिष्ट, विषयों के सेवन में अनिवार्य ही हैं, वे इस तरह से निवृत्त नहीं हो सकते यथा—अपरिग्रही की सी निश्चिन्तता करोड़पति को नसीब नहीं हो सकती, सम्पत्ति की व्यवस्था चाहे जैसी की जाय। अधिक अमीरों को अधिक चिन्ता स्वाभाविक है। श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ११ में अर्थ के जो पन्द्रह दोष लिखे हैं, वे भी आने लगते हैं। इसी प्रकार पन्द्रह बीस वर्ष विवाहित जीवन व्यतीत करने के बाद प्रायः कोई भी नहीं कहता कि उसे आशा के अनुरूप सुख मिला, परन्तु आसक्ति, निर्भरता, विवशता, बन्धन, अनिवार्यता आदि की दृढ़ता होती जाती है। विषयों से सन्तोष व तृप्तिदायक सुख तो किसी को नहीं मिला, परन्तु बन्धन और दुःख हर एक को मिला। इसलिए मर्यादानुकूल विषय सेवन एक सीमा तक लाभ दायक है, वह विषयों के डंक को बिल्कुल तोड़ नहीं सकता। इस भूमिका में पहुँच कर यह वृत्ति बनने लगती हैं कि विषय अभीष्ट नहीं है। अष्टावक्र गीता का उपदेश है—विषयान् विषवत् त्यज। (विषयों को विष की तरह छोड़ो)। धीरे धीरे विषय भोगों की प्राप्ति के लिए साधन करने की प्रेरणा क्षीण हो जाती है। इसलिए निषिद्ध कर्मों के बाद, काम्य कर्मों के त्याग का नम्बर आता है। कामना छूटने पर काम्य कर्म छूटेंगे, कामना बनी रहते नहीं। विषयों की कामना (सुख

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैभव विलास मान आदि की इच्छा) छूटने पर काम्य कर्मों की प्रेरणा क्षीण होगी।

कर्तव्य कर्म तो रहेंगे परन्तु इनके करने में भी वृत्ति भेद सम्भव है, इन्हें सकाम भाव से भी किया जा सकता है, निष्काम भाव से भी। विषयों की कामना क्षीण होने पर कर्तव्य के निष्काम सम्पादन की प्रेरणा बनेगी। यदि शास्त्र कथित फल प्राप्ति के लिए कर्म किया जाय तो भी उसमें लोक परलोक में सुगति प्राप्ति की अभिलाषा निहित (छिपी) है। परन्तु भगवद्भक्ति के हेतु या भगवत्प्रीति हेतु कर्तव्य कर्म करना, संग और फल की आसक्ति न रखना ही निष्कामता है। सुखादि की इच्छा न रहने पर भी कर्म क्यों करते हैं ? उसका उत्तर है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:। (गीता ३.२०)

योगिन: कर्म कुर्वन्ति संगम् त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये। (३.२०)

लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।
नियतं कुरु कर्म त्वं (३.८), कर्म ज्यायो ह्यकर्मण: (३.८)।

कर्तव्य कर्म में भी माया का त्याग, माया त्याग की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। परलोक के वैभवों को भी क्षण भंगुर और व्यर्थ समझने लगना माया त्याग का उत्कृष्ट सोपान है। देहाध्यास का त्याग उत्कृष्ट भूमिका है देह में अहंभाव न होना।

जब आत्म निवेदन हो जायगा तो कर्तव्य की भी समाप्ति होगी। शरणागति में सब धर्म लीन होंगे।

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेह॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

या रहें इसमें आप घर की तरह । या मेरे दिल में आप घर न करें ।।
(ग़ालिब)

खुद को इतना मिटा कि तू न रहे । और तुझ में दुई की बू न रहे ।।

केवल वाह्य जीवन में त्याग हो, मन से विषयों को सुखद जानकर स्मरण हो तो यह मिथ्याचार है । मन ही इन्द्रियों का निग्रह करे यह श्रेष्ठ है । आजकल ऐसे बहुत से लोग मिलते हैं कि वाह्य जीवन में जिन भोगों से अलग हैं, उनका वाणी से कथन करते रहते हैं । कथनत: यह मनोरंजन मात्र है, परन्तु इसी कथन से लक्षित होता है कि मन को उन विषयों में सुखाभास मिलता है । इसलिए मन से त्याग नहीं हुआ ।

श्रेष्ठ और पूर्ण माया त्याग होने पर भगवत्सत्ता से बराबर सम्पर्क बना रहता है । भगवदाज्ञानुसार ही कर्म होते हैं, पूरी निश्चिन्तता और निर्भयता रहती है । तब सन्त भगवच्चिन्तन में लीन रह सकते हैं, कोई विघ्न बाधा भजन में नहीं होती । हानि लाभ आदि में समभाव रहता है । यही सन्त रहनि का असली गौरव है । ग़रीब के सहारे जिन्दगी बसर करने का रहस्य यही है । यही क़ुरान का अध्यात्म है ।

साधन विभिन्न स्तरों पर पाए जाते हैं, उनके माया त्यागा का सोपान अलग अलग है । जिस माया त्याग का ज़िक्र दोहे में है, वह पूर्ण त्याग है । माया का इस प्रकार पूर्ण त्याग जिन्होंने किया हो, ऐसे सन्त बहुत ही बिरले हैं ।

जो सदाशय पूर्वक साधन रत है, माया का त्याग करना चाहता है, वह जिस भूमिका तक पहुँचा हो सम्माननीय है, निन्दनीय नहीं है । किसी भी साधक की उच्चतर भूमिका वालों से तुलना करके उसकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कभी बताई जा सकती है परन्तु यह उसके मार्ग दर्शक का काम है। शास्त्र को या सन्तों को उसकी निन्दा स्वीकार नहीं।

परन्तु सन्त मत में और शास्त्रानुसार विवेक का भी त्याग नहीं करना चाहिए। इसलिए जो सच्चे साधु नहीं हैं धोखा देने वाले दम्भी, कपटी, धूर्त हैं, उन्हें सच्चे सन्त की मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। इससिए यह भी सूत्र दे दिया गया है कि सन्त पने का आभास देने वाले अनन्त हैं। सच्चे सन्त का लक्षण तो कहा, बने हुए लोगों का भी लक्षण सूत्र रूप में अंकित कर दिया गया है।

मोर और कौए के समान कामी, कुटिल व खल व्यक्ति अनन्त (बहुसंख्यक) है। जो सच्चे सन्त नहीं हैं, माया त्यागी नहीं हैं, परन्तु सन्त की तरह का बाह्याचार रखते हैं और चाहते हैं कि सन्त माने जायँ, वे सन्त नहीं हैं, असन्त हैं, उनसे आशंका हो सकती है कि वे अपनी स्वार्थ सिद्धि करेंगे अत: उनकी मन: स्थिति के अनुसार वर्गीकृत करके उन्हें रख दिया गया है कि विवेकी साधक जन उनकी मन:स्थिति (प्रयोजन) को जानकर सावधान हो जायँ।

विशेषत: काम वासना से प्रेरित और व्यापक अर्थ में किसी भी कामना से उद्वेलित व्यक्ति कामी कहा भाया है ऐसी कामना की पूर्ति के प्रयोजन से ही जिसने सन्त का बाना अपनाया है, वह मायाकांक्षी है, माया त्यागी नहीं है, सुन्दर वेष बनाकर और वाणी का कुशलता से प्रयोग करके जो दूसरों को प्रभावित करना चाहता है और फिर युक्ति पूर्वक अपनी कामना पूर्ति करना चाहता है वह मोर की तरह है, मोर का स्वरूप अति सुन्दर है, वाणी भी अति मधुर है परन्तु—

सविष उरग आहार निठुर उर, यह करनी वह बानी। (वि०प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विषय पष सविष मांस को खाने के लिए आतुर चित्त है, परन्तु वेष और वाणी अत्यन्त प्रभाव शाली है, यह मोर की सी वृत्ति है। अशुभ प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए दाम्भिकों को शुभ वेष आदि का दुरुपयोग करना ही पड़ता है, क्योंकि अशुभ आचरण, प्रयोजन का आवरण शुभ हो, तभी तो सिद्ध किया जायगा। सन्त वृत्ति न होते हुए भी सन्त का उत्तम अभिनय हो तो कामिनी काँचन (कोई भी अभीष्ट विषय भोग पदार्थ) आकर्षित किये जा सकते हैं। जहाँ बिषयों को प्राप्त करने का प्रयोजन है, माया त्याग कहाँ है ? ऐसे लोग केकी (मोर) के समान माने गए हैं। मोर इतनी बड़ी संख्या में नहीं पाए जाते, जितनीं बड़ी संख्या में ऐसे नकली सन्त पाए जाते हैं।

दूसरा बिन्दु सरलता कुटिलता का है। सन्त सरल होते हैं। कुटिलता सन्त स्वभाव के विपरीत है। कूट नीति और सन्त स्वभाव का परस्पर मेल नहीं बैठता। वैराग्य होने पर कुटिलता की आवश्यकता व प्रेरणा समाप्त हो जाती है। कुटिल व्यक्ति चालाकी से अपना काम बनाना चाहता है। वह सबके प्रति सरल नहीं रह सकता। सन्त सावधान रहते हैं कि उनसे कभी कोई धोखा न हो, कुटिल व्यक्ति चाहता ही है कि दूसरे को धोखा हो, वह धोखे में रहे, धोखा देकर वह अपना काम बनाना चाहता है। इसी का यह परिणाम भी होता है कि कुटिल व्यक्ति दूसरों से भी कुटिलता की आशंका रखता है, सतर्क रहना चाहता है। जिनकी सरलता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं और व्यापक रूप से सरल माने जाते हैं, कुटिल व्यक्ति उनसे भी सतर्क रहना चाहता है। वैसे कहा जा सकता है कि सावधान रहने में हानि ही क्या है ? परन्तु जब यह विदित हो जाता है कि उसे विश्वसनीय, आदरणीय, व्यक्तियों पर भी विश्वास नहीं है, तो वह स्वयं अविश्वसनीय सिद्ध हो जाता है। इससे उसे सच्चे मित्र और सज्जन नहीं मिलते या उनका सम्पर्क निबह नहीं पाता। फिर उसका साथ स्वभाव साम्य के आधार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पर दूसरे कुटिल जनों से होता है अथवा वह ऐसे मूर्ख जनों को खोजता है जिन्हें वह ठग सके। भगवान् के मार्ग में यह सब चालाकी एकदम अयोग्य बना देती है—

इहाँ को सयानप अयानप सहस सम,
सूधे सतिभाव कहे मिटति मलीनता। (वि०प०)

निरमल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥

कौआ अपनी अत्यन्त सतर्कता के लिए प्रसिद्ध है और सयाना माना गया है।

असली सयानापन तो श्री कागभुशुण्डि जी का था कि अन्य सभी वरदानों का तिरस्कार करके भगवान् की अविरल विशुद्ध भक्ति माँगी। श्री राम जी को भी कहना पड़ा—

सनु वायस तैं परम सयाना। काहे न माँगसि अस वरदाना॥
(रा०च०मा०)

मल और आमिष का आहार करने वाला कौआ, यदि अपनी शरीर रक्षा में अत्यन्त सतर्क है तो उस सयानेपन का क्या मूल्य है? असली सयानापन वही है जहाँ इच्छा मृत्यु है, देह सत्ताइस कल्प से अधिक हो गए कायम है, उसकी रक्षा की कोई चिन्ता नहीं, परन्तु अहर्निशि भगवच्चिन्तन में समय जाता है। दूसरों को ठगने वाली चालाकी की सन्तों की दृष्टि में कुछ कीमत नहीं। उससे पाप अर्जित होता है और दुर्गति प्राप्त होती है। ऐसा परिणाम होने से वह चातुर्य माना जाय या मूर्खता? लेकिन जिस स्तर पर जिसका चिन्तन है, उसी के अनुरूप उसका सयाना पन भी होता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तुलसी चतुराई सोई, वृत्ति राम पद लीन।
परधन पर मन हरन कहँ, वेश्या परम प्रवीन ।। (दोहावली)

सन्त के एकदम विपरीत लक्षणों वाला खल है। श्री रामचरित मानस में खलों की भी वन्दना की गई है—सन्त अहैतुकी कृपा करते हैं, खल अकारण अहित करते हैं।' 'सन्त सहज सुभाव खगराया। पर उपकार वचन मन काया ।।' परन्तु 'खल बिनु कारण पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ।।' सन्त अहिंसामय हैं, खल हिंसा प्रिय हैं—'हिंसा पर अति, प्रीति तिनके पापहि कवनि मिति।' खलन हृदय परिताप विशेषी। जरहिं सदा पर सम्पति देषी ।। श्री रामचन्द्र जी ने स्वयं कहा है।

बरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता ।।

विवेक अत्यन्त आवश्यक है दुष्ट बहुत बड़ी संख्या में सन्त होने का दम्भ करते हैं, बहुत से अपराधी तो दण्ड से बचने के लिए ही भाग खड़े होते हैं और साधु वेश बना लेते हैं। स्वभाव की पहचान होनी चाहिए, क्योंकि—

खलहु करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू ।।

अतः सावधान रहना चाहिए कि सन्त संग के स्थान पर दुष्ट संग न हो जाय।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मैं तो मेट्यो मोह तम, उगो आतमा भानु ।
संतराज सो जानिए, तुलसी या सहि दानु ॥३३॥

जिसके आत्मा रूपी सूर्य का उदय हो गया और मै-तू रूप अज्ञानांधकार का नाश हो गया, तुलसी दास जी कहते हैं कि उसको सन्त राज (सन्त शिरोमणि) जानना चाहिए, क्योंकि यही उसकी पहिचान है।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि मोह जनित स्व पर, मैं और तू का भेद जिसने मिटा दिया है और जिसका आत्म रूपी सूर्य उदय हो गया है, वही सन्त राज है, यही उसकी पहचान है। श्री गोस्वामी जी महाराज ज्ञान को ही सन्त का उत्तम लक्षण मानते हैं। जिसे ज्ञान हो गया वही सन्त राज या सन्त शिरोमणि है।

ऊपर कह आए हैं कि माया त्यागी सन्त बिरले बिरले मिलते हैं। माया के त्याग दिए जाने पर द्वैत नहीं रहता, अपना बिरानी नहीं रह सकती। महर्षि पतञ्जलि ने योग सूत्रों में पंच क्लेश गिनाए हैं—

अविद्या, अस्मिता, राग द्वेषाभिनिवेशा: पंच क्लेशा: ।

महर्षि ने अविद्या की परिभाषा बताई है, अनित्य, अशुचि, असुख और अनात्म पदार्थ में नित्य, शुचि, सुख, आत्म भावना हो जाना, अनुभूति हो जाना, यही अविद्या है। देह अनित्य है, देह अपवित्र है, देह रोग शोक का कारण है, देह आत्मा नहीं है, परन्तु देह नित्य लगने लगती है, पवित्र मालूम होने लगती है, सुख दायक प्रतीत होती है और देह में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अहम् बुद्धि हो जाती है अर्थात देह को ही अपना स्वरूप माना जाता है। इस प्रकार विपरीताभास होना अविद्या है। जैसा का तैसा मालूम होना विद्या है, ज्ञान है। जो है उससे उल्टा मालूम होना अविद्या है, अज्ञान है। ठीक ठीक अनुभूति होना ही ज्ञान का लक्षण है, विपरीत आभास होना अज्ञान हैं। सम्यक् ज्ञान ही ज्ञान माना गया है, विपरीताभास को ज्ञान नहीं माना गया है वह मोह है। धुँधले प्रकाश में मार्ग में रस्सी पड़ी हो तो उसमें सर्प का आभास हो सकता है। सर्प के भय से, देखने वाला भाग सकता है। यहाँ यह नहीं कह सकते कि भागने वाले को मार्ग में पड़े हुए पदार्थ का ज्ञान हुआ। ज्ञान नहीं हुआ ऐसा कहना ही ठीक है। मार्ग में तो रस्सी पड़ी थी और रस्सी का ज्ञान हुआ नहीं तो मार्ग में पड़े हुए पदार्थ का ज्ञान हुआ, ऐसा कहना किस तरह ठीक हो सकता है? यदि कोई कहे कि ज्ञान तो हुआ रस्सी का न सही, सर्प का सही, तो यह प्रश्न उठ सकता है कि सर्प तो वहाँ था नहीं, अविद्यमान् वस्तु का ज्ञान कैसे हो सकता है। अतः सर्प का ज्ञान नहीं हुआ इस प्रकार न सर्प का ज्ञान हुआ न रस्सी का। एक विपरीताभास मात्र हुआ। जिसे अज्ञान मानना चाहिए। यह मोह है ज्ञान नहीं। यह सही है कि मोहवश जो विपरीताभास होता है उसके असत्य होने का तुरन्त निश्चय नहीं हो सकता। विपरीताभास के नष्ट होने पर इस असत्य की पहचान होती है। जीव के बन्धन के जो सोपान हैं उनमें से पहला मोह या अविद्या ही है अविद्या से ही देहाभिमान सम्भव होता है। जीव आत्मा को न जानकर अपने को देह समझने लगता है। तब देह की तकलीफ को अपनी तकलीफ मानता है और देह के आराम को अपना आराम मानता है। फिर देह के लिए सुखदाई विषय में राग उत्पन्न हो जाता है और देह के लिए दुखदाई विषय में द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार जगत् में दृढ़ आसक्ति हो जाती है। यही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश यह पाँच क्लेश माने गए हैं। अविद्या से ही बाद के चारों क्लेश उत्पन्न होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विपरीताभास ही अविद्या या मोह है और यही अस्मिता (अभिमान) का कारण है। रामचरित मानस में लिखा है–

संसृति मूल शूल प्रदनाना। सकल शोक दायक अभिमाना ।।

इस प्रकार अस्मिता ही संसृति का कारण है। जब अहम् भाव (अस्मिता) का उदय हो जाता है तो सृष्टि में द्वैत भाव की व्याप्ति हो जाती है—मैं और यह सब सृष्टि इस प्रकार दो भागों में विभाजन हो जाता है, अहम् के साथ इदम् भाव का भी उदय होता है। अहम् और इदम् के सत्यवत् प्रतीत होने से माया का बन्धन पड़ जाता है। मोह का अन्धकार छा जाता है अपने को देह रूप मानते ही अन्य देहों के सन्दर्भ में त्वम् भाव (तू) भी उदय हो जाता है। अब इस द्वैत में इदम् और त्वम् से संघर्ष करते हुए अहम् का पोषण करना पड़ता है और जीव अपरिमित काल तक इसी दुष्ट चक्र में पड़ा रहता है। इसी माया के बन्धन को दूसरे रूप में श्री रामचरित मानस में कहा है—

मोह निशा सब सोवनि हारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा ।।
एहि जग जामिनि जागहिं योगी। परमारथी प्रपंच वियोगी ।।

इस प्रकार प्रपंचात्मक विश्व में सत्य बुद्धि रखने वाले आसक्त जीव बन्धन में पड़े हैं और प्रपंच से विरक्त सन्त मुक्त हैं।

जानिय तबहिं जीव जब जागा। जब सब विषय विलास विरागा ।।

मोह निशा के बीत जाने पर, ज्ञान रूपी सूर्य के उदय हो जाने पर जगत् के पदार्थों में कोई आसक्ति नहीं रह सकती जैसे—

स्वाप्नम् पुनर्न भजते प्रतिबुद्ध वस्तुः (श्रीमद्भागवत)

(जागता हुआ व्यक्ति स्वप्न की वस्तुओं की स्पृहा नहीं करता)।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री रामचरित मानस में कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ।।

मैं, मेरा, तू और तेरा का भाव यही माया है जिसने तमाम जीव समूह को वश में कर रखा हैं। इस से छूटने पर ही मुक्ति है।

कल्पना कीजिए कि एक देह रहित सर्व व्यापी चैतन्य है, वह सभी देहों को देख रहा है। उसके लिए किसी देह में मैं पना नही है, किसी भी देह में तैं पना भी नहीं है, उसके लिए विभिन्न देहों में 'स्व' पर बुद्धि नहीं है, अपना पराया भाव नहीं हैं। ऐसा जो चेतन है वही मुक्त है। जिस सन्त का देह में अहम् भाव नष्ट हो गया वह सभी देहों का तटस्थ साक्षी है। उसके लिए 'स्व' 'पर' भेद या प्रिय अप्रिय भेद नहीं है। परम उच्च दशा प्राप्त होने पर सन्त को देह के उठने बैठने, चलने गिरने आदि की सुध बुध नहीं रहती जैसे शराब के नशे में चूर व्यक्ति को अपने चादरे आदि का होश नहीं रहता कि वह शरीर पर है या कहीं गिर गया। (श्रीमद्भा०)

पहले भी कह आए हैं—अहंवाद मैं तैं नहीं, दुष्ट सग नहि कोइ। (छन्द ३०) तुलसिदास मैं मोर गए बिनु, जिय सुख कबहुँ कि पावै। (वि०प०) जहाँ अहं त्वं भावना अस्त हुई वहाँ 'निज प्रभु मय देखहिं जगत्' (रा०च०मा०) की भावना आई। मोह रूप अन्धकार नष्ट हुआ।

मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए प्रकाश चाहिए। ज्ञान को प्रकाश रूप माना है।

जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। वचन किरन मुनि कमल विकासा।।
सोक निवारेउ सबनि कर, निज विज्ञान प्रकास। (रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् । (गीता ५.१६)

सहज प्रकाश रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि विज्ञान विहाना ।।
(रा०च०मा०)

भ्रम तम रविकर वचन मम । (रा०च०मा०)

रात में काम चलाने के लिए दीपक आदि से काम लिया जाता है उनसे अन्धकार की निवृत्ति होती है, परन्तु रात्रि ही चली जाय, यह सूर्योदय से ही होता है ।

राकाससि षोडश उअहिं, तारागन समुदाइ ।
सकल गिरिन्ह दव लाइये, बिनु रवि राति न जाइ ।। (रा०च०मा०)

अन्य अन्य साधनों से मोहान्धकार में कुछ प्रकाश मिलता है, परन्तु मोह रात्रि निवृत्त नहीं होती, आत्म साक्षात्कार होना ही आत्मा रूपी सूर्य का उदय होना है । इससे मोह रूप रात्रि पूर्णत: निवृत्त हो जाती है । आत्मा रूप सूर्य के उदय होने पर अन्धकार ठहर नहीं सकता, मोह रूप रात्रि विगत हो जाती है, जीवन दिव्य हो जाता है ।

इस बात को सांख्य और वेदान्त के प्रकाश में और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है । योग और साँख्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमिका एक सी है । साँख्य के अनुसार प्रकृति ही कर्म करती है, पुरुष प्रकृति से अपने को एक करता हुआ कर्ता बन बैठता है । यही बन्धन हैं । अपने से भिन्न प्रकृति को पहचान लेने से प्रकृति का लोप और पुरुष का अकेलापन कैवल्य अर्थात् मोक्ष है । योग के अनुसार वृत्ति निरोध ही स्वरूप की प्राप्ति का कारण है, अन्यथा जैसी वृत्ति उदय होती है, वैसा ही अपना स्वरूप जान पड़ता है । तमोगुणी और रजोगुणी वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने (रुक जाने) पर सतो गुणी बुद्धि में आत्मा का रूप प्रतिबिम्बित दिखाई देता है, वही निज स्वरूप जान पड़ता है । उससे ऊपर उठ जाने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पर प्रतिबिम्ब को आत्मा नहीं माना जाता, बुद्धि के भी साक्षी असली आत्म तत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही कैवल्य है।' 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।' (रा०च०मा०)

वेदान्त के अनुसार जगत् का दृश्यमान् स्वरूप भ्रमात्मक है। स्वप्नवत् है, मिथ्याभास है, छाया, प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि, सिनेमा, नाटक या नट के तमाशे की तरह का आभास है। ब्रह्मज्ञान से ही मिथ्याभास समाप्त होगा। ब्रह्मज्ञान के लिए साधन चतुष्ट्य (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न अधिकारी (पात्र) चाहिए। नित्यानित्य वस्तु का भेद दर्शन विवेक है, इस लोक और परलोक के भोगों से अनासक्ति वैराग्य है। शम (मानसिक शान्ति), दम (इन्द्रिय निग्रह), उपरति (जगत् के पदार्थों से मन का हट जाना), तितिक्षा (हानि, लाभ, जीवन, मरण यश अपयश में उदासीन या तटस्थ भाव से साक्षी वत् स्थित रहना, सहते जाना, अव्यथित रहना तितिक्षा है। यह दृढ़ निश्चय हो जाना कि—

जो मारग श्रुति साधु बतावैं। तेहि मग चलत सबहि सुख पावैं।
जो तेहि पंथ चलहु मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥
(वि०प०)

श्रुति शास्त्र प्रतिपादित मार्ग पर दृढ़ आस्था हो जाना श्रद्धा है। चित्त में यह गुण दृढ़ हो जाय और उपदिष्ट मार्ग व ध्येय आदि पर चित्त आरुढ़ हो जाय, शास्त्र के सही होने का भी विश्वास उत्पन्न होना और स्थिर रहना समाधान है। यह ६ गुण मिलकर षट् सम्पत्ति कहलाते हैं। इन गुणों से युक्त व्यक्ति षट् सम्पत्ति युक्त माना जाता है। फिर वह मोक्षार्थी (मुमुक्षु) होकर वेदान्त (ज्ञान) का उपदेश प्राप्त करे। तब उसे तत्काल अनुभूति हो जायगी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह प्रश्न उठता है कि जब उक्त सारे गुण आ गए, जिनमें समाधान भी है तो फिर मुमुक्षुत्व तथा उपदेश की आवश्यकता क्यों ? इसका उत्तर यही है कि उक्त गुणों से चित्त आदर्श (शीशे) की तरह स्वच्छ हो जाता है, तब वह विकृति के बिना परम सत्य को ग्रहण कर सकता है और स्थिर रख सकता है। परन्तु निर्मल अनुभूति को ठीक ठीक समझने के लिए और स्फुरित ज्ञान के पुष्ट करने के लिए तत्वोपदेश की सार्थकता है।

पहले ज्ञान दृढ़ नहीं होता—

उपजै बिनसै ज्ञान जिमि पाय कुसंग सुसंग। (रा०च०मा०)

परन्तु आत्म साक्षात्कार, अपरोक्षानुभूति, ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि के बाद वह दृढ़ हो जाता है, आत्मा रूप सूर्य के उदय के बाद अन्धकार का आत्यन्तिक लय हो जाता है। ऐसे सन्त के लिए मोह रूप रात्रि फिर कभी नहीं आती।

इस प्रकार जिसे ज्ञान प्राप्त है, माया छूट गयी है, जो विमुक्त है, देह रूप से जगत् में स्थित दिखायी देता है, परन्तु दिव्य जगत् में ही है, जो ब्रह्म (भगवान्) से अखण्ड सम्पर्क में है, उसे सन्तराज (सन्त शिरोमणि) जानना चाहिए।

सन्त की शोभा ज्ञान वैराग्य है, ज्ञान से वैराग्य दृढ़ और पूर्ण हो जाता है। वैराग्य के बिना सन्त की शोभा नहीं। धनुष न तोड़ पाने पर जैसे जनकपुर के धनुषयज्ञ में राजे उपहास के योग्य हो गए, वैसे ही वैराग्य के बिना साधु उपहास योग्य हो जाता है।

सब नृप भए योग्य उपहाँसी। जैसे बिनु बिराग सन्यासी॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैराग्य केवल रहन सहन की सादगी या गरीबी नहीं है। दारिद्रय अभाव पूर्ण है, वैराग्य अभाव मुक्त हैं, दोनों एक नहीं हैं। आघात, दु:ख, शोक, विवशता आदि से किया हुआ त्याग, उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। विवेक से सुखाभास के अस्त हो जाने पर उत्तम वैराग्य होता है। ज्ञान प्राप्ति से विषयों का सुखाभास नष्ट होता है और वैराग्य पुष्ट होता है।

'सचिव विराग विवेक नरेसू', सज्जन या सन्त के अन्य गुणों से ऊपर विवेक (ज्ञान) राजा के स्थान पर है, वैराग्य प्रधानमन्त्री के स्थान पर है। जहाँ यह दोनों ठीक दृढ़ हों, साम्राज्य पक्का है। जिस सन्त में 'मै, तैं' की माया समाप्त है, आत्म ज्ञान का सूर्य उदित है, उसके अन्त:करण में गुणों का सुव्यवस्थित सुन्दर राज्य है, राजा और मन्त्री भी प्रभावी हैं, अत: ऐसे सन्त को सन्तराज कह सकते हैं। भौतिक जगत् में सिंहासन, ताज (मुकुट), मुरछल, छत्र आदि राजा की शोभा हैं, सन्तराज की शोभा ज्ञान, वैराग्य, अखण्ड, भगवच्चिन्तन, कारुण्य आदि से है। राजा का वैभव भौतिक है, सन्तराज का वैभव आध्यात्मिक है।

राजा यदि आखेट आदि में हो, या छद्म वेष में हो, राज चिन्हों से रहित हो तो भी विज्ञ लोग उसकी चाल, ढाल, बातचीत, वृत्ति आदि से उसके राजा होने का अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार साधु वेष न हो, वैराग्य चिन्ह न हो परन्तु विज्ञ जन विवेक बल से उच्च सन्त की पहचान कर लेते हैं। बिना किसी विज्ञापन या निमन्त्रण के विकसित कमल के पास भ्रमरगण पहुँच ही जाते हैं। उसी प्रकार महान् सन्त वाह्य लक्षणों के अभाव में भी पहिचाने जाते हैं।

कियेहु कुवेश साधु सन्मान्। जिमि जग जाम्बवन्त हनुमान्॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कब लिबासे दुनयवी में छिपते हैं रोशन ज़मीर ।
जामए फ़ानूस में भी शोला उरियाँ हो रहा ।।

लिबासे दुनयवी = लौकिक वेश, रोशन ज़मीर = प्रबुद्ध आत्मा, जामए फ़ानूस = फानूस के आवरण, शोला = लौ, उरियाँ = प्रगेट ।

इसलिए श्री गोस्वामी जी ने मोहान्धकार विनाश और प्रबोध प्रकाश के आदित्य के उदय को सन्त राज की पहिचान के रूप में उल्लिखित किया है ।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को वरणै मुख एक, तुलसी महिमा सन्त की ।
जिनके विमल विवेक, सेस महेस न कहि सकत ।।३४।।

तुलसीदास जी कहते हैं कि एक मुख से सन्त की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ? विमल विवेक सम्पन्न श्री शेषनाग जी और श्री शंकर जी भी नहीं कह सकते ।

श्री गोस्वामी जी सूत्र रूप में सन्त महिमा का वर्णन कर चुके हैं, सन्तों के प्रमुख गुण और उनका गौरव बता चुके हैं । अब यह स्पष्ट करते हैं कि उस वर्णन के पूर्ण होने का दावा नहीं किया जा सकता । जो विषय वर्णन से परे है, उसका सम्यक् वर्णन कैसे हो ? अनन्त विषय कुछ थोड़े से शब्दों में कैसे भरा जाय । प्रतिभाशाली ऋषियों ने ऐसे ग्रन्थ भी लिखे हैं, जिनके विषय में कहा जाता है कि 'गागर में सागर भरा है । श्रीमद्भगवद् गीता एक ऐसा ही ग्रन्थ है । संस्कृत में अनेक सूत्र ग्रन्थ हैं, जिनकी इसी तरह की प्रशंसा है । प्रस्तुत ग्रन्थ को भी छन्द ७ में अखिल ज्ञान का सार बताया है । अतः यह भी सूत्र ग्रन्थ की तरह है । सूत्रों की तो प्रशंसा ही यह है कि अपार अर्थ थोड़े से शब्दों में भरा रहता है ।

वैदिक ऋषियों ने जिन मन्त्रों का साक्षात् किया उनमें सहस्रों वर्षों में नए नए भाव और अर्थ सूझते गए । श्रीमद्भगवद् गीता पर भी पचास से अधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक भाष्य और प्रवचन हैं । सभी आचार्यों ने अपने अपने ढंग पर गीता तत्व की व्याख्या की है । अगाध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गीता ज्ञान में सामर्थ्यानुसार आचार्यों ने गोता लगाया और रत्न बटोरे।

आसमान में सभी चिड़ियाँ शक्ति भर उड़ती हैं—

नभः पतन्त्यात्म समं पतत्रिणः। (श्रीमद्भागवत)
तुमहि आदि खग मशक प्रथन्ता। नभ उड़ हि नहिं पावहिं अन्ता॥

स्वयं श्री भगवान् की महिमा अनन्त हैं। वह किसी के कहने में नहीं आती, पूरी पूरी कही नहीं जा सकती। वर्णन से परे है। भगवान् के नाम अनन्त हैं, शक्तियाँ अनन्त हैं, व्याप्ति अनन्त है, गुणगण भी अनन्त हैं।

यो वै अनन्तस्य गुणाननतान्,
अनुक्रमियष्न् स तु वाल बुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्,
कालैन नेवाखिल शक्ति धाम्नः॥ (श्रीमद्भा०)

जल सीकर मन रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरणि सिराहीं॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाय न तोई॥

इदं = यह, इत्थं = इतना। भगवान् के अवतार के कारण बताते हुए श्री शंकर जी ने कहा कि इन कारणों में यह नहीं कहा जा सकता कि इदं [यह] ही है या इत्थं [इतना] ही है।

चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाइँ करम मन बानी॥

तथा—

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु भवानी॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । [उपनिषद्]
मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।।

यद्यपि भगवान् के गुण अनन्त हैं, अकथ हैं, 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई, क्योंकि—

तहाँ वेद अस कारण राखा । भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा ।।

भगवान् के यश को पूरा कहने के लिए नहीं. अपने मन वाणी को पवित्र करने के लिए भगवच्चरित्र कथन होता है ।

श्री कालिदास जी ने रघुवंश के प्रारम्भ में कहा है—

क्व सूर्य प्रभवो वंश: क्व विषय मलिना मति: ।
[कहाँ सूर्य वंश और कहाँ विषय मलिन बुद्धि ?] ।

मन्द: कवि यश: प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशु लेभे फले लभ्यादुद्बाहुरिव वामन: ।।

मैं मन्द बुद्धि हूँ और सूर्यवंश का गुणानुवाद गाकर सुकवि के यश को प्राप्त करना चाहता हूँ, इससे मेरी उसी तरह हँसी हो जायगी जैसे ऊँचाई पर लगे फल को तोड़ने के लिए बौना हाथ फैलाए हो ।

श्रीधर स्वामी [श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार] ने भी कहा कि कहाँ भगवान् के निर्मल अपार गुण, कहाँ मेरी तुच्छ हस्ती—क्व तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दर: ।

[वहाँ परमाणु की क्या हस्ती जहां [सागर में] मन्दराचल पर्वत भी डूब जाता है ।]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जयन्त [इन्द्र पुत्र] ने श्री राम जी की परीक्षा ली। उस प्रसंग में श्री गोस्वामी जी कहते हैं—

जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महा मन्द मति पावन चाहा ।।

स्वयं राम चरित्र का वर्णन कैसे कर सकेंगे, इस पर श्री गोस्वामी जी कहते हैं—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ।।

अति अपार जे सरितवर, जौ नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिका परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं ।।

जिस प्रकार भगवद्गुण अनन्त हैं, महिमा अनन्त है, वही हाल सन्तों का भी है। एक तो, सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दूसरे सन्त प्रत्यक्ष हैं, अधिक सुलभ हैं, सेवनीय सरकार की करुणा शक्ति, उद्धार शक्ति के स्वरूप हैं, सन्त में भगवन्त का चमत्कार पहचानना उतना कठिन नहीं। सन्त भगवद्विभूति हैं। वे उस रूप में उपास्य हैं।

श्री राम ने कहा —मोते सन्त अधिक करि लेखा।
[सन्त को मुझसे से भी अधिक माने]।

इसलिए सन्त महिमा उतनी ही गूढ़ है, अकथनीय है, अनन्त है जितनी कि भगवान् की।

श्री गोस्वामी जी रामचरित मानस में कहते हैं—

बिधि हरि हर कवि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ।।
सो मो सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री राम चरित मानस में अरण्य काण्ड में श्री रामचन्द्र जी ने संक्षेप में सन्त महिमा कही है। फिर कहा—

सुनु मुनि सन्तन के गुन जेते। कहि न सकहिं शारद श्रुति तेते॥

(सन्तों के जितने गुण हैं, उन्हें शारदा और वेद भी नहीं कह सकते)।

सन्त महिमा के कहने में द्विविधि कठिनाई है। एक तो महिमा अपार है, अनन्त हैं, इसलिए कहते कहते अन्त नहीं मिलेगा, दूसरे सन्त उस ऊँचे स्तर पर हैं कि मामूली लोग उसे समझ ही नहीं सकते। समझ में आना भी कठिन, वर्णन करके पार पाना भी कठिन। शाक वणिक वाली उपमा में समझ में आने की कठिनाई का संकेत है। निर्धन तरकारी बेचने वाला लोहे पत्थर के बाँटों से काम करता है, थोड़े थोड़े पैसों की तरकारी बेचता है, वह सोना, चाँदी, हीरा, मोती, नीलम आदि का हाल क्या जाने? न वह उन्हें पहिचान सकता है, न उनका मूल्य बता सकता है। वह महिमा उसकी समझ के बाहर है। इसी प्रकार क्षुद्र विषयों की प्राप्ति और उपभोग को ही सर्वोच्च महत्व देने वाले जीव उन सन्तों का महत्व नहीं जान सकते जो एक मात्र भगवान् में ही लगे हुए हैं। अबोध शाक विक्रेता के लिए महान् रत्न, चमकदार पत्थर मात्र हैं, उसी प्रकार वह दिव्य भगवदीय आनन्द जिसमें सन्त मग्न रहते हैं, साधारण विषयासक्त पुरुष की दृष्टि में कुछ भी मूल्य नहीं रखता। इसलिए सन्त महिमा के वर्णन में एक कठिनाई यह है कि वह दिव्य है, अलौकिक है, साधारण लौकिक व्यक्ति की समझ में ही नहीं आती। लौकिक और आध्यात्मिक पुरुष में रात और दिन का सा अन्तर माना गया है, इसलिए लौकिक कल्पना आध्यात्म को ठीक ठीक समझ नहीं सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। (गीता २.६९)

दूसरी कठिनाई है कि महिमा अपार है, जितना समझते जाइये कहते जाइये, पर उसका अन्त नहीं मिल सकता । विधि हरि हर भी जब सक्षम नहीं हैं, तो दूसरे लोग कैसे वर्णन कर सकते हैं ? साधारण कल्पनानुसार कई मुख वाले अधिक कह सकते हैं । ब्रह्मा चतुरानन हैं, चार मुख वाले हैं, शिव पंचमुखी हैं, श्री कार्तिकेय जी षण्मुख (६ मुख वाले) हैं । शेष जी सहस्रानन (१००० फन या मुख वाले) हैं । इन लोगों के कहने में भी न आ सके ऐसी अपार महिमा है । तो फिर मानव कोटि का एक मुख वाला कोई व्यक्ति उस महिमा का सम्यक् वर्णन कैसे कर सकता है ?

शेष, महेश दोनों देव कोटि के हैं । शेष जी पृथ्वी को धारण किए हैं । प्रलय काल के ध्वंस के बाद भी वे बचे रहते हैं, इसलिए शेष हैं । उधर भगवान् विष्णु भी शेष शायी हैं । वे शेष शय्या पर आसीन रहते हैं । (इस सबके वैज्ञानिक, दार्शनिक व आध्यात्मिक रहस्य के स्पष्टीकरण का यहाँ प्रसंग प्राप्त नहीं है ।) ऐसी दशा में शेष जी को न केवल दिव्य शक्ति सम्पन्न मानना होगा, वरन् दिव्य दृष्टि और ज्ञान सम्पन्न भी स्वीकार करना होगा । रामानुज श्री लक्ष्मण जी शेषावतार थे ।

'जो सहस सीस अहीस महिधर लषन सचराचर धनी । (रा०च०मा०)

इसलिए शेष जी को तो निर्मल, विवेक सम्पन्न मानना ही होगा ।

उधर महेश जी ज्ञान निधान हैं ही ।
तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना । आन जीव पामर का जाना ।।

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ।।
(रा०च०मा०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अगणित ग्रन्थों, पुराणों, तन्त्रों आदि में वक्ता श्री शंकर जी (महेश जी) हैं। मानस में श्री शंकर जी को विग्रहवान् शान्त रस माना गया है। 'धरे शरीर शान्त रस जैसे।' [रा०च०मा०[

वे भगवत्कथा सुनाकर अज्ञान हरण करने में समर्थ हैं। अतः सन्त महिमा के वर्णन की भी उनमें अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति है। पूर्ण ज्ञानी, विशुद्ध विवेक सम्पन्न होने के साथ साथ कथा कहने, प्रवचन करने, तत्व समझाने की शक्ति भी सर्वोच्च कोटि की रखते हैं। जब निर्मल विवेक वाले शेष, महेश नहीं कह सकते तो एक मुखी मानव उसका पार कैसे पा सकता है ?

सन्त भगवन्त की एकता तो है, परन्तु यह देखा गया है कि भगवान् स्वयं अपने से अधिक महत्व सन्त को देते हैं और दिलाते हैं। अपनी बात पूरी करने से अधिक महत्व भक्त की बात पूरी करने को देते हैं। श्री भरत जी ने कहा—

निज पन तजि राखेउ प्रन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥

महाभारत की बात प्रसिद्ध है कि भगवान् ने अपनी बात से अधिक महत्व भीष्म की प्रतिज्ञा पूर्ति को दिया। प्रसिद्ध सूफी सन्त शम्स तब्रेज ने सुल्तान के मृत पुत्र को दो बार आज्ञा दी— क़ुम बइज्ल् अल्लाह (खड़ा हो जा, अल्लाह के हुक्म से) परन्तु नहीं उठा। तीसरी बार कहा —क़ुम ब इज्नी (उठ मेरे हुक्म से), तो वह जी उठा। यहाँ भी सन्त वचन को भगवान् ने अधिक प्रतिष्ठित किया।

ज्योतिषादि के द्वारा भाग्य विधान का जो अनुमान होता है, और जिसके परिपाक के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, उसके विरुद्ध भी सन्त का प्रताप अशुभ को मेटने में प्रभावी पाया गया है और इसके बड़े प्रबल उदाहरण पाये जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लगभग पचास वर्ष हुए मेरठ से 'संकीर्तन' मासिक पत्र निकलता था। उसमें एक घटना छपी थी। एक भक्त थे। उनके पुत्र के विषय में ज्योतिषियों ने बताया कि अमुक रात्रि उसके मर जाने की आशंका है। उन्हीं दिनों मैनपुरी में श्री एकरसानन्द आश्रम में एक महोत्सव होना था। भक्त जी ने सोचा—मौत की दवा क्या है? क्यों न इस बालक को लेकर उस महोत्सव मे ही चला जाय। यदि सन्त के प्रताप से बच गया तो भला, नहीं बचा तो उत्तम स्थान, महोत्सव के बीच, शुभ गति को प्राप्त होगा।' वे बालक को लेकर मैनपुरी चले गए। निर्दिष्ट रात्रि को एक कमरे में लोग सो रहे थे। भक्त जी और उनका पुत्र भी वहीं सो रहे थे। सहसा किसी ने साँप देखा और शोर मचाया। लोग जागे, परन्तु खोज करने पर भी साँप नहीं दिखाई दिया। तब लोग पुनः सो गए। ज़मीन पर पयाल और दरी बिछी थी। प्रातः काल उठने पर लोगों को दरी के नीचे, ठीक उस बालक के सिर के नीचे, दबकर मरा हुआ साँप मिला।

सन्त चमत्कार करते नहीं, चमत्कार हो जाते हैं। सन्त शक्ति कभी भगवत् शक्ति से संघर्ष नहीं करती, भगवदीय शक्ति ही सन्त की श्रेष्ठता प्रमाणित करती रहती है। यह सारा विषय रहस्य से भरा है। परन्तु हमें प्रमाण मिलता है कि सन्त महिमा अपार है। अकथनीय है।

सारतः श्री गोस्वामी जी ने सन्तों के प्रमुख लक्षण बता दिये, सन्त शक्ति का रहस्य और गौरव स्पष्ट कर दिया, विवरण और विस्तार में जाने लगें तो सन्त महिमा अपार, अगाध, अनन्त, अकथनीय, अलौकिक सिद्ध होगी, उसका पार न मिलेगा। वैसे ग्रंथ में सन्तों का गौरव गान समाप्त नहीं है, सन्त महिमा की अनन्तता अगले दोहे (छन्द ३५) में भी कही गई है और उसके बाद भी सन्तों का गौरव गान जारी है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाइ ।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ ।।३५।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि [सन्त की] महिमा इतनी अपार है कि सारी पृथ्वी को काग़ज बनाया जाय, समुद्र में [कज्जल गिरि को घोलकर] स्याही बनाई जाय, और (कल्प) वृक्ष को कलम बनाकर यदि श्री गणेश जी स्वयं लिखें तो भी अन्त नहीं मिलेगा ।

पूर्व दोहे के सन्दर्भ से यहाँ महिमा का अर्थ सन्त महिमा ही है । सन्त महिमा अपार है, उसका अन्त न मिलेगा, इसका यहाँ प्रबल शब्दों में पुनः निरूपण किया गया है । यह दिखाया गया हैं कि दिव्य [अलौकिक] प्रबन्ध से भी महिमा लिखी नहीं जा सकती ।

यह उक्ति एकदम नवीन नहीं है, पहले भी शास्त्रों में महिमा की अनन्तता के लिए प्रयुक्त हो चुकी है । शिव महिम्न स्तोत्र में एक श्लोक है—

असित गिरि समस्तं कज्जलं सिंधु पात्रे,
सुरतरु वर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ।।

कागज का काला पहाड़ हो, वह समुद्र रूपी मसिपात्र [दावात] में घोर दिया जाय, कल्पवृक्ष की शाखा से कलम बनाई जाय, उस कलम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को लेकर स्वयं शारदा देवी पृथ्वी तल रूपी कागज [पत्र] पर सदैव लिखती रहें, तो भी हे ईश (शंकर जी) आपके गुणों का पार न मिलेगा।

कुरान शरीफ में भी भगवद् गुणों की व उपदेशों की अपारता के लिए ऐसी ही शब्दावली प्रयुक्त हुई है।

क़ुल् लौ कानल् बहरु मिदादल् लिकलिमाति रब्बी लनफ़िदल् बहरु क़ब्ल अन् तन्फ़द कलिमातु रब्बी व लौ जिअना बिमिस्लिही मददन्। (१८.१०९) [ऐ पैग़म्बर ! इन लोगों से] कहो कि अगर मेरे परवरदिगार की बातों के लिखने के लिए समुद्र स्याही हो, तो वह लिखते लिखते मेरे रब की बातें खत्म होने से पहले निबट जाय, चाहे वैसा समुद्र और भी मदद में हम लाएँ।

श्री रसखान जी ने भी कहा है–

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।।
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ मुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पे नाच नचावैं।।

पूर्व दोहे में श्री शेष और श्री महेश की सन्त महिमा के कहने में असमर्थता बता चुके हैं। वहाँ श्री गणेश जी का उल्लेख नहीं हुआ। पूर्व दोहे को प्रस्तुत दोहे के साथ मिला कर पढ़ना चाहिए, यह दोनों परस्पर पूरक हैं। वहाँ कथन का उल्लेख है, यहाँ लेखन का। श्री शेष जी का विशेष उल्लेख सहसानन होने के कारण किया गया, श्री महेश (शिव) का उल्लेख तमाम कथाओं के स्रोत व प्रधान वक्ता होने से किया गया। श्री गणेश जी प्रथम पूज्य हैं, 'विद्या वारिधि, बुद्धि विधाता।' (वि०प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं, परन्तु कथा वाचन के लिए विशेष प्रसिद्ध नहीं, उस विषय में श्री महेश जी सबसे अधिक हैं। परन्तु श्री गणेश जी अपनी त्वरित लेखन शक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। महर्षि व्यास कृत महाभारत के भी लिपिबद्ध कर्ता श्री गणेश जी माने गए हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि श्री व्यास जी की श्लोकों को बनाकर बोलते जाने की जो प्रतिभा जी उससे अधिक शीघ्र लिखने की श्री गणेश जी की शक्ति थी। अत: अथक और तीव्रतम गति से लिखने में श्री गणेश जी अप्रतिम हैं। यदि वे भी लिखते हुए पार नहीं पा सकते तो फिर कोई और लेखक कैसे समर्थ हो सकता है ?

तेरी ज़ात ही है कि बस तेरी, तेरा वस्फ़ कोई कहेगा क्या ?
जो क़लम मिली तो लिखेगा क्या ? जो ज़ुबाँ मिली तो कहेगा क्या ?

जात = व्यक्तित्व, वस्फ़ = गुणानुवाद, बिरुदावली।

बहुधा इस दोहे को (और पूर्ववर्ती दोहे को भी) पाठकगण अतिशयोक्ति अलंकार की मान्यता में ही यह विचार निहित है कि सन्त महिमा वस्तुत ऐसी अगाध या अपार नहीं है। यह कवि के प्रयोजन से उल्टा होगा कि प्रतिपादित सन्त महिमा को तो न माना जाय या कम करके माना जाय, परन्तु अतिशयोक्ति अलंकार के लिए कवि कल्पना की प्रशंसा की जाय।

यदि केवल सन्तों की महिमा को अकाट्य उदाहरणों द्वारा ही सिद्ध और पुष्ट करने चलें तो सहस्रो दृष्टान्त मिलेंगे जो प्रामाणिक रूप से लिपिबद्ध हैं, प्रकाशित हैं। भक्तमाल में इन उदाहरणों की भरमार है। श्री अयोध्यावासी परमहंस राम मंगलदास जी ने ५०० सन्तों के चरित संकलित किए हैं, जिनमें २०२ एक खण्ड में प्रकाशित हो चुके हैं। बाइबिल कुरान व अन्य धर्मों के ग्रन्थों में बहुत से सन्तों के चरित्र मिलते हैं। इस सबके अतिरिक्त सन्त कथा साहित्य मिलेगा। फारसी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में 'तज्कर्तुल् औलिया' नामक ग्रन्थ है जिसका एक अंश, 'मुस्लिम सन्तों के चरित' के नाम से छप कर बँट चुका है। महान् सन्तों की जीवनियाँ भी सन्त चरित्र व महिमा को उजागर करती हैं। निम्न महान् सन्तों की जीवनियां निकल चुकी हैं और सन्त महिमा की सक्षम प्रबोधक हैं— श्री श्री चैतन्य महाप्रभु, श्री श्री राम कृष्ण परमहंश जी, श्री नरसिंह मेहता, महर्षि रमण, श्री अरविन्द घोष, श्री एकनाथ जी, श्री तुकाराम जी, श्री रामदास जी आदि आदि। भारत के बाहर सुकरात, टॉमस अ केम्पिस, टेरेसा, देनीजोन, सूफी सन्तों में रबिया, मन्सूर, शम्से, तम्ब्रेज, सरमद, वारिस अली शाह, चिश्ती आदि उल्लेखनीय हैं। सिक्ख, जैन, बौद्ध, आर्य समाजी, ब्रह्म समाजी, सहज मार्गी आदि सन्त अलग हैं। इन सबका जीवन वृत्त मात्र एक विपुल साहित्य बन जाता है। फिर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि विश्व भर के साहित्य में जो सन्त महिमा भरी पड़ी है उसका कोई भी पूरा जानकार कहां मिलेगा? उसका उल्लेख तो उदाहरण मात्र है। सभी सन्त प्रसिद्ध नहीं होते, अतः अगणित सन्त हुए जिनका उल्लेख साहित्य में नहीं हुआ या यह महिमा-मण्डित साहित्य लुप्त हो गया।

अनन्त सन्त हो चुके, देखने में अनन्त प्रकार के भी निकलेंगे, उनके आचार विचार भी भिन्न मिलेंगे और इनमें तारतम्य बैठाना भी शक्य न होगा, परन्तु इन भेदों में न जाकर जहां जहां सन्तों के लक्षण मिलें सन्त की मान्यता होनी चाहिए। 'नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रयादि भेदः। यतस्तदीयाः (नारद भक्ति सूत्र)।

राम की तरह सन्त भी अतर्क्य मान्य हैं। तर्क से उनके विचारों का पूरा पूरा समन्वय प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सभी सन्त भगवान् की विभूति हैं, यदि उनमें भेद पाए जाते हैं, तो वे भेद यदि भगवान् को स्वीकार हैं, तो इन्सान को क्यों नहीं। यह मार्के की बात है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कि सन्त इन वैचारिक, दार्शनिक, निष्ठा सम्बन्धी, भेदों को लेकर विवाद में नहीं पड़ते। सम्प्रदाय प्रवर्तक सन्तों को छोड़ दें तो सन्त शास्त्रार्थ [बहस] में भी अप्रवृत्त मिलेंगे। उनकी भूमिका दार्शनिकों और पण्डितों से भिन्न होती है। वे अपने मत का आग्रह तक नहीं करते, एक प्रसिद्ध प्रचारक ने एक बार कहा था—'जो मतवाले होते हैं। वे कोई मत वाले नहीं होते।' इसलिए भी हमें यह देखने को मिलता है कि कबीर पन्थ में हिन्दू, मुसलमान दोनों समुदायों के लोग पाए जाते हैं। अनेक सूफी सन्तों का भी यही हाल है, उनके मानने वाले हिन्दू, मुसलमान दोनों मिलेंगे। कितना ही साम्प्रदायिक भाव फैले उक्त प्रभाव को नष्ट नहीं करता। क्योंकि वह प्रभाव न तर्काधारित है, न सम्प्रदाय के आधार पर है। यह सब रहस्यमय सन्त महिमा ही है।

भगवान् ने समय समय पर अवतार लेकर जो अनुपम लोकोद्धार लीला की उसमें भी साधुजनों की रक्षा, दुष्ट दलन तथा धर्म स्थापन आदि का प्रयोजन रहा। सन्त रूप में भगवान् की विभूति सदैव प्रगट रहती है। इतना ही है कि सब लोग उसे पहचान नहीं पाते और सब उससे लाभ नहीं उठा पाते। ऋषियों, पैगम्बरों, सन्तों, फकीरों के माध्यम से दिव्य शक्तियाँ सदैव क्रियमाण रहती हैं यद्यपि साधारण व्यक्तियों को इसका कोई अनुमान नहीं हो पाता। जिस समय लोगों को जिस मार्ग दर्शन की आवश्यकता होती है भगवान् सन्तों के माध्यम से देते रहते है। भगवान् के सन्देश वाहक ही पैगम्बर हैं, भगवान् के गुप्त रहस्यों के दृष्टा ही मन्त्र दृष्टा ऋषि हैं, और अन्य सन्त भी भगवान् की आज्ञा को श्रद्धालु जनों तक पहुँचाते हैं। भगवान् के इस प्रकार के सन्देशों पर श्रद्धा रखने वाले ही ईमान वाले अर्थात् धार्मिक हैं और इन उपदेशों से इंकार करने वाले ही काफिर या नास्तिक हैं।

आधुनिक पढ़े लिखे और तार्किक लोगों के मन में बार बार यह बात उठती है कि यदि सब धर्म भगवान् के ही भेजे और चलाए हैं तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उनमें भेद विरोध और संघर्ष क्यों पाये जाते हैं। यह विषय भी बड़ा गूढ़ और रहस्यमय है, परन्तु यह स्पष्टत: समझ लेना चाहिए कि परम सत्य कथनीय नहीं है उस सम्बन्ध में किसी के हित के लिए तत्सम्बन्धी कोई उपदेश किया जाय तो वह देशकाल, अवसर पात्र के हिसाब से सत्य का तत्कालीन प्रकाशन होगा, वह सर्वांगीण नहीं हो सकता। इसलिए विभिन्न देशों और युगों में भगवान् ने विभिन्न लोगों के लिए जो सन्देश, उपदेश, आदेश दिए उनमें भेद प्रतीत होना स्वाभाविक है। श्री कृष्ण जी ने भी जो उपदेश युधिष्ठिर को दिया' जो उपदेश अर्जुन को दिया और जो उपदेश उद्धव जी को दिया वह एक जैसा नहीं था और गोपियों को वैसा उपदेश कभी न दिया गया। जब श्री कृष्ण के अवतार कालीन उपदेशों में देश काल अवसर और पात्र के हिसाब से इतना भेद पाया जाता है तो फिर सैकड़ों या हजारों वर्ष के अन्तर से जो धर्म विभिन्न देशों और समाजों में प्रवर्तित हुए उनमें पूरा पूरा शाब्दिक साम्य कैसे मिल सकता है। परन्तु स्मरणीय यह है कि यद्यपि 'मुंडे मुंडे मतिर्भिना' के हिसाब से ऋषियों के भी मत अलग अलग हैं तो भी प्रत्येक ऋषि के द्वारा साक्षात्कार किए हुए प्रत्येक मन्त्र को भगवद् वाक्य मानकर ग्रहण करना सबका कर्तव्य है। इसी प्रकार कुरान में अल्लाह की यह घोषणा है कि उसने प्रत्येक समाज में उसी समाज के सन्देश वाहक (नबी) भेजे और उन सब में अल्लाह कोई फ़र्क नहीं करता। क़ुरान में हुक्म है कि वह आलोकित किताब उन लोगों के मार्ग दर्शन के लिए है जिन्हें पूर्व प्रेषित सन्देशों और अद्यतन सन्देशों सभी पर श्रद्धा और विश्वास है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म परम सत्य का सापेक्ष प्रकाशन है। श्री भगवान् का यह आदेश नहीं कि दिखाई पड़ने वाले मतभेदों पर तर्क का आश्रय लेकर विघटनकारी संघर्ष छेड़ दिया जाय। भगवान् ने अपने संदेशों को इसलिए भेजा कि जीव माया से मुक्त हो और भगवान् के सम्मुख हो। शब्दों की पकड़ करके वितण्डा-वाद खड़ा करने से यह काम नहीं हो सकता। यह भगवान् की पसन्द

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वाला काम उसी तरह हो सकता है जैसे सन्त लोग करते हैं, अर्थात् शुष्क तर्क का आश्रय न लेकर, माया त्याग करके, बराबर भगवत्परायण जीवन का आदर्श उपस्थित करके। नेषा तर्केण मतिरापनेया (उपनिषद्) तर्क से यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

सच यह है कि भगवान् के आदेशों का पालन करके ही हमारा कल्याण सम्भव है। बुद्धि एक सीमा तक इन्हें समझ सकती है, पूर्णतः नहीं। बहुत उच्च कोटि के लोग भवगान् से सीधा सम्पर्क रखते हैं और उन्हें भगवान् के आदेश सीधे प्राप्त हैं। दूसरों को भगवान् के आदेश शास्त्र के माध्यम से प्राप्त हैं। शास्त्र का मर्म भी उसी अनुपात में हृदयंगम किया जा सकता है, जिस अनुपात में अन्तःकरण की शुद्धि हो। वैसे शास्त्र को विभिन्न आचार्यों ने निज निज निष्ठानुसार ग्रहण करके भाष्य किया है। यद्यपि शास्त्र का यथा विधि अध्ययन सबके लिए उपयोगी हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा शास्त्र का मर्म सन्त खोलते हैं। जो शास्त्र के विद्वान् नहीं हैं, उन्हें तो सीधे सीधे और केवल सन्त का ही सहारा है। सन्त ही भगवान् के प्रतिनिधि हैं। वे ही जीव को भगवत् सम्मुख करते हैं, वे ही कर सकते हैं। इस अर्थ में भगवान् से मिलाने के लिए दूत माध्यम या साधन हैं। इस दृष्टि से भी उनकी महिमा अपार है।

गुरु गोविन्द दोनो खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरुदेव जिन, गोविंद दियो लखाय॥

भगेवान् जिस समय अपनी रहस्यमय शक्ति से जो विचारधारा समयोपयोगी समझते हैं उसे प्रसारित कर देते हैं। उदाहरणार्थ पिछली और इस शताब्दी में, आवागमन, सम्वाद, परिवहन आदि के साधन बढ़ जाने से विभिन्न धर्मों की विचारधाराओं के परस्पर सम्पर्क में आने की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ गईं। इसलिए यह आशंका हो गई कि धर्मों की आपसी टकराहट हो सकेगी। ऐसी टकराहट उग्र रूप में नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुई उसका एक कारण यह है कि प्राय: साधारण व्यक्ति धर्म के प्रति उदासीन हो गया है परन्तु भगवान् को यह मंजूर नहीं था कि विभिन्न धर्मों के विद्वान् और निष्ठावान् साधक एक दूसरे के विरोधी हो जायँ इसलिए विभिन्न धर्मों में एकता लाने का जो कार्य सूफियों और सिक्ख गुरुओं के द्वारा हो चुका था उसके आगे श्री भगवान् की कृपा से श्री श्रीरामकृष्ण परमहंस जी ने अपने जीवन में सभी धर्मों की साधना करके उन्हें सत्य प्रमाणित किया, व राजाराम मोहन राय व ब्रह्म समाज वालों के द्वारा भी सक्षम समन्वय कार्य हुआ। थियासॉफिकल सोसाइटी के विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में विभिन्न धर्मों का सादृश्य भली भाँति प्रदर्शित किया। इसी प्रकार महात्मा गाँधी, डाक्टर भगवान दास सर्वपल्ली राधा कृष्णन, आचार्य विनोबा भावे, श्रीकृष्ण दत्त भट्ट आदि के कार्य से भी सर्व धर्म समन्वय और सादृश्य प्रदर्शन का कार्य आगे बढ़ा। सबको मिलाकर आज यह स्थिति बन गई हैं कि आज (१९८४ में) किसी भी पण्डित या प्रचारक के लिए साधारण जनता के समक्ष यह पक्ष लेकर के उपस्थित होना कि प्रधान धर्म एक दूसरे के विरोधी हैं, इतना सरल या लोकप्रिय कार्य नहीं रह गया है जितना कि सौ या साठ वर्ष पहले था। इस विषय में श्री विवेकानन्द, श्री स्वामी रामतीर्थ व श्री अरविन्द घोष का कार्य भी महत्वपूर्ण रहा है। यह एक उदाहरण है कि भगवान् ने अपनी रहस्यमय शक्ति से समयोपयोगी विचार धारा को सन्तों के माध्यम से प्रसारित और प्रतिष्टित किया अनुमान है कि निकट भविष्य में भगवान् की कल्याण कारिणी शक्ति सन्तों के माध्यम से ही सर्व धर्म समन्वय और सम्मभाव को और भी आगे बढ़ाएगी और दृढ़ करेगी।

इस प्रकार सन्त शक्ति भगवत् शक्ति से भिन्न नहीं, सतत् क्रियमाण है, दृश्य जगत् में मूर्तिमान् उपलब्ध है और सन्त शक्ति से सम्पर्क में आकर हमें अपने कल्याणार्थ भगवदीय शक्ति सरलता से उपलब्ध हो सकती है इसलिए इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं मानना चाहिए कि सन्त महिमा अपार है, लिखने और कहने में नहीं आ सकती।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धन्य-धन्य माता पिता, धन्य पुत्र बर सोइ ।
तुलसी जो रामहिं भजै, जैसेहुँ कैसेहुँ होइ ॥३६॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि चाहे जिस सम्पन्नता या विपन्नता की दशा में हो, जो बालक श्री भगवान् का भजन करता है वह धन्य है, उसके माता पिता भी धन्य हैं, भगवद् भक्त पुत्र ही श्रेठ है ।

यह सुविदित हैं कि श्री गोस्वामी जी भक्ति निष्ठ थे, उनके लिए परा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मूल्य था । ज्ञान प्राप्ति के बाद भी भक्ति की सार्थकता में उनका विश्वास था । भक्ति मात्र ज्ञान प्राप्ति का सोपान नहीं थी । इसलिए श्री गोस्वामी जी के साहित्य में बहुत से प्रबल भक्ति परक वचन मिलने हैं, जो बड़े ही विवेक पूर्ण हैं । ये वचन भक्ति शास्त्रों के अनुकूल हैं और यद्यपि शुष्क ज्ञानवादी इन्हें प्रायः पसन्द नहीं करते परन्तु महान् ज्ञानी आदि शंकराचार्य, श्री मधुसूदन सरस्वती, श्री शुकदेव जी आदि के वचनों के अनुकूल हैं ।

श्री गोस्वामी जी के मत में—

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू । कर्णधार बिनु जिमि जलयानू ।।
(रा०च०मा०)

विषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिविधि जीव जग वेद बखाने ।।
राम सनेह सरस मन जासू । साधु सभा बड़ आदर तासू ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नारद भक्ति सूत्र में कहा है—त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी। नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितं न शोभते ज्ञानमल निरंजनं (श्रीमभद्‌गवत)

श्री रामचरित मानस में भरत जी के विषय में जनक जी की सम्मति अंकित की गई है—

साधन सिद्धि राम पद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत एहू॥

श्री भरत जी कहते हैं—

राउर बदि भल भव दुःख दाहू। प्रभु बिनु वादि परम पद लाहू॥

श्री भगवान् की निर्मल अविरल भक्ति ही जीवन का लक्ष्य है—

सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है॥
(कवितावली)

जिसने जीवन के सही लक्ष्य को पहचान लिया और उसकी ओर अग्रसर हो चला, उसी का जीवन सफल है, वही धन्य है। लक्ष्य से असम्बन्धित विषयों में प्रगति करना व्यर्थ है। अनित्य पदार्थों में आसक्ति पूर्वक फँसे रहना जीवन को बरबाद करना है, नित्य पदार्थ (श्री भगवान्) में अनन्य प्रेम होने से जीवन सार्थक, सफल और धन्य होता है।

भक्ति के आचार्यों ने प्रेम की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की है। उनके लिए प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। वे भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते।

दिव्य भक्ति प्रयच्छ मे, नान्यं वस्तु कदाचन।
हेतु रहित अनुराग राम पद, बढ़ो अनुदिन अधिकाई॥ (वि०प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रेम मार्गी हर तरह के प्रेम का आदर करते हैं, परन्तु वे यह अवश्य चाहते हैं कि प्रेम शुद्ध बनता जाय। झूठा या दिखावटी प्रेम, कपट युक्त प्रेम, स्वार्थवश प्रेम, वासना प्रेरित प्रेम, यह सब शुद्ध प्रेम से बहुत दूर है। इसे मोह कहते है। परन्तु उसमें यदि स्वार्थ, वासना, कामना आदि का मैल छँटता जाय तो प्रेम शुद्ध होता जायगा। शुद्धतम प्रेम ही जीवन का आदर्श है। सच्चे प्रेम का अकुर जिस अन्तःकरण में फूटे और पोषण पा जाय, उसका मैल तो छँटता ही जायगा। शुद्धतम प्रेम तक की स्थिति क्रमागत रूप से आती जायगी।

जगत् की ममता में हमें मलीन प्रेम के ही दर्शन होते हैं, परन्तु कभी कभी उच्च कोटि की सती, प्रतिव्रताओं में विशुद्ध प्रेम देखने को मिलता है। साधारण सांसारिक सम्बन्धों में कम या अधिक स्वार्थ का आधार रहता है, परन्तु धर्म या देश पर बलिदान होने वालों का प्रेम सत्य मानना पड़ेगा।

सन्तों या भक्तों का भगवान् के प्रति जो प्रेम है वह चार प्रकार का माना गया है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी (गीता ७)। ज्ञानी भक्त का प्रेम शुद्धतम, उच्चतम है, अतः ज्ञानी भगवान् से अभिन्न (आत्म स्वरूप) है।

भक्ति के साधन स्वयं श्री रामचन्द्र जी ने श्री रामचरित मानस में अरण्य काण्ड में बताए हैं [अन्य शास्त्रों में भी बताए गए हैं।]—

भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।
प्रथमहि विप्र चरण अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि विषय विरागा। तब मम चरण उपज अनुरागा॥

इस प्रकार विधि पूर्वक साधन, उपासना करते रहने पर अविरल विशुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। यह क्रमागत विकास है परन्तु विशेष

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिस्थितियों में यह देखा जाता है कि जहाँ दीर्घकाल तक साधना नहीं की गई है, वहाँ भी भगवान के प्रति आसक्ति प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए कहीं कहीं पाप से घिरे हुए जीवन में भी भगवान् की अनन्य भक्ति का प्रारम्भ देखा गया है। साधारण व्यक्ति ऐसी भक्ति की पहचान नहीं कर सकता, परन्तु श्री भगवान् की आज्ञा है कि जहाँ किसी पापी के जीवन में भी अनन्य भक्ति की भावना पाई जाय उसे साधु ही मानना चाहिए। ऐसा व्यक्ति निर्मल भगवद्भक्ति के प्रताप से शीघ्र ही पापमुक्त हो जाता है और निर्मल जीवन बिताने लगता है। [गीता ९/३०-३१] इस प्रकार भगवान् की भक्ति और सच्ची भक्ति कभी कभी उन लोगों में भी पाई जाती है जो देखने में अधम या साधारण हैं। इस सच्ची भक्ति की एक विशेषता यह होती है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कायम रहती है। दुःख आदि की प्राप्ति से या विघ्नों के आने से सच्ची भक्ति निरुत्साहित नहीं होती। उसकी शक्ति बढ़ती जाती है और वह जीवन के समस्त दोषों और पापों की भस्म करके जीव को पतित से पावन बना देती है। इसलिए यह समझना अच्छा होगा कि भगवान् की सच्ची भक्ति विचित्र परिस्थितियों में मिल सकती है।

इसलिए श्री गोस्वामी जी ने कृपा करके यहाँ अत्यन्त मर्यादापूर्वक और कुशलता पूर्वक यह संकेत दे दिया है कि चाहे जैसी परिस्थिति में किसी का जीवन यापन हो रहा हो, यदि वह भगवान् का भजन करता है तो वह धन्य है, और उसका जीवन सफल है। यहां राम भजन से मतलब सच्ची भावना लेकर भजन करने से है, भजन के दिखावे से नहीं।

श्री गोस्वामी जी के पूर्व निरूपण के बाद आशा की जाती है कि पाठक उस भूमिका को छोड़ चुके होंगे जहाँ लोग सांसारिक सुख, सफलता या सम्पन्नता को भक्ति का मानक समझते हैं। साधारण व्यक्तियों में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह प्रवृत्ति अक्सर पाई जाती है कि वे सम्पन्नता और सांसारिक सुख को भगवत् कृपा का लक्षण या प्रमाण मानते हैं परन्तु ज्ञान दृष्टि रखने वाले इन दोनों का ऐसा सम्बन्ध नहीं मानते। परम 'अकिंचन प्रिय हरि केरे' के अनुसार बहुत से लोग भगवान् के अनन्य भक्त और कृपा पात्र होते हुए भी दीन हीन अकिंचन बने रहते हैं और उसी में अपने भगवद् भजन की सुरक्षा और निर्विघ्नता पाते हैं। इसलिए विवेकी जनों को यह शोभा नहीं देता कि किसी को गरीबी में या अन्य कष्ट में देखकर जल्दी से यह निर्णय कर लें कि वह भगवान् का सच्चा भक्त या उच्च कोटि का सन्त नहीं हो सकता। अतः यहां सूक्ष्म तत्व का अत्यन्त कुशलता और मर्यादापूर्वक संकेत कर दिया गया है कि जिस किसी भी परिस्थिति में हो भगवान का भजन करने वाला धन्य है।

इस सम्बन्ध में यह उपयोगी होगा कि हम श्री महाराणी जी के अशोक वाटिका में निवास के चरित्र का स्मरण करें। श्री हनुमान् जी को अशोक वृक्ष के पल्लवों में छिपे छिपे यह देखने का अवसर मिला था कि रावण के हाथों श्री महाराणी को कितना कष्ट झेलना पड़ा। फिर श्री हनुमान जी ने यह भी देखा कि श्री महाराणी जी ने अशोक वृक्ष से अग्नि की याचना की कि वे जलकर अपना विरहाकुल जीवन समाप्त कर सकें।

देखि परम विरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कल्प सम बीता॥

श्री हनुमान् जी ने लौटकर श्री रामचन्द्र जी से जो हाल बताया उसमें कहा कि—

सीता कै अति विपति विशाला। बिनहिं कहे भल दीन दयाला॥

परन्तु जब भगवान् स्वयं इस हाल को सुनकर व्याकुल हो गए और कहने लगे—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वचन काय मन मम गति जाही । सपनेहु बूझिअ विपत्ति कि ताही ।।

तब श्री हनुमान् जी ने कुछ और ही बात कही—

कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई । जब तव सुमिरन भजन न होई ।।

आदर्श भक्त का दृष्टिकोण यह है कि भगवान् का स्मरण होते रहना ही जीवन का सुख है, स्मरण भजन न होना, यही विपत्ति है। श्री महाराणी जी अशोक वाटिका में रहते हुए श्री भगवान् का अखण्ड स्मरण करती थीं इस आधार पर श्री हनुमान् जी ने उनकी विपत्ति को असिद्ध किया। यद्यपि वे स्वयं यह कह चुके थे कि उनकी भारी विपत्ति का वर्णन न करना ही अच्छा है।

इस चरित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि सच्ची भक्ति की यह कोई शर्त नहीं हो सकती कि उससे युक्त जीवन में कोई सांसारिक विपत्ति न आ सके। कबीर ने कहा है—

सुख के माथे सिल परै, जो नाम हृदय ते जाय।
बलिहारी वा दुख की, जो छिन छिन नाम रटाय ।।

महाभारत में कुन्ती ने श्रीकृष्ण से यह वरदान माँगा कि हम लोग जहाँ जहाँ भी रहें हमारे ऊपर विपत्तियाँ आती रहें क्योंकि विपत्ति आने पर ही आपका दर्शन होता है और आपका दर्शन ही मोक्ष है-

विपदः सन्तु जो शश्वत्, तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनम् यत् स्यादपुनर्भव दर्शनम् ।।

कबीर ने यह भी कहा है कि—

कबिरा हँसना दूर कर, रोने से कर प्रीति।
बिन रोये कैसे मिलै, मन का परमा-मीत ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साधारणत: यह कल्पना ठीक है कि विपत्ति पापों का फल है और सम्पत्ति पुण्यों का फल है परन्तु भक्तों और सन्तों के जीवन में इसी विचार को लेकर निर्णय करना निरापद नहीं है। कम से कम यह तो समझ ही लेना चाहिए कि उच्च कोटि के भक्तों और सन्तों की रहनि में सुख और दुख में समान भाव पाया जाता है, उनकी भक्ति, उपासना या भगवान् की याद इस बात पर बिल्कुल निर्भर नहीं रहती कि विघ्न न आवें और सुख और सम्पन्नता की परिस्थितियाँ हमेशा बनी रहें। यहाँ श्री गोस्वामी जी ने इस दोहे में कुशलता पूर्वक यह संकेत कर दिया है कि जो व्यक्ति हर एक प्राप्त परिस्थिति में, जिस किसी भी दशा में हो श्री राम जी का भजन करता रहता है वह धन्य है। श्री नारद भक्ति सूत्र मे कहा है कि—

गुण रहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षण वर्धमानम् सूक्ष्मतरं अनुभव रूपम्।
अनिवचनीयम् प्रेमस्वरूपम्।

यह तो देख लिया गया कि जो भगवान् का निष्काम भाव से परिस्थिति निरपेक्ष रहकर भजन करता रहता है उसका जीवन धन्य है। परन्तु यहाँ ऐसे भक्त के माता पिता को धन्य धन्य कहा है यह देखना चाहिए कि पुत्र के भजन करने से माता-पिता की धन्यता क्यों मानी गई। यह गोस्वामी जी की अपनी अनोखी कल्पना नहीं है। शास्त्रों में जहाँ तहाँ ऐसी धन्यता की घोषणा की गई हैं।

कुलम् पवित्रं जननी कृतार्था:, वसुन्धरापुण्यवती च तेन।
पावयन्ति कुलानि पृथ्वीम् च (नारद भक्ति सूत्र)

रामचरित मानस में कहा है कि–

पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भक्त जासु सुत होई॥
न तरु बाँझ भलि वादि बियानी। राम विमुख सुत ते हित हानीं॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री रामचरित मानस में मेघनाथ वध के समय का यह दोहा अंकित है–

रामानुज कहँ राम कहँ, अस कहि छांड़ेसि प्रान।
धन्य धन्य तव जननी, कह अंगद हनुमान ।।

मेघनाद ने भगवन् नाम लेते हुए प्राण छोड़े तो श्री अंगद जी और श्री हनुमान जी ने उसकी माता को भी धन्य धन्य कहा।

श्रीमद्भागवत में श्री भगवान् ने प्रह्लाद से कहा कि आप अपने कुल को पवित्र करने वाले है, आपके जन्म लेने से पिता और पितरों समेत २१ पीढ़ियाँ तर गईं।

त्रिः सप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य गृहे जातो, भवान् वै कुल पावनः ।।
(श्रीमद्भा० ७/१०/१८)

श्री रामचरित मानस में श्री शंकर जी का वचन है–

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुवीर परायन, जेहि नर उपज विनीत ।।

इस प्रकार यह स्पष्ठ है कि इस दोहे में श्री गोस्वामी जी ने शास्त्र सम्मत विचार ही अंकित किया है तथा यह समझ लेना चाहिए कि पुत्र के भजन करने से माता पिता की धन्यता क्यों और किस आधार पर मानी गई है। ऐसे वचन केवल अलकारिक भाषा का शौक होने से नहीं लिखे गए हैं, उनके पीछे सैद्धान्तिक रहस्य हैं।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार 'जो जस करइ सो तस फल चाखा' अपने कर्मानुरूप ही फल मिलता है, यही कर्म सिद्धान्त कुरान और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बाइबिल में भी मान्य किया गया है, अपने अपने कर्म के लेखे के अनुसार फल मिलता है। तो भी श्री रामचरित मानस में हम देखते हैं कि श्री दशरथ जी, श्री राम बनवास के प्रसंग में, श्रवणकुमार के पिता के स्राप की बात याद करके कहते हैं–

करै जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई ।।

और करै अपराध कोउ, और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवन्त गति, को जग जानै योग ।।

(श्रवण वध का पाप तो मेरा था, बनवास रूप दुःख राम को क्यों मिल रहा है? आश्चर्य है।)

भगवान् ने प्रह्लाद की एक्कीस पीढ़ी तरने की बात स्वयं श्रीमद्भागवत में कही है।

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत् पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुवीर परायण, जेहि नर उपज विनीत ।।

इस मामले में एक विशेष बात आनुवंशिक संस्कारों की है।

फरै कि कोदो बालि सुशाली। मुकुता प्रसव कि संबुक ताली ।।

अतः जो पुत्र भगवद्भक्त हो गया उसके संस्कार माता पिता से मिले, भले ही पिछली पीढ़ी में वे संस्कार गुप्त रहे हों, प्रत्यक्ष न रहे हों। इससे पुत्र की श्रेष्ठता से माता पिता की श्रेष्ठता (किसी दृष्टि से सिद्ध होती है। जिन पेड़ों से अच्छे आम मिलते हैं, उनकी प्रशंसा होती है, वे समाजोपयोगी माने जाते हैं।

इसी से सम्बन्धित बात पितृ-ऋण वाली है। उपनिषद् में कहा हैं–प्रजातन्तुम् मा व्यवच्छेत्सीः। प्रजा तन्तु को मत काटो। आधुनिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विज्ञान के अनुसार भी किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके पैतृक संस्कारों का वर्तमान् पीढ़ी में एक सम्भव विकसित रूप है। एक माता पिता की सब सन्तानें बिल्कुल एक सी नहीं होतीं उसका कारण यह रहता है कि प्रत्येक में पैतृक संस्कारों का व्यक्त रूप एक सा नहीं रहता है। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवरण में जाना यहां प्रासंगिक नहीं हैं।

विवेकी ऋषियों और आधुनिक वैज्ञानिकों की राय में महान् विद्वान् पैतृक संस्कार के अधिष्ठान पर ही विकसित होते हैं, यदि उनके माता पिता पढ़े लिखे न हों तो भी यह बात मान्य है कि पूर्व पीढ़ी के वेपढ़ी होने का कारण या तो यह माना जायगा कि उस पीढ़ी में विद्या का संस्कार प्रच्छन्न रहा, प्रगट नहीं रहा, अथवा उस संस्कार को विकसित होने की सुविधा नहीं मिली। उत्तम पैतृक सस्कारों का श्रेय माता पिता को ही है और उनकी धन्यता के लिए यह आधार पर्याप्त है।

शास्त्र में मनुष्य के तीन ऋण माने गए हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण व पितृ ऋण। यह सुप्रसिद्ध है कि पुत्र पैदा करके पितृ ऋण से उऋण हुआ जा सकता है। विवेक की दृष्टि से केवल पुत्रोत्पादन ही कर्तव्य नहीं है, उत्तम सन्तान पैदा करके छोड़ जाना ही असली सेवा है। यही कर्तव्य है। इसलिए जन्म देने से कर्तव्य की इति नहीं हो जानी, शिक्षित, शिष्ट, संस्कारी बनाने का भी कर्तव्य है। इस कर्तव्य में व्यापक ढील होना सभ्यता और संस्कृति के मूल पर प्रहार है।

यदि यह मान लिया जाय कि भजन निष्ठ जीवन ही सच्ची सफलता है तो राम भजन निष्ठ पुत्र इस बात का प्रमाण है कि उसके माता पिता पितृ ऋण से भली भाँति उऋण हो गए, और इस कारण उनकी धन्यता सिद्ध है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पिता के मरने पर पुत्र उसकी संपत्ति उत्तराधिकार में पाता है। कुछ बीमारियाँ भी ऐसी हैं कि पिता को थीं इसलिए पुत्र को होने की सम्भावना रहती है। अमीर का पुत्र बहुत सी सुख सुविधाएँ केवल पुत्रत्व के कारण भोगता है, अपने वर्तमान् जन्म के पुरुषार्थ के कारण नहीं। इसमें यह भले ही कहा जाय कि अमीर का पुत्र होना भी पूर्व पुण्यों का परिपाक है। इसी प्रकार योग्य पुत्र मिलना भी पूर्व पुण्यों का परिपाक मान्य है—

तुम सम सुवन सुकृत जिन दीन्हें। उचित न तासु निरादर कीन्हें॥

जब विद्वान्, सम्पन्न, सज्जन, पुण्यात्मा पुत्र भी माता पिता के पूर्वकृत् महान् पुण्यों का प्रमाण है, तो फिर भगवद्भक्त पुत्र का क्या कहना!

ऐसा भी हो सकता है कि माता पिता के प्रतिकूल जाकर पुत्र ने भगवद्भक्ति की हो, जैसे प्रह्लाद ने की थी। फ़िर भी भगवान् ने कहा ही कि तुम्हारे पिता इक्कीस पीढ़ियों सहित पवित्र हो गए। विवेक युक्त बिचार करने में यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि कहीं पुत्र के त्याग, वैराग्य, भक्ति से माता पिता की ममता को आघात भी लगा हो तो भी कई बार देखा गया है कि भक्ति की सफलता होने पर माता पिता उस पुत्र के कारण ही बाद में गौरवान्वित होते हैं। अतः पुत्र की साधना में उनका कोई हाथ नहीं यह हम नहीं कह सकते।

एक लाखों रुपए की सम्पत्ति वाले परिवार का ज्येष्ठ पुत्र लगभग १६ वर्ष की आयु में त्याग कर गया। बहुत रुपया खर्च करने और ढूंढने पर भी नहीं मिला। प्रायः आठ वर्ष हिमालय के ऊँचे स्थानों पर आश्चर्यजनक तपस्या की। बाद में कारणवश माता पिता से फिर भेंट हुई। दूसरे भाई लौकिक जीवन में प्रगति शील और सम्पन्न हुए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मांता जी अब अपने ज्येष्ठ पुत्र से ही सर्वाधिक गौरवान्वित हैं। यही नहीं उनका कहना है कि यदि माँ दु:खी होकर आँसू बहाए तो बेटे की साधना सफल नहीं हो सकती। अत: वे कभी नहीं रोतीं न बेटे को घर में पुन: बसाना चाहती हैं। पुत्र जहाँ भी रहे उसकी सुख-सुविधा के लिए वे सहस्रों रुपए हर समय खर्च कर सकती हैं, परन्तु उसके वैराग्य की हितेच्छु ही हैं। दूसरे कई लोग हैं, जिनकी दृष्टि में उक्त ज्येष्ठ पुत्र सिद्ध सन्त के रूप में हैं, साधन की सिद्धि होनी बाकी नहीं हैं।

जननी जनै तो अस जनै, कै जोगी कै शूर।
नाहिं तो बाँझ बनी रहै, वृथा न खोवै नूर॥

जो नर रत्न है, भगवद्भक्त है, वह पृथ्वी पर पुष्पमाला की तरह है, शृंगार रूप है, जो भोगी है, पशुधर्म में ही लगा है, वह भार रूप है।

जाइ जियत जग सो महि भारू। जननी यौवन विटप कुठारू।

वैदिक उक्ति है—'एतावानेव पुरुष: यज्जायात्मा प्रजेऽति च।' स्त्री, स्वयं (पुरुष) और पुत्र मिलाकर पुरुष है। जहाँ इस धर्म भावना से परिवार का एकत्व है, एक के कर्म से दूसरा क्यों नहीं प्रभावित होगा? कोई स्त्री अपने पति के सुधार के लिए जप, तप, पूजा, पाठ, अनुष्ठान करके सफल होती है तो वहाँ उसके कर्म से पति का सुधार होता है या नहीं?

सत्यवान् भाग्यानुसार यथा समय कालकवलित हूए परन्तु सावित्री की तपस्या उन्हें यमराज के हाथ से भी छुड़ा लाई और दीर्घ काल तक दोनों ने राज्य किया, यह समय सावित्री युग कहलाया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पिण्डदान और श्राद्ध तर्पण में तो पितरों के हित के लिए पुत्र पौत्रादि का कर्म होता ही है।

मुगल बादशाह औरंगजेब ने जब शाहजहाँ को कैद करके रक्खा और एक बार वह पानी के लिए तरस गया तो उसने कहा, 'हजार बार तारीफ़ के लायक हैं हिन्दू जो मरे बाप को भी पानी देते हैं, तुम जिन्दा बाप को पानी को तरसाते हो।'

यद्यपि आदर्श भक्त भगवान् से कुछ भी नहीं माँगते, तो भी भगवान् अनन्य भक्त का योग क्षेम चलाते हैं। यह योग क्षेम बहन व्यक्ति तक सीमित नहीं, परिवार भी इसमें आ जाता है। शिष्यादि का भी योग क्षेम भगवान् सँभालते हैं।

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम काम सब पूरन, करहिं कृपानिधि तेरो॥ (विo पo)

महाराष्ट्र के मध्य युगीन प्रसिद्ध सन्त श्री एकनाथ जी महाराज नित्य कथा कहते थे। सैकड़ों आदमी नित्य प्रेम से सुनते थे। सभी श्रोताओं के मस्तक पर नित्य चन्दन लगाया जाता था। अतः नित्य बहुत सा चन्दन घिसना होता था। घिसने वाला परेशान हो जाता था। उसने ऊबकर नौकरी छोड़ दी। इसके बाद एक दूसरा आदमी श्री एकनाथ जी के पास आया और नौकरी की प्रार्थना की। सन्त जी ने कहा, 'चन्दन घिसने का काम करोगे?' उसने स्वीकार कर लिया, बड़े उत्साह से नित्य सबके लिए चन्दन घिसता था, ऊबता नहीं था। बहुत दिन यह प्रबन्ध चला।

पश्चात्, एक घटना हुई। सुदूर निवासी एक भक्त भगवान् के दर्शनों के लिए व्याकुल था। उसे आदेश हुआ, 'जाओ, एकनाथ महाराज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की कथा में चन्दन घिसने वाले से मिलो। हमीं उस रूप में हैं। उसने जाकर दर्शन किये। जब बात खुल गई, तो वह चन्दन घिसने वाला ग़ायब हो गया। श्री एकनाथ जी ने बहुत कातर होकर प्रार्थना की तो भगवान् ने दर्शन दिये, और कहा--हम तो अब भी पहले की तरह सेवा करने को तैयार हैं, तुम लोग करने नहीं दोगे यही विवशता है।'

इस प्रसंग से भी प्रगट है कि भगवान् का योग क्षेम वहन एक व्यक्ति के रोटी कपड़े तक सीमित नहीं हैं, उसका बहुत विस्तार है, उसमें लौकिक, पारलौकिक सभी प्रकार का योग क्षेत्र आ जाता है। अतः माता पिता भगवान् की इस महती कृपा के क्षेत्र के बाहर कैसे रह सकते हैं? उनकी धन्यता और कृतकृत्यता में सन्देह कैसे किया जा सकता है?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तुलसी जाके बदन से, धोखेहु निकसत राम ।
ताके पग की पगतरी, तेरे तन को चाम ।।३७।।

तुलसीदास जी कहते हैं कि धोखे से भी जिसके मुख से 'राम' निकले, उसके जूते बनाने के लिए मेरे शरीर के चर्म का उपयोग होना, मेरी इच्छा के अनुकूल होगा ।

यह दोहा दीनता का सन्देश देता है । श्री गोस्वामी जी बड़े से बड़े उच्च कोटि के सन्तों के लक्षण कह चुके और महिमा भी बता चुके । यह सन्देश भी दे चुके कि बने हुए ढोंगी, साधु सन्त बहुत हैं, माया त्यागी सन्त बिरले बिरले होते हैं, उन्हीं की शरणागति से भव सागर पार होता हैं ।

अब विषय के दूसरे पक्ष (पहलू) पर आते हैं। सच्चे सन्त को पहिचान कर उनकी शरण ग्रहण करना तो ठीक है, परन्तु माया मोह में पड़ा हुआ जीव इस विषय में भी ऊटपटाँग आचरण करता है । वह प्रायः किसी को निश्चित रीति से माया त्यागी सन्त नहीं मानता । हर एक साधु सन्त में कमी देखता है, निन्दा सबकी करता है, शरण किसी की ग्रहण नहीं करता । प्रायः दूसरों की श्रद्धा को आघात पहुँचाने में उसे संकोच या दुःख भी नहीं होता । यदि कोई श्रद्धालु किसी सन्त को माया त्यागी सिद्ध करना चाहे, तो ऐसा पुरुष बहुत सा कुतर्क प्रस्तुत करता है । इस प्रकार का तार्किक सच्चे भक्ति पथ से बहुत दूर रह जाता है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

माया त्यागी सन्त या सन्तराज के लक्षणों का द्विविधि उपयोग है, एक तो अपनी शरणागति के लिए योग्य गुरू की पहिचान करने में, सक्षम और स्थिर श्रद्धा स्थापित करने में, इस लक्षण-कथन से सहायता मिलती है, दूसरे आत्म परीक्षण में तथा अभिमान् से बचने में यह उल्लेख सहायक है। मन बहुत जल्दी अपने को श्रेष्ठ, दूसरों को अन्यथा मान लेता है। निष्पक्ष आत्म परीक्षण से जब अपने अन्त:करण में श्रेष्ठ सन्तों के लक्षणों का अभाव पाया जाय तो अपने को सन्त या भक्त या पूज्य कैसे मानें ? अत: पूर्व कथित श्रेष्ठ सन्तों के लक्षण सचमुच वह कसौटी प्रदान करते हैं जिस पर अपने को कसते रहना चाहिए।

सन्त का लक्षण है 'सबहि मान प्रद आपु अमानी।' इसका अर्थ हुआ कि सच्चे सन्त स्वाभाविक रूप से (दम्भ से नहीं), साधारण जनों, दाम्भिकों दुष्टों आदि को भी मान देते हैं। अपने लिए मान के त्यागी बने रहते हैं। अपने को सचमुच श्रेष्ठ समझना और ऊपर से अमानी बने रहना दम्भ है। सन्त या शास्त्र इस दम्भ की सस्तुति या प्रशस्ति (तारीफ) नहीं कर सकते। सन्त का जो अक्षण है उसमें वास्तविक अमानी भाव बताया गया है। सच्चा भाव, दाम्भिक नही।

यह प्रश्न सहज ही उठता है कि जो सन्त परम शुद्ध, माया त्यागी, भ्रम से मुक्त, यथार्थदर्शी हैं, वे साधारण जीवों से अति उच्च भूमिका में पहुँचकर भी अपनी श्रेष्ठता का अनुभव क्यों नहीं करते, मान से कैसे बच पाते हैं, और सभी जनों को अपने से श्रेष्ठ समझ कर कैसे मान देते हैं।

यह प्रश्न देखने में बड़ा जटिल है और व्यवहार में यह देखना पड़ता है कि बहुत से सन्त रूप में प्रतिष्ठित महापुरुष भी मानी पाए जाते हैं, अमानी नहीं। इसका कारण यह है कि बहुत बार काँचन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कामिनी का त्याग मान प्राप्ति के ही लिए किया जाता है, इसलिए अमानी होना या रहना कठिन होता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने एक कविता की एक पंक्ति में कहा है कि मान की वासना एक सौजन्यपूर्ण अन्तःकरण की अन्तिम कमजोरी है, (जो अन्त में ही छूटती है)। श्री तुलसीदास जी का दोहा है—

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईरषा, तुलसी दुर्लभ एह॥ (दोहावली)

अतः अमानी होना बहुत ऊँचा लक्षण है, इसका उदय बाद में होता है।

माया की पकड़ बहुत बेढब है। साधक अनेक उत्तम गुण धारण करता है विकसित करता है, परन्तु उन गुणों की चेतना ही अस्मिता को और भव-बन्धन को दृढ़ करती है। 'ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहै, त्यों त्यों अरुझत जाय। बहुत बड़े दानी, पण्डित, विद्वान्, लेखक, प्रचारक, सन्त, भक्त आदि कुछ भी होने की भी अस्मिता होती है। अपने को बहुत बड़ा सिद्ध, योगी या अवतार मानना और इसलिए पूज्य मानना भी अमानी भाव के विपरीत है। जब सन्त परम श्रेष्ठ हैं तो फिर वे अपने को क्षुद्रातिक्षुद्र कैसे देखते हैं?

आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी॥

यह एक मनोवैज्ञानिक पहेली है कि श्रेष्ठ मनुष्य अपने को क्षुद्र और क्षुद्र मनुष्य अपने को श्रेष्ठ कैसे देखता हैं?

इसके उदाहरण बिरले नहीं हैं, बहुत पाये जाते हैं, प्रायः सबकी जानकारी में हैं कि अल्प गुणी व्यक्ति अपने को महान् गुणी और कम योग्य मनुष्य अपने को अत्यन्त योग्य समझता है, मानता है। इसका कारण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह है कि अन्तःकरण रूप दर्पण की समतलता को अभिमान विकृत कर देता है। असमतल दर्पण (नतोदर या उन्नतोदर दर्पण) में प्रतिबिम्ब साधारण प्रतिबिम्ब से बहुत बड़ा या बहुत छोटा दिखाई देता है। घमण्डी व्यक्ति को अपने अन्तःकरण में अपना प्रतिबिम्ब वास्तविक से बढ़ा चढ़ा दिखाई देता है, इसीलिए उसे भ्रम होता है।

विपरीतत: जहाँ अस्मिता गतलि हो गई है, अपने में श्रेष्ठता का आभास नहीं होता, अमानता आ जाती है, सबको मान देने की वृत्ति का उदय होता है।

इसी बात को दूसरी तरह से समझ सकते हैं। शरीर ही कर्मों का माध्यम है। सारे शुभ कर्म शरीर से किये जाते हैं। शरीर प्रकृति का स्थूल कार्य है, अन्तःकरण सूक्ष्म कार्य है, दोनों अष्टधा प्रकृति (गीता) के भीतर हैं। इस प्रकृति के प्रेरक वही प्रभु हैं जो एक साथ अन्तर्यामी और बहिर्यामी हैं। अत: जो सृष्टि के समस्त कर्मों का कर्ता है, वही देह के द्वारा किए जाने वाले कर्मों का कर्ता है, ऐसा नहीं है कि समष्टि के कर्म प्रकृति के और दैहिक (व्यष्टि के) कर्म हमारे। अत: सभी कर्मों का श्रेय भगवान् का ही है इन्सान का नहीं। साधकों के लिए तो यही ठीक है कि, गुन तुम्हार समुझै निज दोसू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू।। परन्तु तत्वदर्शी सिद्ध सन्त के लिए सभी कर्म प्रकृति के हैं और भगवान् प्रकृति का प्रेरक है। भगवान् कर्ता होते हुए भी अकर्ता है। (गीता ४.) गुण, दोष, पाप पुण्य, कार्य अकार्य आदि का विवेक व्यवहार में अति आवश्यक है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से सब स्वप्न हैं। स्वप्न में भी बीमार होने पर दवा की आवश्यकता होती है, पर जागने पर सब असिद्ध हो जाता है। वास्तविक ज्ञान मर्यादाओं को तोड़ने की अनुमति नहीं देता परन्तु तत्व दर्शन होने पर पारमार्थिक सत्ता में श्रेष्ठ, कनिष्ठ आदि भेद नहीं रहते। यदि अपनी श्रेष्ठता और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दूसरों की कनिष्ठता का भाव बना रहा तो द्वैत दर्शन सिद्ध होगा, 'द्वैत कि बिनु अज्ञान।' मान का भाव द्वैत का प्रमाण है और अज्ञान सिद्ध करता है, "ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं (रा०च०मा० अरण्य काण्ड) अपने को ज्ञानी, दूसरों को अज्ञानी समझना, यह भी अज्ञान है। अमानी भाव ज्ञानी का सहज लक्षण है, आश्चर्य का विषय नहीं। अब अनन्य भक्ति की दृष्टि से देखिए—

उमा जे राम चरण रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध।
सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त॥
(रा०च०मा० किष्किन्धा काण्ड)

अनन्य भक्त के लिए सब कुछ भगवद्रूप है। इसलिए सचमुच कोई परमात्मा भिन्न सत्ता नहीं है। पुण्यात्मा, पापात्मा, महात्मा, दुष्टात्मा आदि कुछ नहीं। इस तरह की प्रतीति होती है (ऐसा मालूम होता है) कि यह सब भेद हैं, पर वह प्रतीति या आभास इसलिए होता है कि प्रभु अलग अलग रूपों में अलग अलग लीला कर रहे हैं। 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता) ऐसा देखने वाले महात्मा दुर्लभ हैं। ऐसे महात्माओं के ही जीवन में 'सबहि मान प्रद आपु अमानी' की असली बहार देखने में आती है। अन्य लोगों में यदि ऐसा आचरण मिले तो वह दम्भ के कारण हो सकता है अथवा कहीं कहीं 'सज्जन धर्म' के कारण भी मिलता है।

भजन की दृष्टि से भी बात यह है जितने अंश में जो अभिमान ग्रस्त है वह भजन के लिए उतना ही अयोग्य है। दीनता भगवद्भजन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का अत्यन्त सहायक गुण है।' ऐहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई। (विनय पत्रिका)

राम ग़रीब नेवाज हैं हौं लही न गरीबी। (वि०प०)

कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने गीताञ्जलि में कहा है—

सदैव तुम भरते रहते हो,
सदैव और भरने की जगह रहती है।

दीन ही सुपात्र है और भगवत्कृपा उसमें भरी जाती है, अखण्ड प्रक्रिया चलती है।

कुतर्की तुरन्त सन्देह करेगा कि ऐसा कौन है जिसके मुख से धोखे से भी कभी भगवन्नाम न निकला हो, तो ऐसे सब लोगों के प्रति इतना आदर, इतनी कृतज्ञता, इतना प्रेम कैसे उमड़ेगा, कैसे निभेगा? कोरा साहित्यिक करेगा, 'यह अतिशयोक्ति अलंकार है, इसको यथार्थ के रूप में लेना ही मूर्खता है। परन्तु इन लोगों के पास इसका क्या जबाब हैं कि स्त्री नामदेव जी की रोटी कुत्ता लेकर भागा तो वे घी की कटोरी लिए हुए दौड़े कि रूखड़ी मत खैयो, स्वामी रूखड़ी मत खइयो। प्रभु! रूखी रोटी न खायँ, घी तो चुपड़ लेने दें।' जिसे अतिशयोक्ति दिखाई पड़ती है वह जाने परन्तु यह समझना आवश्यक है, कि सन्तों में दीनता और सबको मान देने का भाव ऐसी सीमा तक पाया जाता है जो हमारे लिए आश्चर्यजनक है। हमारे सन्तवर श्री तुलसीदास जी ही कवितावली में कहते हैं—

माँगि के खैबो मसीत को सोइबो है,
लेनो है एक न देनो है दोऊ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मो सम दीन न दीन हित, तुम समान रघुवीर । (रा०च०मा०)

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी । (वि०प०)

इतना ही नहीं, श्री गोस्वामी जी की एक घटना यह है कि एक बार एक जगह सन्तों का भण्डारा हो रहा था । खीर परसने के पात्र की कमी थी तो श्री गोस्वामी जी एक सन्त का एक जूता उठा लिया और कहा, इससे उत्तम पात्र क्या हो सकता है ? कहते हैं कि इसी भाव को देखकर श्री नाभा जी ने भक्तमाल में श्री गोस्वामी जी को 'भक्तन माल सुमेरु' कहा । इस तरह अन्य उदाहरणों की बात क्या, स्वयं लेखक की ही दीनता व मान देने की भावना अलौकिक और अनुपम थी । उन्होंने प्रस्तुत दोहा इसी तत्व को उजागर करने के लिए लिखा है न कि अतिशयोक्ति अलंकार का एक अनावश्यक उदाहरण देने के लिए । हम लोगों का कल्याण इसमें है कि ग्रंथ में इस दोहे को पढ़कर यह सीखें कि सच्चा, वैराग्यपूर्वक, भजन तभी हो सकता है जब हममें पूरी तरह दीनता व अमानी भाव आए । श्री चैतन्य महाप्रभु जी चैतन्याष्टक (श्लोक ३) में कहते हैं–

तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन, कीर्तनीयः सदा हरिः ।।

(तिनके से भी क्षुद्र बना जो, सहनशील तरु से भी आगे ।
वही भजन के योग्य, मान प्रद, अपना मान सदा ही त्यागे ।।)

श्री गोस्वामी जी अप्रतिम नामानुरागी थे, उनका अपूर्व क मानुराग भी इस दोहे में प्रतिबिम्बत हुआ है । भगवन्नाम की जो अपार महिमा है वह तर्कगम्य नहीं है । अकथनीय भी है । तथापि जीवों के कल्याणार्थ शास्त्र में उल्लिखित है । शास्त्रों में जो नाम महिमा है उसमें धोखे से भी नाम लेने का माहात्म्य अंकित है । एक उदाहरण यह है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोकं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठ नाम ग्रहणमशेषाघ हरं विदुः ।। (श्रीमद्भा०)

श्री राम चरित मानस में भी कहा है—

भाव कुभाव अनख आलसहू । नाम जपत मंगल दिसि दसहू ।।

यह कहना आसान है कि शास्त्र के ऐसे वचन रोचक हैं, यथार्थ नहीं, परन्तु इस प्रकार बचकर निकल भागना आसान नहीं है। पुराण में दस नामापराध गिनाएँ हैं, उनमें से एक है—

'नाम्नयर्थवाद भ्रमः' (नाम के माहात्म्य में अर्थवाद का भ्रम, अर्थात् नाम माहात्म्य को सुनकर भी उसमें विश्वास न करना, यह सन्देह करना कि यह सब अतिशयोक्ति है।

जब यह कहा जाता है कि शास्त्र कथित नाम माहात्म्य में अर्थवाद है, अतिशयोक्ति, रोचनार्थ कथन है, लोगों में श्रद्धा बढ़ाने के लिए उतना कह दिया गया है, तो उसमें यह भाव तो छिपा ही रहता है कि शास्त्र भगवन्नाम प्रचार के लिए, जनता को प्रभावित करने के लिए रोचक वचन कहते हैं लेकिन हमारे जैसे विवेकी विद्वान इस भुलावे में नहीं आ सकते। हम तो जानते ही हैं कि यह रोचक वचन है, अतिशयोक्ति है। इस प्रकार जिनकी कल्पना यह है कि भगवन्नाम उद्धारक तो है परन्तु शास्त्रों में साधकों को लुभाने के लिए श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए अतिशयोक्ति की गई है, उनका अपना **गौरव** यही है कि वे स्वयं इस प्रलोभन में नहीं पड़े। यदि कोई विवेकी किसी भी प्रलोभन में न पड़े तो स्तुत्य है, परन्तु वह कल्याणमार्ग में आवाहन करने वाले शास्त्र वचनों से अप्रभावित रहता है, परन्तु पतनकारी लौकिक प्रलोभनों से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं बच सकता, तो उसकी विद्या और विवेक की प्रशंसा कैसे की जाय ?

जब तक अपनी श्रेष्ठता का कुछ भी मान रहेगा, धोखे से भगवन्नाम लेने वाले के प्रति हम अत्यन्त श्रद्धावान् नहीं हो सकते। परन्तु जब हम तिनके से भी नीचे बन जायँगे, तभी हम सबका आदर कर सकते हैं। अनन्य भक्ति में तो अपने को सेवक, सचराचर सबको भगवद् रूप देखना होता है, अतः वहाँ सबके प्रति कृतज्ञता व विनीत भाव सम्भव है। इसी भाव की पराकाष्ठा दोहे में अंकित है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैन दिन राम ।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम ॥३८॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं भक्त चाण्डाल भी अच्छा है, जो रात दिन भगवान् रामचन्द्र जी का भजन करता है, जहाँ श्री हरि का नाम न हो, वहाँ ऊँचा कुल किस काम का ?

जन्मना जाति: (जाति जन्म से होती है) । वर्ण व्यवस्था में से ही सहस्रों जातियों का उदय हुआ और इनमें काल क्रम से वह सौहार्द व सामञ्जस्य नहीं रह गया जो एक ही बिराट् पुरुष के अंगों में अवश्य होना चाहिए था । धीरे धीरे जातीय स्पर्धा व वैमनस्य बढ़ता गया । वर्ण-व्यवस्था व वर्ण धर्म की परवाह नहीं रही । वर्णाधिकार व जन्मजात श्रेष्ठता का आग्रह बढ़ता गया । ऋषियों के बिचार में आनुवंशिक संस्कारों और व्यक्तिगत उपलब्धियों, दोनों का महत्व था । परन्तु कालक्रम से जन्म का ही महत्व रह गया, व्यक्तिगत गुणों का महत्व क्षीण हुआ । उच्च जातियों ने ऋषियों की सी उपलब्धियों का अरमान नहीं रक्खा, वरन्तु जन्मजात जातीय श्रेष्ठता और पूज्यता का दावा किया । श्री गोस्वामी जी को स्वयं विनय पत्रिका में यह लिखना पड़ा—

बरण धरम आश्रमनि के, पैये पोथिही पुरान ।
करतब बिनु वेश देखिये, ज्यों शरीर बिनु प्रान ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में चार वर्षों की कल्पना विराट् पुरुष के अंगों के रूप मे प्रस्तुत की गई थी परन्तु विकृति के कारण उनमें टकराव आया स्वधर्म की उपेक्षा के ही कारण यह सब हुआ, नही तो सच्चे ब्राह्मण की इज्जत कोई कोशिश करने पर भी मिटा नहीं सकता, न तपस्वियों से इर्ष्या करना ही सम्भव है। यही हाल शूरवीरों का है। क्षत्रिय का अर्थ है —घाव से बचाने वाला। रक्षक ही क्षत्रिय है, त्रासक या भक्षक वहीं। तुलाधार वैश्य व दासी पुत्र विदुर भी अपने धर्म पालन के कारण अत्यन्त सम्मानिय हुए।

भारतीय दर्शन के इतिहास में यह विडम्बना मिलती है कि एकदम अद्वैतवादियों ने जातीय भेदभाव का पक्ष लिया, जबकि कम या अधिक सीमा तक द्वैत को प्रश्रय देने वाले भक्ति के आचार्यों ने जातीय भेदभाव और विषमता के विरुद्ध कदम उठाए। आज भी जातीय कट्टरता के पक्षधर शंकराचार्य के अद्वैतवाद में निष्ठ आचार्य लोग हैं, जबकि वैष्णवाचार्यों की पीठों व गद्दियों में उतनी जातीय कट्टरता नहीं पाई जाती।

श्री गोस्वामी जी के प्रस्तुत दोहे पर विचार करते समय जातिवाद का सारा विवाद विचारणीय नहीं है। उसी संकेत को ग्रहण करना चाहिए जो गोस्वामी जी ने दिया हैं। इसे ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिए की नीच जाति का सच्चा हरि भक्त उच्च जाति के भगवद्विमुख व्यक्ति से भला (श्रेष्ठ) है।

ऋषियों का यह मत है कि भक्त अपने को भी पवित्र कर लेता है और कुल को भी पवित्र कर देता है—

कुल पवित्र जननी कृतार्या, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
यह तो राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जग पावन कीन्हा॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं ।।
जेहि लखि लखनहु ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ ।।

स्वपच सबर खस यवन जड़ पामर कोल किरात ।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात ।

गीध अधम खग आमिष भोगी । गति दीन्हीं जो जाँचत जोगी ।।

जातिहीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि ।
यन्नामधेयं श्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नुदर्शनात् ।।
अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृह्णन्ति ये ते ।।
(श्रीमद्भागवत ३.३३.६-७)

यहाँ भक्ति के प्रताप से कुत्ते का मांस खाने वाले चाण्डाल का भी यज्ञ का अधिकारी होना बताया गया है और श्वपच (मेहतर) का भी भक्ति के प्रताप से कृतकृत्य होना बताया गया है।

श्री प्रह्लाद ने नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए कहा–

मन्ये धनाभिजन रूप तपः श्रुतौज, तेजः प्रभाव बल पौरुष बुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ।
विप्राद्विषड् गुण युतादरविन्द नाभ पादारविन्द विमुखात्श्वपचं वरिष्ठं ।
मन्ये तदर्पित मनो वचने हितार्थं प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ।

धन, परिजन, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, बल, प्रभाव, पौरुष, बुद्धि योग इन बारह गुणों से युक्त, परन्तु भगवद्विमुख ब्राह्मण से मैं मन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वचन कर्म से भगवत्छरणागत श्वपच को श्रेष्ठ मानता हूँ, वह श्वपच अपने प्राणों की व अपने कुल को भी पवित्र कर देता है, परन्तु अति मानी ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता।

श्री नारद भक्तिसूत्र में भी भक्तों के विषय में कहा है कि—

नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादि भेदः।

इस प्रकार यह विचार कि जाति निम्नतम होने पर भी भक्ति श्रेष्ठता दायक होती है, शास्त्र सम्मत है, विशेषत: भक्ति शास्त्रों और आचार्यों को भली भाँति मान्य है।

श्रीमद्भागवत में कथा है कि भक्ति निष्ठ ऋषि पत्नियाँ यज्ञरत ऋषियों के द्वारा सम्मानित हुईं, केवल श्रीकृष्ण प्रेम के आधार पर, यद्यपि उनका उपनयन व गुरुकुलवास नहीं था।

जो सरोवर शबरी जी के द्वारा बहिष्कृत किए जाने से अपवित्र हो गया था, उनके स्नान करने पर ही पवित्र हुआ।

भक्ति के आचार्यों का यह मन्तव्य कभी नहीं रहा कि वे जातीय स्पर्धा, ईर्ष्या, संघर्ष या विद्वेष में पक्षधर हों, परन्तु उन्होंने उपर्युक्त प्रकार की बातें इसलिए लिख रक्खी हैं कि भवगान् अभिमान् का बैरी है, दैन्य-प्रिय है—

ईश्वरस्याप्यभिमान द्वेषित्वा द्दैन्य प्रियत्वाच्च। (ना०भ० सूत्र)

अत: जाति विद्या कुल आदि का अभिमान छूटे बिना सच्ची शरणागति नहीं हो सकती, न भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

सत्य वचन आधीनता, पर तिय मातु समान।
एतेहु पै हरि ना मिलैं, तो तुलसीदास जमान।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अर्थात् इतने पर भी भगवान् न मिलें तो श्री गोस्वामी जी ज़मानतदार हैं, भगवान् को हाजिर करेंगे, मिलाएँगे।

इस दोहे का तात्पर्य यही मानना चाहिए कि भक्ति की साधना में अपनी जाति की श्रेष्ठता का भाव नहीं रहना चाहिए; परन्तु जाति के आधार पर जिन भक्तों ने अपनी हीनता जानी, दैन्य धारण किया व शरणागति का भाव प्राप्त करने में सफल हुए। दैन्य धारण करना आवश्यक है।

राम ग़रीब नेवाज़ हैं, हौं लही न ग़रीबी।

परमार्थ पथ में देहाभिमान (देहाध्यास) का भी सन्यास करना होता है फिर देह किस जाति में उत्पन्न हुआ इस सम्बन्ध में अभिमान संजोए रहें तो वैराग्य या भक्ति की पूर्णता कैसे होगी ?

जाति मूलक अभिमान के निरसन हेतु शास्त्र का उपदेश है, उच्छृखल व्यवहार या जाति मूलक विद्वेष के बढ़ाने के लिए नहीं। शास्त्र के उपदेश के सच्चे भाव को समझने और बरतने से ही समाज में एकता हो सकती है, अन्यथा नहीं। निर्वैरः सर्वभूतेषु श्रीमद्भगवद्गीता ११.५५) तथा अद्वेष्टा सर्वभूतानां गीता १२.१३) परमावश्यक है, इसके बिना गति नहीं।

आजकल बहुत सा विघटन इसलिए हो रहा है कि केवल जन्म के आधार पर, सम्बन्धित गुणों के अभाव में भी सन्मान का दावा किया जाता है जो परमार्थ पथ में पूरा विघ्नकारी है। मान ज्ञान का वैरी है, भक्ति का वैरी है, वैराग्य का भी वैरी है।

मनु ने कहा था कि जो पूर्वा और पश्चिमा सन्ध्या नहीं करता वह सभी द्विज कर्मों से शूद्रवत् बहिष्कार किये जाने योग्य है, परन्तु ऐसे वचन आजकल प्रायः समाज के सामने लाए नहीं जाते।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्रेष्ठ वर्ण या जाति के उपयुक्त कुछ गुण भी शास्त्र में मान्यता पाए हुए हैं। इन गुणों की परवाह न करें फिर भी श्रेष्ठता का दावा करें तो यह ठीक न होगा। जो भक्ति शास्त्रों और आचार्यों का वास्तविक सन्देश है वह तो यही है कि उच्च वर्ण का व्यक्ति अपने वर्ण के गुणों से सम्पन्न होने पर भी भगवद्विमुख होने पर भगवच्छरणागत श्वपच से कनिष्ठ हैं, वह श्वपच वरिष्ठ है। अर्थ यह कि जातीय श्रेष्ठ गुण भी भगवत्प्राप्ति के लिए अनर्हं बना देते हैं यदि उनका अभिमान अन्तःकरण में प्रतिष्ठित हो। पुण्य करके अभिमान करने वाले की स्थिति से पाप करके ग्लानि करने वाले की स्थिति उत्तम है। भक्ति आचार्यों ने इस तत्व को भली भाँति उजागर किया है।

साधारण आधुनिक शब्दावली में गोस्वामी जी ने जाति या वर्ण की समानता का प्रतिपादन नहीं किया है। उसी श्वपच को श्रेष्ठ बताया है जो 'भजै रैन दिन राम।' ऐसा भक्त सन्त रैदास (रविदास) की तरह अत्यन्त सम्मानित हो सकता है परन्तु उसे न दूसरे के सन्मान से डाह होगी न अपने सन्मान की चाह। सच्चा सन्त प्रतिष्ठा का त्यागी होता है। 'सबहि मान प्रद आपु अमानी' 'निज गुण श्रवण सुनत सकुचाहीं' आदि। श्रीमद्भगवद्गीता का भी सन्देश है—

निर्मान मोहा जित संग दोषा अध्यात्म नित्या विनिवृत्त कामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख दुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्यय तत्॥ (१५ ५)

यदि किसी को प्रस्तुत दोहे से या ऐसे ही अन्य प्रमाणों से यह आभास हो कि श्री गोस्वामी जी श्रुति प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म को नहीं मानते, उसे मिटाना चाहते हैं, तो यह गलत होगा। श्री रामचरित मानस में यह कलियुगी लक्षण बताया गया है कि —

वर्ण धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तथा—शूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना । मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ।।

अथवा— बैठि वरासन कहहिं पुराना ।—एवं

वादहिं शूद्र जिन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आंखि देखावहिं डाटि ।।

इस प्रकार श्री गोस्वामी जी वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध बागी नहीं हैं, परन्तु जाति वर्ण आदि का अभिमान भक्ति और वैराग्य में बाधक है इसलिए इस तत्व पर बल दिया कि भगवान् को नीच जाति का भक्त प्रिय है और वह वर्णाभिमानी से श्रेष्ठ है। श्री गोस्वामी जी मर्यादा-निधान हैं अतः उन्होंने शास्त्रों और सन्तों की भी मर्यादा रक्खी, और भक्ति पथ की भी मर्यादा बताई।

कवि कुल शिरोमणि, मर्यादानिधान श्री गोस्वामी जी ने उसी श्वपच को भला कहा है जो दिन रात भजन करता है, उच्च वर्णाभिमानी भगवन्नाम विमुख को केवल यह कहा कि उसका कुल किस काम का? और कोई निन्दा नहीं की। इसमें ध्वनि यह है कि उच्च कुल वाला यदि भगवद्विमुख है तो उसका वर्ण जाति, या कुल उसे भगवान् की प्राप्ति में कुछ भी सहायता न कर सकेगा इसलिए किस काम का, यानी बेकार है।

भक्त्या तुतोष भगवान् गज यूथाय । (श्रीमद्भागवत ७.९.९)
भक्ति के कारण भगवान् गज पर भी प्रसन्न हो गए।
भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ।।
बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे ।
कृपा कोप सतिभाय हू तिरछेहू राम तिहारेही हेरे । [वि०प०]

विनय शीलता दीनता, निरभिमानता भाव ।
दृढ़ करिबे के हेतु है, सन्त जनन को चाव ।।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अति ऊँचे भूधरनि पर, भुजगन के अस्थान ।
तुलसी अति नीचे सुबद, ऊख अन्न अरु पान ॥३९॥

अत्यन्त ऊँचे पर्वतों पर सर्पों के बिल [भी] होते हैं, अति नीचे स्थानों में पैदा होने वाले गन्ना, अनाज और पान सुखदाई होते हैं ।

दोहा संख्या ३८ के ही भाव चातुर्य और मर्यादापूर्वक दृढ़ करने के लिए प्रस्तुत दोहे [संख्या ३९] में उपमा देकर समझाते हैं। उत्तम वर्ण वाला व्यक्ति प्रायः अपने को अति उच्च मानता है। उसकी ऊँचाई का निषेध किए बिना श्री गोस्वामी जी यह बात प्रस्तुत करते हैं कि ऊँचाई हर एक प्रकार से शुभ नहीं होती । वह भयावह भी हो सकती है ।

ऊँचे पर्वत शिविरों पर चढ़ने का प्रयास करने वाले पर्वतारोही दलों को गिर कर मर जाने की आशका बराबर बनी रहती है। महाभारत में कहा है—

क्षयान्ताः सञ्चयाः सर्वे, पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगाः विप्रयोगान्ताः मरणान्तं हि जीवनम् ।।

सभी सञ्चयों का अन्तक्षय है, प्रत्येक उत्थान का अन्त पतन है, संयोग का अन्त वियोग है, जीवन का अन्त मरण है। जाति आदि पर आधारित उच्चता के अभिमान का भी परिणाम पतन है। यदि जाति से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सम्बन्धित सद्गुण सचमुच विकसित हों और तत्सम्बन्धी अभिमान बिल्कुल न हो, उन गुणों का भगवत् समर्पण भाव से समाज के हित में उपयोग हो तो सन्मान सहज ही सधेगा और कल्याण साधन भी बनेगा। प्रत्येक प्रकार की श्रेष्ठता अभिमान से युक्त होने पर भव-बन्धन को दृढ़ करती है, भगवदीय कृपा से प्राप्त गुण के रूप में समर्पण भावना से सेवार्थ प्रयुक्त होने पर ही कल्याणकारी और मोक्षदायक हो सकती है। भगवद्विमुख के लिए श्रेष्ठता मोक्ष की साधिका नहीं है।

राम विमुख सम्पति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई।

वह निष्फल है, व्यर्थ है।

प्रथम पंक्ति में अत्यन्त ऊँचे पर्वत शिखरों पर विषधरों के बिल बता कर संकेत किया कि जिस प्रकार सर्पों को ऊँचे पर्वतों पर अच्छा आश्रय और निवास स्थान मिलता है, फिर वहाँ से दूर दूर तक जाकर आहार की प्राप्त कर सकते हैं और प्राणियों को डस भी सकते हैं, उसी तरह सर्पों के समान विषैले प्रभाव वाले मनोविकारों को भी श्रेष्ठता के अभिमानी जनों के अन्तःकरण में सुरक्षित व निरापद आवास स्थान मिलता है। वहाँ इन विकारों को विकास व प्रसार का अवसर भी मिलता है।

पूर्व दोहे के सन्दर्भ से हम ऊँचाई को कुल, जाति, वर्ण से सम्बन्धित कर सकते हैं, परन्तु अर्थ को वहीं तक सीमित करना आवश्यक नहीं। अपने में विद्या, रूप, कुल, धन, कला, उद्यम आदि किसी तरह की श्रेष्ठता का अभिमान हो वह पतनकारी है।

संसृति मूल शूल प्रद नाना। सकल शोक दायक अभिमाना॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभिमान सद्गुणों के उपार्जन का बाधक है, अवगुणों का प्रश्रयदाता है, देहाध्यास को दृढ़ करता है, धर्म व्यतिक्रम का दुस्साहस पैदा करता है और सेवाभाव के विपरीत सन्मान आग्रह पैदा करता है। अभिमान अविवेक का जनक है, वह अपने दोषों और परिपाक हो रहे अनर्थों का दर्शन नहीं होने देता, और माया के जाल के फैलने में सहायक होता है। इसी से सन्तों ने मान त्याग का उपदेश दिया है, अभिमान निरसन का उपदेश दिया है।

यद्यपि प्रस्तुत दोहे में केवल ऊँचाई की बात है, अभिमान का उल्लेख नहीं है, परन्तु यह स्मरणीय है कि जिस श्रेष्ठता को हेय कहा है वह भगवदर्पित और सेवा भाव से ओत प्रोत निरभिमान श्रेष्ठता नहीं है, अभिमान ग्रस्त श्रेष्ठता ही है। वही भुजंगों का स्थान बन सकती है, सात्विक श्रेष्ठता तो योगियों, तपस्वियों का आश्रय स्थान बनेगी, उससे अन्तःकरण में मलिन भाव व्याप्त न होंगे, निर्मल भाव व्याप्त होंगे। वह श्रेष्ठता कल्याण साधिनी होगी, विनाशिनी नहीं होगी।

प्रथम पंक्ति कह कर सचेत किया गया कि श्रेष्ठता का दुरुपयोग सम्भव हैं और उससे अनर्थ परिपाक हो सकता है। विपरीतत निम्नता भी हितकारिणी, कल्याण दायिनी हो सकती है। श्री गोस्वामी जी बताते हैं कि ऊख (गन्ना) अन्न और पान की खेती मैदानी भागों में होती है, ऊँचे पहाड़ों पर नहीं, और यह वस्तुएं सर्व-साधारण जन के लिए उपयोगी और आवश्यक हैं। मिठाई (माधुर्य) के लिए ऊख और दैनिक आहार के लिए अन्न सर्व-साधारण के लिए आवश्यक हैं। ऊँचे पर्वतों पर तप करने वाले सन्तों को इन वस्तुओं का अभाव रहता है, इसलिए भी कभी कभी उन्हें प्रायः इनके बिना गुजर करना पड़ता है, परन्तु सर्व-साधारण जन वैसा रहन सहन नहीं बना सकते। उनके लिए ऊख, अन्न और पान आवश्यक हैं और रहेंगे। अतः अर्थ व्यवस्था के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जन साधारण की गुजर बसर के लिए नीचे स्थलों मैदानों का उपयोग है, केवल ऊँचे स्थलों से काम नहीं चल सकता।

यह गोस्वामी जी का चातुर्य है और मर्यादावाद है कि निम्नता का गुण पक्ष सामने रख दिया, किसी तरह की निम्नता हो वह सर्वांश में हेय नहीं है। यदि वह निरभिमानता की पोषक है, आत्मग्लानि की सहायक है, दैन्यवर्धक है, अभिमान त्याग को सरल बनाती है, शरणागति के मार्ग को प्रशस्त करती है, तो परमार्थ पथ की साधिका है।

श्री रामचरित मानस में श्री गोस्वामी जी ने गर्वोक्ति नहीं की जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ जी ने रस गंगाधर में की थी या बीसवीं शती ईसवी में बर्नार्ड शॉ किया करते थे। उल्टे सन्तोचित भाव से लिखा कि—

कथित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।।

तो क्या इस दैन्य भाव से भगवच्चरित्र लिखने में कोई कमी आई या बाधा पड़ी? नहीं। वे कहते हैं—

आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुवारि न खोरी।।

गर्वोक्ति के स्थान पर दैन्योक्ति निरूपण या उपदेश को सुपच्य और ग्राह्य बनाती है। यदि ऊँचेपन का अभिमान रहा तो दूसरों के सामने उल्टा उदाहरण प्रस्तुत हो जाता है और दूसरों को प्रायः सत्पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा के स्थान पर चुनौती स्वीकार करने को उत्तेजना मिलती है। सन्त लोग दैन्य युक्त भाव, वाणी और व्यवहार रखते हैं, जिससे लोगों को बहुत सी हितकर बातें उनसे प्राप्त होती हैं, समझ में आती हैं, और आचरण की प्रेरणा मिलती है। श्री गोस्वामी जी का अति उत्तम संकेत है कि साधारण साधकों का जो सम्बल है वह श्रेष्ठता-भिमानी उपदेशकों, प्रचारकों और पण्डितों से नहीं मिलता। वे लोग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपने व दूसरे अन्त:करणों में विकारों को बढ़ाने में ही सक्षम होते हैं, जबकि सन्त जन निरभिमान रहकर विकारहीन दशा प्राप्त करते हैं और प्राप्त कराते हैं।

ऊँचे पर्वतों पर विषधर निवास कर सकते हैं, उसी तरह आभासमान् श्रेष्ठता के अत्यन्त अनिष्ट परिणाम हो सकते हैं, जब कि दैन्य भाव की भूमिका के परिणाम समाज के लिए अनेक रूपों में इष्ट सिद्ध हो सकते हैं, वे समाज के लिए आहाररूप, माधुर्यरूप अथवा शृंगार रूप भी हो सकते हैं। जो कार्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं वे अन्नाहार रूप हैं, जो समाज को सुखी करने वाले हैं वे माधुर्य (ऊख) रूप हैं और जो अन्य प्रकार से हितकर व शोभनीय हैं वे पान की तरह शृंगार रूप हैं। इन सभी प्रकार की सेवाओं के लिए दैन्य सहायक है, निज श्रेष्ठता का अभिमान बाधक है।

अभिमानी व्यक्ति दूसरे को पराजित, प्रताड़ित, अपमानित करना चाहता है, विशुद्ध करुणा व मैत्री की सतोगुणी वृत्ति निरभिमान सन्त में ही होती है। सतोगुणी व्यक्ति में ही भक्ति का विकास होता है, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रेष्ठता एक शक्ति है। प्राय: प्रत्येक प्रकार की शक्ति का सदुपयोग और दुरुपयोग सम्भव है। श्री भर्तृहरि ने कहा है–

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्ति परेषाम् परिपीडनाय।
खलस्य साधो विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।। (नीतिशतक)

दुष्ट की विद्या विवाद के लिए होती है, धन घमण्ड के लिए, शक्ति दूसरों का सताने के लिए, साधुओं के पास विपरीतत: विद्या ज्ञान के लिए होती है, धन दान के लिए और शक्ति रक्षा करने के लिए होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री वैराग्य संदीपनी वैराग्य को प्रदीप्त करने के लिए है। वैराग्य में केवल वाह्य विषयों का त्याग ही नहीं है। जनकादि वाह्य विषयों से घिरे होने पर भी, वैभव भोगते हुए भी, पूर्ण विरागी माने गए, जबकि बेरोज़गार, गरीब, कंगाल या भिखारी होने से ही किसी को वैराग्य नहीं होता। महर्षि पतञ्जलि विषय वितृष्णा को वश में करने को वैराग्य मानते हैं। श्री रामचरित मानस में कहा है—

कहिय तात सो परम विरागी। तृण सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥

परम विरागी केवल साधारण विषयों से ही निस्पृह नहीं होता वह सम्पूर्ण सिद्धियों को भी और माया के तीनों गुणों (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) को भी तिनके समान क्षुद्र और महत्वहीन जानता है, उनसे भी निस्पृह रहता है। श्री हनुमान् जी की स्तुति में कहा गया—ब्रह्म-लोकादि वैभव विरागी। (विनय पत्रिका)

जब ब्रह्म लोकादि तथा सभी सिद्धियों से परम वैराग्यवान् निस्पृह रहता है तो फिर जाति, कुल, वर्ण, विद्या, कला आदि में स्पृहा, आसक्ति या अभिमान रखना प्रशस्त कैसे हो सकता है? यह तो वैराग्य का उल्टा और परमार्थ पथ का घातक ही होगा।

प्रस्तुत दोहे से हमें यह सीखना चाहिए कि हम किसी भी सन्त, भगवच्छरणागत भक्त या साधु को केवल वाह्य कारणों से या जाति आदि के आधार पर कनिष्ठ या उपेक्षणीय न समझें, अपमानित न करें। भगवान् का सच्चा प्रेम जहाँ भी दिखाई पड़े हमें उसका आदर करना चाहिए। भगवान् स्वयं भक्त का आदर करते हैं, उसे अपनाते हैं, जाति आदि का परहेज नहीं करते। श्री शबरी जी से भगवान् ने कहा—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भगति हीन नर सोहै कैसा । बिनु जन वारिद देखिय जैसा ।।

सन्तों के जीवन में अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें उन्होंने ऐसे व्यक्तियों को सन्मान, सत्कार व प्रेम दिया जिनमें भक्ति थी यद्यपि उनकी सामाजिक स्थिति नीची थी।

श्रेष्ठ वर्ण या जाति के उत्तम गुणों का धारण करना तो अच्छा हैं परन्तु चतुर साधकों को अति सावधान रहना चाहिए कि जाने या बेजाने किसी का अपमान न हो जाय। सन्त प्राय: गुप्त रहना चाहते हैं, मान के त्यागी होते हैं, अपनी श्रेष्ठता को प्रगट नहीं करते अत: सन्त को पहचानने और उनका आदर करने में सावधानी अपेक्षित है।

कियेहु कुवेश साधु सनमानू । जिमि जग जाम्बवन्त हनुमानू ।।

जो व्यक्ति किसी सन्त का शरीर सम्बन्धी या सामाजिक स्थिति सम्बन्धी कारणों से तिरस्कार करता है, वह पाप का भागी होता है। साथ ही यह प्रमाणित हो जाता है कि वह सच्चा मुमुक्षु नहीं हैं, क्योंकि वह लौकिक बातों को महत्व देता है, मोक्षदायक गुणों का तिरस्कार करता है। वह इसलिए भगवद्भक्ति, सच्ची शरणागति, ज्ञान, वैराग्य या मुक्ति का अपात्र ठहरता है। इसीसे सावधान करने के लिए पूज्य गोस्वामी जी ने यह सन्देश दिया है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अति अनन्य जो हरि को दासा ।
रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा ।।
तुलसी तेहि समान नहि कोई ।
हम नीके देखा सब लोई ।।४०।।

जो भगवान् का अत्यन्त अनन्य भक्त है, वह दिन रात श्वास-श्वास पर नाम रटता रहता है। श्री तुलसीदास जी कहते है कि हमने सब लोगों को भली भाँति देख (परख) लिया, उसके समान (श्रेष्ठ) कोई नहीं।

यहाँ श्री गोस्वामी जी ने अनन्य शरणागत, भगवान् के दास, को श्रेष्ठता बताई है। जो अति अनन्य दास है वह अहर्निश भगवन्नाम रटता है, श्री गोस्वामी जी की दृष्टि में वह सर्व श्रेष्ठ है, उसके समान और कोई नहीं है, ऐसा मत गोस्वामी जी ने भली भाँति सोच विचार कर के खोजबीन, अनुसंधान करके स्थिर किया है।

भगवान् की भक्ति की अति उच्च भूमिकाएँ हैं, उनमें बिरले बिरले ही प्रतिष्ठित होते हैं। साधारण मनुष्य तो उन उच्च दशाओं की कल्पना करने में भी असमर्थ रहते हैं। अनन्य भक्तों की दशा दिव्य रहती है, लौकिक व्यवहार मात्र देखने से, उस दिव्य दशा की कल्पना भी सम्भव नहीं। अतः प्रस्तुत वचन की बात समझने के लिए भी साधारण संस्कार वाले जीव सक्षम नहीं। भगवान् की सच्ची दासता, केवल कथन मात्र नहीं, तभी हो सकती है जब जगत् के विषयों से उपरामता हो। इसके पहले की हुई भक्ति की साधना इस उपरामता का कारण बन सकती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अत्यन्त मोहग्रस्त व आसक्त पुरुष को आसक्ति के स्थान में महान सुख प्रतीत होता है। यह प्रतीतिमान् सुख एक सीमा तक जीवन के साधारण अनुभवों से ही कम हो जाता है। फिर जगत् में सुखाभास से अधिक दुःखाभास होने लगता है। कटु अनुभवों से आसक्ति में झटके लगते हैं। तथापि इस क्रम से यह सुखाभास नष्ट नहीं होता। जगत् के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने से यह सुखाभास नष्ट हो जाता है। इसीलिए साधना के सोपान हैं। राम भक्त चार प्रकार के माने गए हैं—सुकृती चारिउ अनघ उदारा। (रा०च०मा० बालकाण्ड)। चहुँ चतुरन कहँ नाम अधारा। (बाल काण्ड)।

जाना चाहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।। (जिज्ञासु)

साधक नाम जपहिं लव लाए। होहिं सिद्ध अणिमादिक पाए।।
(अर्थार्थी)

जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होंहि सुखारी।। (आर्त)

नाम जीह जपि जागहिं योगी। विरति विरंचि प्रपंच वियोगी।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।। (ज्ञानी)

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवन्नाम के सप्रेम अवलम्बन से साधक की भूमिका उच्चतर होती ही चली जाती है और वह परमोच्च दशा तक पहुँच जाता है। आस्तिक धर्मों में भगवन्नाम की अत्यन्त प्रतिष्ठा है, जैसे इस्लाम व ईसाई धर्मों में। परन्तु अन्य धर्मों को भी मन्त्र और जप का आश्रय लेना पड़ता है। श्री दोहावली जी में घोषित किया गया है कि—

राम नाम अवलम्बन बिनु, परमारथ की आस।
बरसत वारिद बूंद गहि, चाहत चढ़त अकास।।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं। कलौ कास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव
गतिरन्यथा।। (व्यास)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चार प्रकार के भक्तों की भूमिकाओं को पारमार्थिक अर्थ में भी लिया गया है। भगवन्नाम के सेवन से संसार की भयानकता का बोध हो जाने पर उससे छूटने की तड़प आर्ति है, पारमार्थिक तत्व के ज्ञान की इच्छा जिज्ञासा है, भगवत्प्राप्ति का अपना प्रयोजन बन जाने पर इस अर्थ की प्राप्ति की साधना अर्थार्थी भक्ति है, ज्ञान प्राप्त हो जाने पर की जाने वाली परा भक्ति ज्ञानी की है, वह भक्त भगवान् से एक है, भगवान् को विशेष प्रिय हैं।

जब तक तृष्णा है, जगत् की दासता रहती है, भगवान् की सच्ची दासता प्राप्त नहीं होती।

तौ लौं जोगी जगत गुरु, जौ लौं रहे उदास।
जौ मन में आसा भई, जग गुरु जोगी दास॥

जगत् की दासता और हरिदासता साथ साथ नहीं चल सकती।

जे लोलुप भए दास आस के ते सेवक सब केरे।
प्रभु विश्वास आस जीती जिन ते सेवक हरि केरे॥ (विनय पत्रिका)

दासता की कसौटी और शोभा अनन्यता है। अनन्य दास वह है जो भगवान् का दास है किसी और का दास बिल्कुल नहीं है। 'ला इलाह इल् अल्लाह' भवबान् के सिवा कोई पूज्य नहीं है) कुरान् (सूरे फातिहा) बाइबिल में भी अनन्यता का सिद्धान्त मान्य किया गया है—'कोई भी दो मालिकों की सेवा नहीं कर सकता' [मैथिड ६.२४] ईसा से जब पूछा गया कि धर्म का सबसे बड़ा और पहला आदेश क्या है तो उन्होंने कहा—भगवान् को पूरी तरह मन वचन कर्म से प्यार करना। [मार्क १२.३०] दूसरे नम्बर पर कहा कि पड़ोसी को आत्मवत् प्यार करना। [मार्क १२.३१] अन्य सब आदेश इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। श्री रामचन्द्र जी ने किष्किन्धा काण्ड मे बताया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सो अनन्य जाके अस, मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ।।

अनन्य भक्ति का साधारण अर्थ यही लिया जाता है कि एक मात्र इष्टदेव की ही उपासना, अन्य किसी देवता की नहीं। परन्तु जहाँ सब अपने इष्टदेव का ही स्वरूप दिखाई देते हैं, वहाँ 'अन्य' का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। अन्य की उपासना की सम्भावना ही नहीं रहती। जिसे बहुत रूप दिखाई देते हैं, परन्तु एक इष्ट की ही उपासना करता है, अन्य की नहीं, वह अनन्य कहा जाता है, परन्तु जिसे किसी अन्य का दर्शन ही नहीं होता, वह इष्ट व अनिष्ट रूपों का भेद कैसे करेगा ? उसके लिए सब इष्टदेव स्वरूप ही हैं, वह अति अनन्य है।

अति अनन्य भक्त पूर्णत: शरणागत होता है। शरणागति के ६ लक्षण नारद पाञ्चरात्र में बताए गए हैं—

आनुकलस्य संकल्पं प्रातिकूलस्य वर्जनं ।
रक्षिष्यतीति विश्वास: भर्तृत्वे वरणं तथा ।।
आत्म निक्षेप कार्पण्यं षड्विधा शरणागति: ।

१. इष्ट के अनुकूल ही संकल्प करना, २. प्रतिकूल संकल्प न करना, ३. इष्टदेव ही हमारी रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास रखना, ४. भरण पोषण के लिए एकमात्र इष्टदेव का भी भरोसा करना, ५. आत्म समर्पण, ६. दीनता का भाव।

इस प्रकार अनन्य शरणागत भक्त, सबको इष्टदेव रूप देखता हुआ [वासुदेव: सर्वम् गीता ७.१९] सबका सेवक होकर रहता है, वह अति अनन्य दास है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सबको भगवद्रूप देखने का यह अर्थ नहीं होगा कि ऐसा भक्त हर एक की हर बात मान जायगा, क्योंकि यह असम्भव है। यह सब बातें परस्पर विरोधी हो सकती हैं। इन सबका मान लेना असम्भव हैं। भगवान् विभिन्न रूपों में प्रकट होकर लीला कर रहे हैं, परन्तु इस सब में उनके दास की क्या भूमिका हो यह भगवान् ने शास्त्र में स्पष्ट कर रक्खा है, सन्तों के द्वारा उपदिष्ट है। दास उसी मर्यादा में चलता है, लीला की किसी बात का सहारा लेकर वह उस मर्यादा से विचलित नहीं होता। अनन्य हरिदास पिता पुत्र को भगवद्रूप देखते हुए भी उसका प्रणाम स्वीकार करेगा, स्वयं उसके पैर नहीं छुएगा। यदि सर्वत्र भगवद्दर्शन की यह दशा प्राप्त न हो लेकिन कोई इसका दम्भ करे तो वह जिस किसी की बात अपनी वासना के अनुकूल हुई, उसकी बात मान लेगा और उसी को भगवान् का आदेश बताएगा। पर इससे वह पतन से नहीं बच सकता। सच्चा सर्वत्र भगवद्दर्शी, समदर्शी, मर्यादित, वैराग्यवान् होता है। उसकी वासना समाप्त हो चुकी होती है। उसे दम्भ से कोई प्रयोजन नहीं, किसी वासनापूर्ति का बहाना ढूंढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्द सन्दोह। (उत्तर काण्ड)

जैसा कि पूर्व प्रसंग (छन्द सं० १४) में कह आए हैं—'अति अनन्य गति इन्द्री जीता।' अनन्य भक्त इन्द्रियजित् होता है।

सकल वासना हीन ने, राम भगति रस लीन।
नाम सप्रेम पियूष ह्रद, तिनहु किये मन मीन॥

यह आश्चर्य करना व्यर्थ है कि वासना हीन व्यक्ति भगवन्नाम प्रेमी क्यों होगा? उसका प्रयोजन ही क्या है? विपरीतत: यह समझना चाहिए कि भगवन्नाम का वास्तविक प्रेम ऐसे वासनाहीन व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। इससे पहले की साधना इस दशा की तैयारी मात्र है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साधारण विषयी जीव की दृष्टि में लौकिक लाभ ही भक्ति का प्रयोजन है, परन्तु श्री रूप गोंस्वामी जी ने 'हरि भक्ति रसामृत सिन्धु' में कहा है कि 'भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते' (जब तक भोग या मोक्ष इच्छा की रूपी चुड़ैल हृदय में विराजमान है) तब तक हरि भक्ति का अभ्युदय कैसे होगा ? इस प्रकार भोग ही नहीं मोक्ष की भी स्पृहा छूटने पर ही प्रेमा (परा) भक्ति का उदय होता है। 'चहौं न सुमति सुगति सम्पति कछु, रिधि सिधि विपुल बड़ाई। (वि०प०) परा भक्ति में प्रतिष्ठित होने, भगवान् की दिव्य लीला में प्रवेश पाने की जो दशा है, उसके वर्णन को पढ़कर अज्ञानी जीव को उसमें भी लौकिक आसक्ति का सा आभास मिलता है, परन्तु कोई भी आसक्ति उस लीला के लिए अपात्र बना देती है। सम्पूर्ण आसक्ति व मोह के लुप्त होने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है, उस आसक्ति विरोधिनी दशा को आसक्ति रूप समझना ही महामोह है।

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी॥
जेहि लागि विरागी अति अनुरागी, विगत मोह मुनि वृन्दा।

अतः अति अनन्य दास के लिए किसी लौकिक प्रयोजन की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए ऐसी भक्ति को 'अहैतुकी' माना गया है। कुर्वन्त्य-हैतुकीं भक्तिं इत्थम् भूत गुणो हरिः। (श्रीमद्भागवत १.७.१०)

इस चौपाई में श्री गोस्वामी जी ने ऐसी ही उच्चतम सोपान की भक्ति का चित्रण किया है।

जब तक हम भगवान् की भक्ति करके कुछ पाना चाहते हैं प्राप्तव्य वस्तु हमारी दृष्टि में भगवान् से भी श्रेष्ठ व अधिक प्रिय है, अनन्य भक्ति की ऐसी भूमिका नहीं हो सकती। अर्थ और काम की वासना क्षीण होने पर धर्म (पुण्य) की वासना तीव्र होती है। इसका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है—मा ते संगोस्त्वकर्मणि (गीता २.४७) [तेरा अकर्म में भी संग न हो] । भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कर्म संन्यास से कर्म योग को श्रेष्ठ कहा है। [गीता ५.२] जब दूसरे धर्म वाले भारतीय दर्शन को निरा पलायनवादी या परलोकवादी बताते हैं तो [यद्यपि वह आलोचना अन्य महान् धर्मों पर भी घटित हो सकती है] प्रायः भारतीय मनीषियों को उपर्युक्त प्रकार के गीतोक्त या उपनिषदुक्त वचनों का ही सहारा लेना होता है। अतः एकदम निवृत्ति परायण स्थिति को परमोच्च घोषित करना उन्हें पसन्द नहीं आता। शास्त्रानुकूल सम्यक् विचार करने से प्रतीतिमान् विरोधाभास का परिहार हो जाता है।

एक तो यह स्मरणीय है कि श्री गीता जी में भी जिस कर्मयोग का प्रतिपादन है वह 'संकल्प रहित' स्थिति है। 'सर्व संकल्प सन्यासी योगारुढ़स्तदेच्यते।' [गीता ६.४] सन्यास और कर्मयोग की एकता बताते हुए कहा है कि—न ह्यसन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन। [गीता ६.२] अतः भले ही समझ में आने में कठिनाई हो, परन्तु गीतोक्त कर्मयोग पर निवृत्ति परायण स्थिति की मुख्य शर्त, संकल्प रहित दशा, लागू होती है। इसी प्रकार यह महत्वपूर्ण घोषणा है कि—

ज्ञेयः स नित्य सन्यासी यो न द्वेष्टि न काँक्षति। [गीता ५.३]

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः। [गीता ६.१]

जो कर्मफल का आश्रय न लेकर, उचित कर्मों को ही करता है, वही सन्यासी व योगी भी है, अग्नि का त्यागी या कर्म का त्यागी [वेश से सन्यासी] नहीं। इस प्रकार श्री गीता जी को भी वह विरोधाभास मान्य नही है जो बहुत से विचारकों को प्रतीतिमान् है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्ति और समाज के लिए उपयोग होता है परन्तु वह वासना भी मोक्ष की बाधक ही ठहरती है—

अलं अर्थेन कामेन, सुकृतेनापि कर्मणा ।
एभ्यः संसार कान्तारे, न विश्रांतमभून्मनः ।। (अष्टावक्र गीता १०.७)

अर्थ, काम और पुण्य की वासनाएं छोड़ो । इनके द्वारा इस संसार रूपी वन में भटकता हुआ मन कभी शान्त नहीं होता । यतः पुण्य कर्मानुष्ठान से ही निम्नतर सोपानों से उत्थान होता है, तत्सम्बन्धी संस्कार के दृढ़ हो जाने पर उस आसक्ति का उत्सर्ग विषयासक्ति के त्याग से भी कठिनतर हो जाता है, परन्तु अनन्य भक्त वैसा उत्सर्ग करता ही है । श्री गीतावली जी में श्री राम वन गमन के प्रसंग में श्री कौशिल्या जी की महाराज दशरथ के प्रति टिप्पणी है—हरि तजि धरम शील भयो चाहत, नृपति नारि बस सरबस हारे ।।

श्री भरत जी का वाक्य है—

राउर बदि भल भव दुख दाहू । प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू ।।

सूफ़ी (मुस्लिम) सन्तों की साधना में भी 'तर्क दुनियाँ' (लोक का त्याग) के बाद 'तर्क डकबा' (परलोक का त्याग) आता है । विनय पत्रिका में श्री हनुमन्त लाल जी की स्तुति में उन्हें ब्रह्म लोकादि वैभव विरागी कहा है ।

आजकल बहुत से विद्वानों, विचारकों, मनीषियों, प्रचारकों की यह आलोचना रहती है कि ऐसी निवृत्ति परायण विचारधारा जनोपकार की बाधक है । कर्मयोग निष्ठ पक्ष की यह शिकायत है कि यदि सभी विरक्त जन कर्म-संयासी होने लगेंगे तो समाज के व्यवहार में शुद्धि कभी आ न सकेगी । उनके विचार से इसीलिए श्रीकृष्ण की चेतावनी आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है–मा ते संगोस्त्वकर्मणि (गीता २.४७) [तेरा अकर्म में भी संग न हो] । भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कर्म संन्यास से कर्म योग को श्रेष्ठ कहा है। [गीता ५.२] जब दूसरे धर्म वाले भारतीय दर्शन को निरा पलायनवादी या परलोकवादी बताते हैं तो [यद्यपि वह आलोचना अन्य महान् धर्मों पर भी घटित हो सकती है] प्रायः भारतीय मनीषियों को उपर्युक्त प्रकार के गीतोक्त या उपनिषदुक्त वचनों का ही सहारा लेना होता है। अतः एकदम निवृत्ति परायण स्थिति को परमोच्च घोषित करना उन्हें पसन्द नहीं आता। शास्त्रानुकूल सम्यक् विचार करने से प्रतीतिमान् विरोधाभास का परिहार हो जाता है।

एक तो यह स्मरणीय है कि श्री गीता जी में भी जिस कर्मयोग का प्रतिपादन है वह 'संकल्प रहित' स्थिति है। 'सर्व संकल्प संन्यासी योगारुढ़स्तदेच्यते।' [गीता ६.४] सन्यास और कर्मयोग की एकता बताते हुए कहा है कि––न ह्यसन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन। [गीता ६.२] अतः भले ही समझ में आने में कठिनाई हो, परन्तु गीतोक्त कर्मयोग पर निवृत्ति परायण स्थिति की मुख्य शर्त, संकल्प रहित दशा, लागू होती है। इसी प्रकार यह महत्वपूर्ण घोषणा है कि—

ज्ञेयः स नित्य सन्यासी यो न द्वेष्टि न काँक्षति। [गीता ५.३]

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः। [गीता ६.१]

जो कर्मफल का आश्रय न लेकर, उचित कर्मों को ही करता है, वही सन्यासी व योगी भी है, अग्नि का त्यागी या कर्म का त्यागी [वेश से सन्यासी] नहीं। इस प्रकार श्री गीता जी को भी वह विरोधाभास मान्य नही है जो बहुत से विचारकों को प्रतीतिमान् है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिज्ञासु के लिए असली पहेली यह है कि संकल्प रहित व्यक्ति कर्म कैसे करेगा ? परन्तु इसकी उल्टी समस्या यह है कि कैसा भी कर्म-सन्यासी हो जीवित रहते उसका कर्म कैसे रुकेगा ? 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' [गीता ३.५] एक क्षण भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता। जब डाक्टर परीक्षा करता है कि रोगी जीवित है या नही, तो वह यह देखता है कि देह में कोई कर्म हो रहा है या नहीं, नाड़ी चलती है या नहीं, दिल धड़कता है या नहीं, साँस चलती है या नहीं। यदि सब कर्म बन्द हैं तो डाक्टर उसकी मृत्यु घोषित कर देता है। यह तो सभी जानते हैं कि श्वास-प्रश्वासादि स्वयं चालित कर्म चलते ही रहेंगे पर विवाद जान बूझकर किये जाने वाले कर्मों के विषय में है। सहज क्रियाओं में पुण्य पाप का प्रश्न नहीं आता। जान बूझकर किये जाने वाले कर्मों में स्वार्थ, परार्थ, पाप, पुण्य, परअपकार परोपकार के प्रश्न उठते हैं।

भोजन, स्नान, चलना, फिरना, लेटना, सोना यह सहज क्रियाएँ नहीं हैं, इन्हें समय बाँध कर, कार्यक्रम बनाकर किया जाता है तो क्या कर्म सन्यासी के यह सब काम बन्द हो जाते हैं ? बन्द नहीं होते, चलते रहते हैं। सन्यासी को भी भिक्षा करने की अनुमति हैं क्योंकि देह धारणार्थ वह आवश्यक है। रोग होने पर चिकित्सा भी देह धारणार्थ आवश्यक हो सकती है। चिकित्सा से सम्बन्धित सभी कर्म सँभाल कर करने ही होंगे। अत: आवश्यक कर्म सहज क्रिया तक सीमित नहीं हैं। उनका बहुत विस्तार है। कर्म सन्यासियों को भी देह धारणार्थ कर्म करना ही होता हैं। श्री गीता जी में भी कहा है—शरीर यात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मण: (३.८) बिना कर्म के जीवन यापन भी न हो सकेगा। जीवन धारण की आवश्यकता निवृत्ति वालों के लिए भी मान्य की गई क्योंकि जीवन धारण करके ही साधन किया जा सकता है—तनु बिनु वेद भजन नहिं वरणा (उत्तर काण्ड)। इससे यह स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुआ कि कर्म सन्यासी न केवल जीवन धारणार्थ कर्म करेगा, वह साधन के कर्मों को भी करेगा, जैसा कि (उदाहरणतः) श्री आदि शंकराचार्य ने साधन पंचक में बताया है, अथवा जो साधन चतुष्ट्य (विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति, मुमुक्षत्व) के अन्तर्गत आता है। साधन पर विचार करने से पहले साधकों को कर्म शोधन की आवश्यकता लक्षित होती है। नित्य, नैमित्तिक, नियत कर्मों का अनुष्ठान, पुण्य कर्म सम्पादन, वर्जित अनिष्टकारी, पापयुक्त, समाज के लिए अहितकारी कर्मों का त्याग। इस भूमिका में पुण्य कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है ही। जगत् की आसक्ति कम होने पर भक्ति की साधना का अधिकार होता है, भक्ति से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, ज्यों ज्यों भगवान् की भक्ति बढ़ती है, विषयासक्ति क्षीण होती है—'भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः' विवेक चूड़ामणि प्रेम भगति जल बिनु खगराई। अभ्यन्तर मलकबहुँ कि जाई।। (उत्तर काण्ड) शुद्ध अन्तःकरण में ही ज्ञान होता है। भक्ति की साधना में दया, करुणा, सेवा आवश्यक हैं। 'भक्ति' शब्द 'भज्' धातु से बना है जिसका सेवा के अर्थ में प्रयोग होता है। अनन्य भक्ति युक्त व्यक्ति भी चराचर को अपने स्वामी भगवान् का रूप देखता है और अपने को सेवक मानता है, इसलिए वह सेवा कर्म से विरत कैसे हो सकता है? सेवा करेगा ही। भक्ति प्रधान निष्काम कर्मयोग में लोक सेवा आवश्यक है, वैकल्पिक या वर्जित नहीं। विशुद्ध भक्ति योगी भी अपने को दीन हीन समझ कर सेवा प्रधान वृत्ति रक्खेगा। समाज की सेवा उसकी साधना से उल्टी नहीं पड़ती।

व्यवहार में यह देखा जाता है कि बहुतेरे जन सेवी अपने सेवा काम में लगे हुए परमार्थ पथ से भटक जाते हैं, आसक्ति में पड़ जाते हैं सत्पथ से डिग जाते हैं। इसका कारण यह है कि अस्मिता, संकल्प, कामना, वासना युक्त कर्म बन्धन का ही कारण है, मोक्ष का सहायक नहीं। भक्त की सेवा, अस्मिता, निजी संकल्प, कामना, राग द्वेषादि विकारों से रहित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
होगी। 'सकल प्रकार विकार विहाई। मन क्रम वचन करेहु सेवकाई।' भक्त तो सदैव भगवान् की ही सेवा करेगा भगवान् से पृथक मान्य जनता या समाज या लोक का सेवक वह नहीं हो सकता। उसकी सेवा भगवत्प्रतीत्यर्थ होगी। वह मुक्तिदायिनी ही होगी, मुक्ति घातिनी नहीं हो सकती। जन सेवकों के जीवन में जो अनर्थ परिपाक प्रायः होता है, वह इसलिए कि उनकी सेवा भगवद्भाव से रहित है, बहुत बार तो स्वार्थ प्रेरित या दाम्भिक ही होती है। अनन्य भक्त के जीवन में सेवा समाप्त नहीं होगी, विशुद्ध होगी, वही प्रभावी होगी। श्री स्वामी रामतीर्थ जी एक बार अमेरिका में एक पार्क में विश्राम कर रहे थे। किसी ने कहा, 'क्यों यहाँ आलस्य में पड़े हो, जाओ कुछ अच्छा काम करो।' श्री स्वामी रामतीर्थ जी बोले, 'अच्छा काम करने वाले पेशे में क्या अभी पर्याप्त भीड़ नहीं है?' खतरा यही है कि जन सेवा भी एक पेशा बनकर रह जाती है, साधना नहीं रहती। फिर 'लोभ ग्रसे शुभ कर्म' के अनुसार सेवा भ्रष्ट हो जाती है। इसी पतन से कर्म सन्यासी साधक को भय है।

यह कहा जा सकता है कि जीवन धारण का प्रयोजन साधना है, तदर्थ कर्म साधक के लिए है, सिद्ध के लिए न वह प्रयोजन है न वह कर्म आवश्यक है। इसी प्रकार, यह बहुत बड़ा सन्देह बहुत बार उठता है कि अद्वैतदर्शी के लिए सेवा कर्म या कोई भी कर्म सम्भव नहीं, क्योंकि द्वैतात्मक जगत् में ही कर्म सम्भव है। ज्ञानि प्राप्ति के बाद कर्म का अपने कुछ प्रयोजन नहीं रहता, 'तस्य कार्यं न विद्यते [गीता ३ १७], जगत् स्वप्नवत् भ्रमात्मक ठहरता है, अतः लोकोपकार की भी कल्पना नहीं हो सकती, साथ ही अद्वैत स्थिति के साथ कर्म का मेल नहीं बैठता। अतः पुण्य कर्म भी छूटेगा। इस सन्देह द्वारा प्रस्तुत दारुण असम्भावना निवृत्त हो सकती हैं, यद्यपि 'सिद्धावस्था और व्यवहार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
एक अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल विषय है, जिस पर श्री लोकमान्य तिलक ने 'कर्मयोग रहस्य' में एक बड़ा ही उत्तम अध्याय लिखा है।

यह दावा नहीं किया जाता है कि ज्ञानी को जगत् भासता ही नहीं। उसे यह सत्य रूप, सुख रूप, ग्राह्य उपादेय या प्राप्तव्य रूप नहीं भासता, असत्यरूप, स्वप्नरूप, इंद्रजाल रूप (या आधुनिक सिनेमा या टेलीविजन रूप भासता है। वह इसका तटस्थ दृष्टा (साक्षी) मात्र है। जगत् का व्यवहार भी उसे भासता है, परन्तु उस आभास से वह विकारवान् नहीं होता। अपना कहा जाने वाला देह भी दृश्य जगत् का अंग है। जगत् असत् है तो देह भी असत् ही है। जो मनुष्य स्वप्न देखता है उसका शरीर तो सुख से पलंग पर सोता रहता है परन्तु स्वप्न के भीतर उसका भी देह दृष्टिगोचर होता है और यही सक्रिय रहता है। इस देह को सत्य और शेष स्वप्न को असत्य नहीं कह सकते। सारा स्वप्न असत् और अभाव रूप है तो तद्गत सभी देह कल्पित और मिथ्या हैं, तथाकथित स्वप्नदृष्टा का स्वप्नगत देह भी कल्पित और अविद्यमान् है। वैसे ही उसके कर्म भी हैं। जीवन्मुक्त पुरुष जगत् और उसके कर्मों क्रियाओं की तरह तथाकथित निज देह को भी मिथ्या ही देखता है, उसके कर्म भी वास्तविक नहीं, स्वप्न के कर्मों की तरह हैं। ज्ञानी के अद्वैत दर्शन से जगत् की प्रतीति समाप्त नहीं हो जाती, जगत् का व्यवहार बन्द नहीं हो जाता, उसकी अपनी कही जाने वाली देह की प्रतीति समाप्त नहीं हो जाती, न उसके कर्म बन्द हो जाते हैं। तीन गुणों (सत्व, रज, तम) का प्रभाव उसके व्यवहार पर भी पड़ता है, केवल यह होता है वह त्रिगुणों से विकारवान् चलायमान् नहीं होता, 'गुणैर्यो न विचाल्यते' (गीता १४.२३)। गुणातीत की व्यवहार में स्वाभाविक स्थिति सतोगुण में रहती है, यद्यपि वह उस गुण से भी बँधा हुआ नहीं होता। 'निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो, निर्योगक्षेम आत्मवान् (गीता २.४५)। जिस आत्मज्ञानी को यह भूमिका है कि–'नाह देहो न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मे देहो' (अष्टावक्र गीता ११.६) उसके लिए जैसे अन्य देहों के प्रतीति-मान् कर्म अद्वैत दर्शन के घातक नहीं हैं, वैसे ही तथाकथित स्वदेह के भी कर्म अद्वैत दर्शन के घातक नहीं हो सकते हैं। इसलिए जिन कर्मों की सम्भावना औरों के लिए हैं, उनकी उसके लिए असम्भावना नहीं हो सकती। उसका देह अत्यन्त सक्रिय या निष्क्रिय रह सकता है, कर्म से उसका ब्रह्मज्ञान (या अद्वैत दर्शन) अप्रभावित रहता है। ऊपर की विचार धारा कोरी कल्पना नहीं है। कितने ही जीवन्मुक्त महापुरुष अत्यन्त सक्रिय जीवन बिताकर दिखा चुके हैं। श्री जनक जी जीवन्मुक्त थे, राज्य संचालन भी करते थे। श्री हनुमान जी जीवन्मुक्त थे परन्तु परम सक्रिय और पराक्रमी भी थे। भीष्म भी पराक्रमी योद्धा थे और जीवन्मुक्त भी थे। श्री गुरु गोविन्द सिंह जी महान् पराक्रमी वीर थे।

सवा लाख से एक लड़ाऊँ। तब मैं गोविन्द सिंह कहाऊँ ।।

पर वे जगत् का सभी व्यवहार के साक्षी मात्र थे–

हौं तो परम पुरुष को दासा। आएउँ देखन जगत् तमासा ।।

यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञानी परोपकार, प्रचार या जनसेवा कार्य नहीं करता। इसका उल्टा कथन अधिक सही होगा कि सच्ची जन सेवा, सार्वजनिक कार्य, लोकाराधन ज्ञानी ही कर सकता है, क्योंकि वही स्वार्थ रहित, निर्विकार, शान्त और समचित्त रह सकता है। अतः अनन्य भक्ति या ज्ञान प्राप्ति लोक मंगल के कार्य हेतु साधक शक्ति है, बाधक शक्ति नहीं। उससे भिन्न अहंभाव युक्त जो योजनाएँ हैं वे सहज ही विकार भ्रष्ट होकर ध्वस्त हो सकती हैं। अब इस पर ध्यान दें कि श्री गोस्वामी जी निशि दिन श्वास श्वास में भगवन्नाम रटने वाले अति अनन्य हरिदास को ही सर्व श्रेष्ठ मानते हैं।

भगवन्नाम की महिमा सर्व विदित है। चहुँ युग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ (बाल काण्ड)। भगवन्नाम महिमा यहूदी, ईसाई, इस्लाम, सिक्ख

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धर्मों में भी खूब पाई जाती है। परन्तु भगवन्नाम महिमा सुविदित होकर भी एक प्रकार से अविदित ही है। क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। शास्त्रों में जो वर्णन मिलता है वह अनिर्वचनीय तत्व को वचनों से समझाने की कोशिश है। कोरे तर्क से वह महिमा बुद्धि में जम नहीं पाती। परन्तु सन्तों के अनुभव से वह महिमा विलक्षण व अलौकिक सिद्ध होती है।

उच्च कोटि के सन्त भगवन्नाम की अपार पाप नाशिनी शक्ति में पूर्ण आस्था रखते हुए भी उस शक्ति का अपने पाप मोचन या दुःख मोचन के लिए प्रयोग नहीं करते, वे भगवन्नाम में अहैतुकी, अलौकिक प्रीति रखते हैं।

प्रिय राम नाम तो जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ, आदि मध्य परिणामो॥ (वि०प०)

श्री गोस्वामी जी का विश्वास है कि भगवन्नाम के प्रताप से असंभव सम्भव हो सकता है—

नाम प्रताप सही जो कहै कोउ, सिला सरोरुह जामो। (वि०प०)

यद्यपि भगवन्नाम से सभी परिचित हैं परन्तु सच्चे भगवन्नामानुरागी बिरले बिरले ही मिलते हैं, उनकी स्थिति, उनकी महिमा को समझना भी साधारण साधक की शक्ति के परे है। तथापि यहाँ यह विचार प्रासंगिक है कि श्री गोस्वामी जी ने जो अहर्निशि हरिनाम रटने की बात कही है वह कैसे सम्भव है और वैसी रटन करने वाले को सबसे श्रेष्ठ क्यों माना गया है?

बहुधा नाम के साधक निश्चित समय का दैनिक जप करते हैं। इस प्रकार साधन का प्रारम्भ होता है। आधा घण्टा, एक घण्टा जप करके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
बहुत से भक्त शेष समय के लिए खाली हो जाते हैं, फिर भगवन्नाम स्मरण की चिन्ता नहीं रहती। ऐसी साधना प्राय: यान्त्रिक रहती है, भाव पूर्ण नहीं। नामामृत सिन्धु में स्नान की तरह वह नहीं होती। परन्तु जिन साधकों का जप एकाग्रता से होता है और भाव पूर्ण हहता है, उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके कारण बँधे वक्त के जप से उन्हें सन्तोष नहीं होता। अधिकाधिक समय वे भगवान् के स्मरण और नाम जप में लगाना चाहते हैं। पूजा के अतिरिक्त समय में भी भगवन्नामाराधन जारी रखने का प्रयास करते हैं। निराकार के व साकार के, दोनों प्रकार के उपासक भगवन्नाम का आश्रय लेते हैं–

अगुन सगुन बिच नाम सुखाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ।।

भगवत्स्मरण और नाम जप अलग अलग साधन नहीं हैं। भगवत्स्मरण पूर्वक नाम जप चलता है। तज्जपस्तदर्थ भावनं [योगसूत्र] उत्तम साधकों का जप भाव सहित होता है और उससे भगवत्प्रेम बढ़ता ही जाता है।

द्वादश अक्षर मन्त्रवर, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव पद पंकरुह, दम्पति मन अति लाग।। [बाल काण्ड]

उत्तर काण्ड में भरत की विरह की दशा वर्णन करते हुए कहा है–
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जल जात।

ऊँचे नाम प्रेमियों की नाम निष्ठा भी अहैतुकी हो जाती है, जगत् के किसी विषय के लिए नहीं होती। तब अनवरत नाम रटन चलाने की साधना की जाती है उच्च कोटि के नाम प्रेमी प्राय: गुप्त रहते हैं। उनकी नाम साधना का सबको पता नहीं चलता। कोई कोई जो प्रत्यक्षही दिन भर नाम साधना में लगे रहतें हैं, उनकी भी आन्तरिक स्थिति प्राय:

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अज्ञात ही रहती है और यह उनकी नामाराधना की निर्विघ्नता में सहायक है। प्रस्तुत लेखक का परिचय एक ऐसे सज्जन से था जो अपनी नई उमर से ही भगवन्नाम के गहरे अनुरागी थे। वे साधारण गृहस्थ की तरह घर में रहते थे, नौकरी करते थे, परन्तु बराबर भगवन्नाम मे लगे रहते थे। भगवन्नाम में उनकी समाधि लग जाती थी, जो कभी कभी घण्टों चलती थी। यह मालूम है कि कभी कभी वे इसलिए आकस्मिक अवकाश लेते थे कि खूब जी भर कर भगवन्नाम का आनन्द लें। शास्त्राध्ययन उन्होंने नहीं किया था परन्तु बातचीत में उनके मुख से शास्त्र-सम्मत वचन सहज ही निकलते थे। उनके जीवन में कभी कभी विलक्षण चमत्कार भी सहज ही घटित हुए परन्तु उनकी सन्त रूप में मान्यता उनकी गली भर में भी नहीं थी। वह जितने गुप्त रहना चाहते थे, रह सके। यह तो एक उदाहरण है। ऐसे कितने ही सन्त हो चुके और हैं। उनकी गति प्रायः अलक्ष्य रहती है। उनका बाहरी जीवन और पर्यावरण उन्हें भगवन्नाम में आनन्द विभोर रहने से रोक नहीं सकता। उससे अधिक लाभ और कोई नहीं है। अतः उस परम लाभ में ही वे मस्त और तृप्त रहते हैं। उनका भगवन्नामानुराग सभी लौकिक संस्कारों को मिटाता जाता है–

आई जो उनकी याद तो आती चली गई।
हर नक्शे पा को दिल से मिटाती चली गई॥
मन ते सकल वासना भागी। केवल राम चरण लय लागी॥
(उत्तर काण्ड)

इस प्रकार प्रेम की बाढ़ आ जाने पर ही अहर्निशि रटन का सोपान सम्भव होता है, हर एक के लिए नहीं। प्रश्न यह उठता है कि ऐसे सन्तों के लिए भी अहर्निशि श्वास श्वास में नाम रटन कैसे सम्भव है?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक तो रटन का अर्थ यहाँ भगवन्नाम की आवृत्ति मात्र लिया जाय अर्थात् भगवन्नाम का बार बार लेना, यह अर्थ न लिया जाय कि जीभ से बार बार ज़ोर से कहना। जीभ से कहना हर समय नहीं चलेगा, जैसे बात करते समय, खाते समय और सोते समय। वाणी चार प्रकार की मानी गई है-परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। जीभ से औरों के सुनने लायक शब्द वैखरी वाणी है, बाहर स्पष्ट शब्द न हो परन्तु भीतर भीतर शब्दोच्चार हो, यह कण्ठ स्थित मध्यमा वाणी मानी जाती हैं। नाद बिल्कुल न हो अर्थात् आवाज न हो पर मानसिक जगत् में शब्दोच्चार हो यह पश्यन्ती वाणी है। जब हम विचार करते हैं तब भी शब्द काम में आते हैं, आवाज नहीं होती। विचार के साथ आवाज भी निकले और सुनी जा सके तो वह वैखरी वाणी है। मानसिक जगत् से भी सूक्ष्म और विलक्षण परा वाणी है, जो सूक्ष्मतम, संकल्प जगत् से सम्बन्धित है।

श्री चरण दास जी ने 'भक्ति सागर' में लिखा है—

आठ मास मुख सों जपै, सोलह मास कण्ठ जाप।
बत्तिस मास हिरदै जपै, तन में रहै न पाप॥

यह वैखरी, मध्यमा व पश्यन्ती द्वारा जप है। परा वाणी एक प्रकार से शब्दातीत है। सोते समय भी परा का अवरोध नहीं है। जो नाम ध्वनि रोम रोम के व्याप्त हुई कहीं गई उसका स्वरूप अलौकिक है, वह श्रवण गोचर (सुनने लायक) वैखरी वाणी नहीं है। उसका स्वरूप एक यौगिक रहस्य है। जिन सन्तों का जप परा वाणी तक पहुँच चुका है, उनकी नाम रटन अहर्निशि अनवरत (अखण्ड) चलना सम्भव और सहज है।

अब से लगभग पचास वर्ष पहले मेरठ से 'संकीर्तन' नामक एक मासिक पत्र निकलता था। भगवन्नाम पर उसका एक विशेषांक निकला।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उस अंक विशेष के सम्पादक पूज्यपाद प्रभु दत्त जी ब्रह्मचारी बनाए गए। उन्होंने अति उत्तम सम्पादकीय लेख लिखा। इसमें भगवन्नाम साधना की गहराई को अत्यन्त सरल शब्दों में समझाया। उन्होंने लिखा, 'जब मैं जेल में था (स्वराज्य आन्दोलन में) तो मेरे साथ बहुत से विद्यार्थी भी थे। मैं चलते फिरते दिन भर श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।। रटा करता था। वे कहते इस तरह नाम रटने से क्या फायदा? (जबकि मन दूसरे दूसरे कामों में लगा रहता है) मैंने उनसे पूछा कि तुम लोग जब कक्षा में पढ़ते हो तो तुम्हार मन एकदम अध्ययन में लगा रहता है? या भटकता रहता है उन्होंने स्वीकार किया कि भटकता रहता है।

तो फिर तुम लोग पढ़ाई बन्द कर देते हो या उसी तरह पढ़ते रहते हो? उसी तरह पढ़ते रहते हैं। और उसी तरह पढ़ते हुए परीक्षा भी देते हो? हाँ। तो फिर मेरे लिए यह पाबन्दी क्यों लगाई गई कि पूरे मन से भगवन्नाम लूं या बिल्कुल न लूं।

पूज्यपाद प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने एक और घटना का उल्लेख करके समझाया।

'मेरा एक आपरेशन होने वाला था। उसमें बेहोशी की जानी थी। मैंने पता लगाया कि बेहोश रोगी क्या करते हैं। लोगों ने बताया कि बेहोशी में खूब गालियाँ बकते हैं। मुझे चिन्ता हुई कि यदि मैंने बेहोशी के समय गालियाँ बकीं तब तो बड़ी लज्जानक बात होगी।

बेहोशी की गई। आपरेशन हो गया। होश में आने पर मैंने पूछा कि बेहोशी के समय मैं गालियाँ तो नहीं बक रहा था? मुझे बताया गया कि मैंने गालियाँ बिल्कुल नहीं बकीं। मैं तो केवल—श्रीकृष्ण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव कहता रहा। अब बताइये कि बेमन से भी रटा हुआ नाम यदि मन में न उतर जाता तो बेहोशी में कैसे निकलता ?

उपर्युक्त से लक्षित होता है कि नाम की प्रबल साधना से नाम अचेतन मन में व्याप्त हो जाता है। अचेतन मन की क्रिया जागृत अवस्था तक सीमित नहीं है।

इसीलिए यह कहा जाता है कि भगवन्नाम लेते लेते ही सो जाता है और भगवन्नाम लेते हुए उठता है, उसका जप सोते समय भी (अचेतन मन में) चलता रहता है और अखण्ड जप मान्य है। इस दृष्टि से अहर्निशि अखण्ड रटन या जप सम्भव है।

एक और बात भी स्मरणीय है। जप के क्रम में अजपा जाप भी माना गया है, जिसमें जाप किये बिना अपने आप हुआ करता है। इसका अनुभव भी जागृत अवस्था तक सीमित नहीं है। योगियों, सन्तों, का यह अनुभव है कि भगवन्नाम ध्वनि अपने आप ही अनवरत रूप से हो रही है, साधारण मनुष्य को सुनाई नहीं देती परन्तु साधना करने पर सुनाई देती है। किसी किसी को केवल ध्यान की दशा में सुनाई देती है, परन्तु ऐसे सन्त भी हैं, जिन्हें यह दिन रात अखण्ड रूप से सुनाई देती है। कभी कभी यह ध्वनि बड़ी जोर की होती है, उसका ध्यान लगाने का प्रश्न ही नहीं आता, उल्टे उस ध्वनि के कारण दूसरे की बात सुनना समझना कठिन हो जाता है। इस दशा के प्राप्त होने पर केवल उस ध्वनि को सुनते रहना ही भजन है। ऐसे महाभाग सन्तों के लिए अहर्निशि नाम रटन असम्भव कहाँ है ? श्वास प्रश्वास के साथ नाम जप करने से श्वास प्रति श्वास रटन होने ही लगती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तथापि जिन लोगों को ऐसी दशाएँ प्राप्त नहीं हैं, उनके लिए कभी कभी सन्तों का दूसरे प्रकार का उपदेश होता है। यह मानकर कि प्रत्येक श्वास के साथ नाम जप (या रटन) न हो सकेगा, यह उपदेश दिया जाता है कि कुछ समय तक नित्य एक एक श्वास में अनेक बार भगवन्नाम लेना चाहिए और इतनी जप संख्या पहुँचा देना चाहिए कि वह साधारणत: चौबीस घण्टों में ली गई श्वासों की कुल संख्या के बराबर पहुँच जाय। एक मिनट में १५ श्वासों के हिसाब से १ चण्टे की ९०० श्वासें होती हैं, चौबीसी घण्टे की २१६०० श्वासें। अत: २१६०० जप संख्या की सम्मति दी जाती है। श्वासों की गति हर समय एक सी नहीं रहती। विकारवान् चित्त होने से श्वास की गति तीव्र होती है। जागृत, स्वप्न, सुसुप्तावस्थाओं में भी श्वास की गति एक समान नहीं होती। ज्वर में नाड़ी ही नहीं, श्वास की गति भी तीव्र हो जाती है। श्वास की गति का सम रहना स्वयमेव एक सिद्धि है और निर्विकार, शान्त चित्त का प्रमाण है श्वास की गति ध्यानावस्था में, समाधि में धीमी हो जाती है, कभी कभी समाधि अवस्था में श्वास रुक भी जाती है, नाड़ी भी रुक जाती है, दिल की धड़कन बन्द हो जाती है। परन्तु यह दशा अत्यन्त असाधारण अलौकिक सी है। साधारणत: प्राय: सभी समय श्वास की गति प्रति मिनट बारह से अठारह के बीच होती है अत: १५ का औसत लेकर २४ घण्टे में २१६०० श्वासों का हिसाब लगाया जाता है। इन सय बातों पर विचार करने से श्री गोस्वामी जी का अमृतोपदेश समझ में आ सकता है और उसे अतिशयोक्ति कह कर टालना आवश्यक नहीं रह जाता।

जो अनन्य हरिदास है और अहर्निशि प्रति श्वास नाम रटन करता है, श्री गोस्वामी जी ने उसे सर्व श्रेष्ठ माना है, उसके समान किसी और को नहीं माना। ऐसा क्यों ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह तो समझ ही लेना चाहिए कि श्री गोस्वामी जी स्वयं भगवन्नाम के अनन्य जनुरागी हैं। यहाँ उनकी अपनी निष्ठा का प्रकाश है। अनन्य भक्ति की यह दशा उपासना का चरमोत्कर्ष है। भगवन्नाम साधारण शब्द नहीं है। माण्डूक्य उपनिषद् में भूत, भविष्य, वर्तमान् को सब सृष्टि ॐकार स्वरूप ही बताई गई है। इस पर श्री गौड़पादाचार्य जी की कारिका और आदि शंकराचार्य जी का भाष्य है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार सब ब्रह्ममय हैं।' 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७.१९) का भी वही सन्देश है। 'समुझत सरिस नाम अरु नामी' (बाल काण्ड) के प्रकाश में सब कुछ नाम मय है। इस दशा की अनुभूति विरल है।

द्वैत दर्शन में ही भगवान् और संसार का भेद और विभाजन है, आदर्श स्थिति में नहीं।

नाममय जीवन का वस्तुतः व्यवहार में निष्क्रिय होना आवश्यक नहीं। नामानुरागी का जीवन बाहर से दोनों तरह का हो सकता है, एकान्त परायण, कर्म क्षेत्र से अलग, ध्यान प्रधान अथवा अत्यन्त सक्रिय, क्रान्तिकारी, पराक्रमी। दोनों दशाओं में नामानुरागी समाज का, जाने बेजाने महान् हित साधक होता है। श्री हनुमान जी अनुपम भगवन्नामानुरागी, परम विरक्त, ज्ञानिनामग्रगण्यं' (सुन्दर काण्ड) होने के साथ साथ 'अतुलित बल धामं' भी हैं, लंका के युद्ध में उनका अनुपम पराक्रम रहा, राम सेवा में ऐसे सावधान व समर्पित कि 'राम काज लगि तव अवतारा' (किष्किधा काण्ड) को पूरा पूरा सार्थक कर दिया। उनके रोम रोम में राम नाम का व्याप्त होना प्रसिद्ध है। श्री हनुमन्नाटक के मंगलाचरण के श्लोक में केवल भगवन्नाम की ही स्तुति की गई है।

अज्ञानी की दृष्टि में भगवन्नाम में अत्यन्त निष्ठ व्यक्ति पलायनवादी है, वह महान् पराक्रमी भी हो सकता है, निर्विकार जीवन स्वयमेव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सबसे बड़ा पराक्रम है। श्री राम नाम के अनुराग से पुन्यानुष्ठान का बाधित होना श्री गोस्वामी जी को मान्य नहीं है।

यथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास ।। (दोहावली)

श्री हनुमन्नाटक के मंगलाचरण के श्लोक में श्री राम नाम को– 'कल्याणानां निधानं' कहा है, ममुक्षु का पाथेय (सम्बल) बताया है तथा 'बीजं धर्म द्रुमस्य' [धर्म रूपी वृक्ष का बीज] निरूपित किया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी योग दर्शन में 'धर्म मेघ समाधि [योग सूत्र ४.२९] का उल्लेख किया है।

मीठा अरु कठवति भरो, रोताई अरु छेम।
स्वारथ परमारथ सुलभ, राम नाम के प्रेम ।। [दोहावली]

यदि किसी को लौकिक प्रगति [अभ्युदय] और पारमार्थिक कल्याण (नि:श्रेयस्, मोक्ष), दोनों के बीच कोई विरोधाभास प्रतीत होता हो तो स्मरण रहे कि भगवन्नाम से इसका परिहार हो सकता है। श्री गोस्वामी जी ने तो निराकार ब्रह्म और सगुण साकार श्री राम दोनों से ही भगवन्नाम को बड़ा बताया है–

मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। (बाल काण्ड) अत: परम नामानुरागी अति अनन्य हरिदास को सर्वश्रेष्ठ कहना ठीक ही है और किसी को भी उसके समक्षण न मानना भी स्वाभाविक और सही है।

सब लोई : सब लोग। गीता प्रेस की पोथी में 'सब कोई' पाठ है, अर्थ वही है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जदपि साधु सबही बिधि हीना।
तद्यपि समता के न कुलीना॥
यह दिन रैन नाम उच्चरै।
वह निति मान अगिन में जरै॥४१॥

साधु चाहे सब प्रकार से हीन हो, कुलीन (ऊँचे कुल का व्यक्ति उसकी बराबरी नहीं कर सकता। यह (साधु) दिन रात भगवान् का नाम लेता रहता है, जबकि वह (कुलीन व्यक्ति) नित्य मान की अग्नि में जला करता है।

इस चौपाई में पूज्यपाद कलिपावनावतार श्री गोस्वामी जी ने लौकिक दृष्टि से एकदम दीन हीन भगवन्नामानुरागी साधु की एक प्रतिष्ठित कुलीन व्यक्ति से तुलना की है और साधु को श्रेष्ठ ठहराया है, प्रतिष्ठित व्यक्ति उसकी बराबरी नहीं कर सकता। इस सन्देश के रहस्य को समझना है।

चौपाई में 'हीन' शब्द 'कुलीन' के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए विशेष अर्थ यह लक्षित होता है कि जो साधु जाति और कुल के अनुसार अत्यन्त हीन अर्थात् निकृष्ट अथवा नीच है वह उस व्यक्ति से कहीं श्रेष्ठ है जो जाति और कुल के आधार पर अत्यन्त ऊँचा है। तथापि हीन और कुलीन शब्दों को अति महत्व देकर केवल जाति या कुल परक अर्थ करना ठीक न होगा। 'सब ही विधि हीना' का केवल यह अर्थ करना पर्याप्त न होगा कि जाति और कुल की दृष्टि से सब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रकार से नीच। 'सब ही विधि हीना' में हीन कुल के अतिरिक्त धन, बल, जन बल, शरीर बल' बुद्धि बल, रूप बल आदि की हीनता भी समाविष्ट मानना चाहिए। इस प्रकार लौकिक साधनों, बलों व प्रतिष्ठा के आधारों से रहित एक साधु है जिसे पूर्व चौपाई (छन्द सं० ४०) के सन्दर्भ में दिन रात भगवन्नाम लेने वाला अति अनन्य हरिदास मानना चाहिए, उस साधु की बराबरी में अत्यन्त सम्पन्न, कुलीन तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति को नहीं रख सकते, यानी श्रेष्ठ होना तो अलग रहा बराबरी भी नहीं हो सकती।

श्री गोस्वामी जी का तात्पर्य यहाँ केवल कुल से नहीं है। व्यापक लौकिक हीनता से है। केवल कुल की श्रेष्ठता और नींच जाति के भगवन्नाम जापक की उसकी तुलना में श्रेष्ठता पूर्व प्रसंग में छन्द सं० ३८ में कह चुके हैं।

यह जान पडता है कि श्री गोस्वामी जी ने यहाँ सरल शब्दों में उसी बात का निरूपण किया है जो भक्तराज प्रह्लाद जी ने नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए कही थी – श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ अध्याय ९–

मन्ये धनाभिजनरूपतपः श्रुतौजस्तेजः प्रभाववलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान गजयूथपाय।
(९)

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम॥
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थं प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(१०)

धन, जन, रूप, तप, श्रुत शास्त्र ज्ञान), ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग, इन लक्षणों को मै परम पुरुष भगवान् की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अराधना और प्रसन्नता के लिए पर्याप्त नहीं मानता, (जबकि इन गुणों के बिना भगवान् केवल भक्ति से गजराज पर भी प्रसन्न हो गए थे ।

उपरोक्त बारह गुणों से युक्त परन्तु भगवान् के चरण कमलों से विमुख ब्राह्मण से मैं उस स्वपच को श्रेष्ठ मानता हूँ जिसने अपने मन वचन भगवान् को अर्पण कर रखे हैं और उन्हीं को अपना हितू जानकर उनसे प्रेम करता है । ऐसा स्वपच भक्त अपने प्राणों को तथा अपने कुल को पवित्र बना देता है जबकि वह अति प्रतिष्ठित और अभिमानी ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता ।

भक्तराज प्रह्लाद जी ने यह भाव अपनी स्तुति के प्रारम्भ में ही प्रकट किया है क्योंकि घटनाक्रम के कारण उनके मन में उस समय सहज ही यह विचार आया कि जाति और कुल की दृष्टि से वे दैत्य कुल में प्रगट होने के कारण अत्यन्त हीन थे, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनके पिता हिरण्य कश्यप विष्णु भगवान् से वैर भाव रखते थे । अतः भगवान् की यह नीति स्पष्ट ही सामने आ गई कि भगवान् ने जाति कुल आदि का विचार कुछ भी नहीं किया । हिरण्य कश्यप की भावना के अनुसार उसे मृत्यु की प्राप्ति हुई परन्तु उसी के बेटे प्रह्लाद को विशुद्ध भक्ति भावना के कारण भगवान् की परम प्रसन्नता प्राप्त हुई । प्रह्लाद कम आयु के बालक थे इसलिए उनके उल्लिखित बारह गुणों से मण्डित होने का भी प्रश्न नहीं था, तथापि भक्तराज प्रह्लाद अनुपम भगवत्कृपा प्राप्त कर गए । भक्तराज ने कहा कि भक्ति से तो भगवान् गजराज पर भी प्रसन्न हो गए जिसके लिए उन उत्तम बारह गुणों से युक्त होने का प्रश्न ही नहीं था ।

इसी सिद्धान्त को भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने शबरी जी के प्रसग में राम चरित मानस में निरूपित किया है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई ।।
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल वारिद देखिय जैसा ।।
(अरण्यकाण्ड)

श्री शबरी जी के प्रसंग के अन्त में श्री गोस्वामी जी ने दोहा लिखा है—

जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामन्द मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि ।।

शबरी जी ऋषि मुनियों द्वारा बहिष्कृत थीं, अस्पृश्य मानी गई थीं, परन्तु श्री राम ने उन्हीं का आतिथ्य ग्रहण किया, उन्हें माता के समान माना।

श्री राम जी के चरित्र में इसका दूसरा उदाहरण निषाद राज गुह का है। श्री राम ने उन्हें सखा माना। उनके प्रसंग में ही श्री रामचरित मानस में कहा गया है—

स्वपच सबर खस यवन जड़, पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात ।।

इसी प्रकार—

राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिनहि न पाप पुंज समुहाहीं।
यह तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जग पावन कीन्हा ।।

तथा—

लोक वेद सब भाँतिहि नीचा।
जासु छाँह छुइ लेइय सींचा ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता ।
मिलत पुलक परिपूरित गाता ।।

एवं—

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं । बड़ वसिष्ठ सम जग कोउ नाहीं ।।
तेहि लखि लषनहु ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ।।

केवट व शबरी इसके महान् उदाहरण हैं कि भगवान् की भक्ति से चाण्डाल भी पवित्र हो जाता है—श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते । (श्रीमद्भागवत)

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यं ।
(श्रीमद्भागवत)

'सबही विधि हीना' में धन आदि की हीनता भी आ जाती है । यदि आवश्यकताओं की अनुभूति होती है और वे पूरी नहीं होतीं तो यह दरिद्रता है—नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं । (उत्तर काण्ड) परन्तु भगवान् में लीन सन्त जनों की दरिद्रता की दशा नहीं होती, अपरिग्रह की दशा होती है, कुछ भी अपना करके ग्रहण नहीं करते, किसी आवश्यकता की अनुभूति नहीं करते, भगवान् के नाम के आनन्द में मग्न रहते हैं । सच तो यह है कि वस्तुओं का अभाव उनके लिए साधनों का अभाव नहीं है, विघ्नों का विक्षेपों का अभाव है । इसी से 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' ऐसा आदि शंकराचार्य ने कहा । अपरिग्रही के पास आवश्यक वस्तुएँ स्वयं आती रहती हैं । अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । (योगसूत्र २.३७) । इसी दृष्टि से 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे' (बाल काण्ड) कहा गया है ।

अज्ञानी जीव को कभी कभी मुफ्लिसी में गिरफ्तार फ़कीर अर्थात् निर्धनता ग्रस्त साधु पर दया लगती है, परन्तु वह उनकी आन बान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शान न पहचानने से ऐसी दया करता है। सूफी फ़कीरों के नाम के साथ प्राय: 'शाह' लगा ही रहता हैं। यदा कदा किसी सन्त से किसी सम्पन्न व्यक्ति ऐसी बातचीत हो जाती है जिससे सम्पन्न व्यक्ति की हीनता और फ़कीर की मस्ती का आभास मिलता है।

एक साधु रात भर कंकड़ों पर ही पड़ा रहा। प्रात: सामने की कोठी में रहने वाले रईस ने उससे पूछा—

आप रात भर कंकड़ों पर पड़े रहे, बिछाने ओढ़ने को भी कुछ नहीं था। रात कैसी कटी ? साधु ने कहा—कुछ आपके बराबर कटी, कुछ आपसे अच्छी कटी। यह कैसे ? साधु ने कहा—जितनी देर हम और आप सोते रहे, पलंग और कंकड़ों का क्या फर्क़ पड़ा ? रईस—कुछ नहीं। साधु ने फिर समझाया कि जितनी देर हम जागते रहे (भगवान् का) चिन्तन करते रहे, आप जब तक जागते रहे समस्याओं की चिन्ता करते रहे, इसलिए जागते में हमारी रात आपसे अच्छी कटी। रईस निरुत्तर हो गया।

सम्राट औरंगजेब के भाई दारा सूफी मत से अत्यन्त प्रभावित थे और तत्कालीन प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त सरमद के सहयोगी थे। सरमद बिना कपड़ों के ही रहते थे। इस प्रकार नंगे रहने पर आपत्ति उठाई गई तो उन्होंने औरंगजेब को इस प्रकार उत्तर दिया—

आँकस कि तोरा ताजे पात शाही दाद।
मारा हमा अस्बाबे परीशानी दाद॥
पोशीदा लिबास हरकेरे ऐबे दीद॥
बे ऐबाराँ लिबासे उरियाँ दाद॥

जिस खुदा ने आपको बादशाहत का ताज दिया उसी ने मुझे गरीबी दी। जहाँ कहीं उसने दोष देखा वहाँ उसके ढाँकने के लिए पोशाक दी जिन लोगो में दोष नहीं देखा उन्हें नहीं ढाँका, खुला रखा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वामी रामतीर्थ ने एक प्रवचन में कहा कि आप लोगों की ही सम्पत्ति ही आप लोगों की चिन्ता का विषय है वह बोझ बनकर आपको दबाए रहती है।

कहा जाता है कि सन्त तुकाराम जी के सामने श्री लक्ष्मी जी प्रकट हुईं और उनसे वरदान माँगने के लिए कहा सन्त बोले यही दीजिए कि अब फिर कभी दरशन न दीजिए। श्री रामकृष्ण परमहंस जी के बारे में बतलाया जाता है कि यदि उनको बिना बताए ही उनके बिछौने के नीचे रुपए पैसे रख दिये जाते थे तो भी उन्हें बेचैनी हो जाती थी। एक बार कोई दर्शनार्थी कुछ रुपए रखकर चला गया। परमहंस जी ने माँ काली जी से आर्त प्रार्थना की कि 'ऐ माँ तू ऐसे लोगों को क्यों भेज देती है जो मेरे तेरे प्रेम में बाधा डालते हैं।

इसी प्रकार एक बार की घटना है कि श्री श्रीरामकृष्ण परमहंस जी के बहुत एक पुराने परिचित मित्र थे और बहुत वर्षों तक तपस्या करने के पश्चात् श्री परमहंस जी से मिलने आये थे। श्री परमहंस जी ने उनसे पूछा कि आपने अपनी तपस्या से क्या सिद्धि प्राप्त की? उन्होंने कहा कि, 'मैं पानी की धार पर चल कर नदी के दूसरी ओर जा सकता हू। श्री परमहंस जी ने कहा कि इतने वर्ष तपस्या करके आपने जो सिद्धि प्राप्त की है वह दो पैसे की है। मुझे यदि पार जाना हो तो दो पैसे नाव वाले को देकर नाव पर नदी पार कर लूंगा।

धन सम्पत्ति तथा सिद्धि, चमत्कार परमार्थ के पथ में विघ्न रूप माने गए हैं—अन्तरायबदन्तेते काल क्षमण हेतवः (श्रीमद्भागवत ११) इन सिद्धियों को विघ्न रूप माना गया है क्योंकि इनमें रमण करने वाले योगी की पारमार्थिक प्रगति रुक जाती है और बहुत सा समय बरबाद हो जाता है। श्री कबीर दास जी का प्रसिद्ध भजन है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मन लागों मेरो यार फकीरी मे,
जो सुख पायो नाम भजन में सो सुख नाहि अमीरी में ।
भलो बुरो सबको सुन लीजै करि गुजरान गरीबी में ।
कहैं कबीर सुनो भई साधो, साहब मिलैं सबूरी में ।

जो व्यक्ति गरीबी में गुजर करता हुआ भगवान् के भरोसे सन्तोष पूर्वक रहता है और भगवान् की याद करता है उसी को कुरान में साबिर (सब्र करने वाला कहा गया है) ऐसा व्यक्ति भगवान् को प्रिय है ।

ऐसा कई बार देखा गया है कि अकिंचन सन्तों के पास बड़े बड़े राजे महराजे और रईस लोग आशीर्वाद लेने पहुँचते हैं और उनके आशीर्वाद से अपनी समस्याएँ हल करते हैं, सम्पन्नता, सम्पत्ति या अन्य सांसारिक सुख प्राप्त करते हैं । उस समय ऐसे लोग यह सन्देह नहीं करते कि जो सन्त स्वयं निर्धन हैं वे हमें क्या देंगे ?

'बादशाह आते हैं पापोशी गदा के वास्ते' बादशाह लोग भिक्षुकों के चरण कमलों में दण्डवत करने आते हैं । इससे यह प्रगट हो जाता है कि सचमुच दोनों में किसका स्थान श्रेष्ठ है ।

स्वयं श्री गोस्वामी जी ने बड़े ही प्रबल शब्दों में इस तत्व का निरूपण किया है ।

सात टूक कोपीन में, अरु भाजी बिनु लौन ।
तुलसी रघुवर हिए बसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम से ही प्रकट है कि वैराग्य इसका प्रयोजन है इसलिए कवि ने अत्यन्त उपयुक्त सन्देश दिया है कि जो मालमस्त है अर्थात् धन सम्पत्ति का रस ले रहा हैं वह ख्याल मस्त अर्थात् ध्यान मग्न नहीं रह सकता । जो सचमुच भगवान् के ध्यान में मग्न रहता है उसके लिए सम्पत्ति व्यर्थ है, विघ्नकारी भी हो सकती है । अतः सम्पत्ति का त्याग सच्चे सन्तों को अनुकूल पड़ता है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रस्तुत चौपाई में यह नहीं कहा गया है कि सन्त का बाहरी जीवन अवश्य ही निर्धनता का होना चाहिए, परन्तु यह दावा किया गया है कि लौकिक दृष्टि से सब प्रकार से हीन होने पर भी अनन्य हरिदास साधु परम श्रेष्ठ हैं। कुलीनता और सम्पन्नता के आधार पर कोई उसकी समानता नहीं कर सकता।

श्री गोस्वामी जी ने कृपा करके चौपाई की दूसरी अर्द्धाली में साधु की श्रेष्ठता का मुख्य आधार उल्लिखित कर दिया है। साधु दिन रात भगवन्नाम लेता रहता है जबकि कुलीन और सम्पन्न व्यक्ति जो भगवान् का शरणागत नहीं है, सदा अभिमान की अग्नि में जला करता है। स्पष्ट है कि भगवन्नाममृत में डूबा हुआ व्यक्ति अभिमान की अग्नि में जलते हुए व्यक्ति से श्रेष्ठ माना जायगा। कठिनाई तो यह है कि साधारण जनों को ही नहीं बहुत से साधकों को भी भगवन्नाम अमृत के समान नहीं मालूम होता, न अभिमान अग्नि के समान दाहक मालूम होता है। परन्तु शास्त्र और सन्तों की सम्मति में वही सत्य है जो अर्द्धाली में अंकित किया गया है।

श्री महाप्रभु चैतन्य देव जी ने चैतन्याष्टक के प्रथम श्लोक में श्री कृष्ण संकीर्तन का स्तवन किया है और उसकी विजय घोषित की है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में वे कहते हैं—

आनन्दाबुधि वर्धनम् प्रतिपदम् पूर्णामृतास्वादनम्।
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनं॥

हर कदम पर आनन्द के समुद्र को बढ़ाने वाला और पूर्ण अमृत का स्वाद देने वाला है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि सन्तों की अनुभूति में भगवन्नाम अनुपम है और अमृत सिन्धु की तरह है। श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने ग्रंथ हरि भक्ति रसामृत सिन्धु के मंगलाचरण में कहा है कि, 'हरि भक्ति रस के अमृत सागर की गहरे जल वाली उन कछलियों को नमस्कार है जिन्होंने मुक्ति रूपी नदी में कभी प्रवेश नहीं किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सच्चे सन्त भगवन्नाम के अमृत में डूबे रहते हैं, वे मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते—मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' (उत्तर काण्ड) तो फिर ऐसे अनन्य हरि दासों के लिए लौकिक कुलीनता या सम्पन्नता अत्यन्त तुच्छ है।

रमा बिलास राम अनुरागी, तजहिं बमन इमि नर बड़भागी ।।

भरत जी श्री राम जी के बनवास काल में १४ वर्षों तक अयोध्या का राज्य सम्हालते रहे परन्तु अयोध्या की राज्य लक्ष्मी उन्हें कुछ भी आकर्षित नहीं कर पाई।

तेहि पुर बसहिं भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चम्पक बागा ।।

इसके पूर्व के प्रसंग में श्री भरत जी का व अन्य अयोध्या वासियों का अलौकिक आतिथ्य हुआ तो अन्य लोगों को हर्ष और विस्मय प्राप्त हुआ परन्तु श्री भरत जी के विषय में यह अंकित किया गया कि—

सम्पत्ति चकई भरत चक, मुनि आयसु खिलवार।
तेहि निसि आश्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार ।।

ऋद्धि सिद्धियों द्वारा अलौकिक सुखों का विधान किए जाने पर भी श्री भरत जी को तनिक भी आकर्षण नहीं हुआ।

श्री विनय पत्रिका जी में कहा है कि–

जिन रघुवीर चरन अनुरोगे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे।

इस प्रकार विपुल उदाहरण और प्रमाण मिलते हैं कि अनन्य भगवन्नामानुरागी दिन रात नामामृत में निमग्न रहते हैं। उनके अनुपम आनन्द को वे ही जानते हैं।

विपरीतत: प्रतिष्ठित और अभिमानी व्यक्ति की मानसिक दशा पर भी ध्यान दीजिए। मान अर्थात् अभिमान के भी सोपान हैं–अस्मिता, अहमिति (अहम: इति), मैं हूँ की अनुभूति पहला सोपान है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीव धर्म अहमिति अभिमाना । (उत्तर काण्ड)
ससृति मूल शूल प्रद नाना । सकल सोक दायक अभिमाना ।।

एक अखण्ड (अद्वैत) सृष्टि में अहं अलग खड़ा हो गया तो शेष इदं रह गया। अहं इदं पर अपना वर्चस्व रखना चाहता है, परन्तु व्यावहारिक जगत् में अहं सीमित है, क्षुद्र है, इदं महान् है, बलवान् है, असीम है। अहं इदं को बस में नहीं रख सकता। अतः दुःखी रहता है। अहं अनन्त हैं, इनकी भी आपस में टक्कर होती है। इस संघर्ष में कोई अहं शान्त और समाहित नहीं रह सकता।

अहं का दूसरा सोपान है, अपनी उत्तमता या श्रेष्ठता की कल्पना। दूसरों की अपेक्षा पुरुष अपने को अच्छा मानने लगता है और समाज में भी ऐसी मान्यता प्राप्त करना चाहता है। इसकी तड़प बढने पर वह बहुत सा अनिष्ट कर्म भी कर सकता है। इससे दूसरों से प्रतिस्पर्धा संघर्ष, वैर आदि का प्रसंग बनता है। धन और मान का साथ है। धनपतियों को और अधिक की लालसा जीवन की आवश्यकताओं के कारण नहीं होती, सम्मान के चक्कर में होती है। (श्रीमद्भा०स्क० ११) में धन के जो पन्द्रह दोष गिनाए गए हैं, उनमें हिंसा, दम्भ, क्रोध, भेद (फूट), वैर, अविश्वास, स्पर्धा तथा व्यसन (स्त्री, छूत, आसव) भी हैं। प्रत्येक विचारवान् सरलता से समझ सकता है कि इन विकारों, दोषों, अनर्थों के कारण मानी व्यक्ति का चित्त उद्विग्न, तप्त रहना स्वाभाविक है, वह शान्त और समाहित नहीं रह सकता।

अभिमान का तृतीय सोपान वह है, जिसमें सब श्रेष्ठता की कल्पना होती है—कोन्योऽस्ति सदृशो मया। (गीता १६.१५) मेरे समान और कौन है? भगवान् की माया के प्रताप से किसी किसी का ऐसा भ्रम थोड़े या अधिक समय तक चलता रहता है। फिर ध्वस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होता है। किसी किसी का अभिमान चोट खाकर भी जीवन भर चलता रहता है।

विशेषत: द्वितीय व तृतीय सोपानों पर अभिमान दु:ख और ताप का देने वाला है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि अभिमान पतन का पूर्वगामी है। सन्तों की उक्ति है कि अभिमान (घमण्ड) भगवान् का आहार है। श्री नारद भक्ति सूत्र में कहा है—ईश्वरस्याप्यभिमान द्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च (ईश्वर को भी अभिमान से द्वेष है, दैन्य उसे प्रिय है।)

इहाँ को सयानप अयानप सहस सम।
सूधे सति भाउ कहे मिटति मलीनता।। (वि०प०)

तथा—निदरि गनी गरीब को आदर रीति सदा चलि आई। (वि०प०)

अभिमान भव-बन्धन की जड़ (संसृति मूल) और त्रयताप (दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। (उत्तर काण्ड) भव बन्धन का लक्षण है। इसलिए अभिमान ताप (दाह) का कारण है।

कभिमान के बढ़ने से सहज ही आसुरी लक्षण बढ़ते जाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि 'चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिता: (गीता १६ ११) जीवन भर अपरिमेय (असीम) चिन्ता में फँसा रहना पड़ता है। प्रसिद्ध उक्ति है कि चिता मुर्दे को जलाती है, चिन्ता जीवित व्यक्ति को। इस प्रकार भी अभिमान अग्नि रूप है।

मान (प्रतिष्ठा) की स्थिति प्राप्त करने में बहुत दु:ख उठाना पड़ता है, उसे स्थिर रखने की चिन्ता में भी बहुत दु:ख होता है तथा सम्मान के नष्ट हो जाने पर महान् दु:ख होता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।। (गीता २.३४)
संभावित कहँ अपयश लाहू । मरण कोटि सम दारुण दाहू ।।
(अयोध्या काण्ड)

इज्जतदार आदमी की बदनामी मौत से भी अधिक दु:खदायी है। श्री कालिदास जी के रघुवंश महाकाव्य में दिलीप की गो सेवा का मार्मिक प्रसंग है। दिलीप सिंह से प्रार्थना करते हैं कि वह गुरु जी की गाय को न खाये, दिलीप को ही खा ले। सिंह इसके लिए राजी नहीं होता और राजा के महत्व का कथन करता है। तब दिलीप उससे कहते हैं—

अथाप्यवध्यस्तव चेन्मतोऽहं, यश: शरीरे भव में दयालु: ।।

यदि आप फिर भी मुझे अवध्य समझते हैं, तो मेरे यश रूपी शरीर पर दया करें। मेरे दो शरीर हैं—भौतिक और यशरूपी। इनमें से एक तो आप नष्ट कर ही देंगे। तो जो शरीर मुझे अधिक प्रिय है, उसे ही बचाएँ। मुझे जैसों की भौतिक पिण्ड में आस्था नहीं होती यश शरीर में ही होती है। अत: यश शरीर बचाइये, भौतिक शरीर को खाइये। इस प्रसग से भी यही लक्षित होता है कि मान भंग (अपकीर्ति) मृत्यु से भी अधिक दु:खदायी है। इसलिए भी अभिमान की दाहकता स्पष्ट है—

अभिमान कुछ (वास्तविक और कल्पित) गुणों को लेकर होता है, परन्तु गुण भय से रहित नहीं हैं, जिन गुणों का अभिमान होता है उनके कारण भी भय और ताप की प्राप्ति होती है।

भोगे रोग भयं कुले च्युति भय रूपे जरायाद्भयं ।
मौने दैन्य भयं बले रिपु भयं वित्ते नृपालाद्भयं ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शास्त्रे वाद भय गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं ।
सर्ववस्तु भयान्वितं भवि नृणां वैराग्यमेवाभयं ।। भर्तृहरि
(वैराग्य शतक)

भोगी को रोग का भय है, कुलीन को निष्कासन का भय है, सुन्दर व्यक्ति को बुढ़ापे का भय है, मौनी को दीनता प्राप्त होने का भय है, बलिष्ठ को दुश्मन का भय है, धनी को राजा से भय है, शास्त्र के विशेषज्ञ को शास्त्रार्थ में हार जाने का भय है, गुणी को दुष्टों का भय है, शरीरधारियों को मृत्यु का भय है, केवल वैराग्य में ही निर्भयता है ।

अत: अभिमान चिन्ता, भय और ताप का कारण है । निज सुख विन मन होइ कि थीरा । (उत्तर काण्ड) । निज स्वरूप के (आत्मानन्द के) बिना मन स्थिर नहीं होता, अशान्त रहता है । अशान्तस्य कुत: सुखं (गीता २.६६) । अशान्त को सुख कहाँ ? उसे तो ताप ही प्राप्त होता है ।

तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रय ताप । (पूर्व छन्द ६)

पारमार्थिक दृष्टि से अभिमानी सदा तृप्त है, नामानुरागी नामामृत सिन्धु की मीन है ।

नाम सप्रेम पियूष हृद, तिनहु किए मन मीन ।

यद्यपि संसार में मान प्राय: सबको पसन्द है । अपमान कोई नहीं चाहता, तथापि मान से ज्ञान का शीघ्र नाश बताया गया है— 'मान ते ज्ञान, पान ते लाजा ।' (अरण्य काण्ड) मान के त्याग से ही ज्ञान हो सकता है । 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं ।' (अरण्य काण्ड) इसलिए ऐसे भी सन्त हुए हैं, जिन्होंने अपनी अपकीर्ति व अपमान का प्रबन्ध स्वयं किया ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभिमान ज्ञान का विरोधी होने से श्री योग वासिष्ठ में निन्दित हुआ है ।

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवं ।
अभिमानं सुरायानं त्रयत्यक्त्वा सुखी भवेत् ।।

श्री गोस्वामी जी का श्री दोहावली जी में अपना सन्देश है—

शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम ।
तुलसी रहिये एहि रहनि, सन्त जनन को काम ।।

प्रस्तुत चौपाई की बात श्री गोस्वामी जी ने अन्यत: भी जोरदार शब्दों में व्यक्त की है–

सात टूक कौपीन में, अरु भाजी बिनु लौन ।
तुलसी रघुवर हिय बसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन । [दोहावली]

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दास रता एक नाम सों, उभय लोक सुख व्यागि ।
तुलसी न्यारो है रहै, दहै न दुख की आगि ॥४२॥

भगवान् का दास केवल भगवन्नाम से प्रेम करता है, दोनों लोकों के सुखों का त्यागी है । बह [जगत् की आसक्ति से] अलग होकर रहता है, दु:ख की अग्नि में नहीं जलता ।

इस दोहे में भी अति अनन्य हरिदास का ही वर्णन जारी है, जो निशि दिन भगवन्नाम लेता है । इस दोहे में चार बातें कही गई हैं– १–दास को केवल भगवन्नाम प्रिय है, जगत् में और कुछ भी प्रिय नहीं । २–दास लोक परलोक के सभी सुखों का त्यागी है । ३–वह समस्त आसक्तियों से अलग है । ४–वह दु:ख की अग्नि में नहीं जलता ।

अनन्य हरिदास को केवल हरिनाम प्रिय है, जगत् में और कुछ भी प्रिय नहीं है ।

विषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिविधि जीव जग वेद बखाने ।।
राम सनेह सरस मन जासू । साधु सभा बड़ आदर तासू ।।

विषयी जीवों को जगत् के भोग ही प्रिय हैं, भगवान् प्रिय हैं ही नहीं । बार बार विषय भोग के परिणाम में अनिष्ट की प्राप्ति होती है, परन्तु फिर भी विषयी जन भोग निष्ठ ही रहते हैं । जो विषयों से असन्तुष्ट होने लगता है बह सन्त भगवन्त की कृपा से जगदासक्ति के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

त्याग की साधना करता है। साधक की जगत् में प्रीति क्षीण होती है। भगवन्नाम में प्रीति उत्पन्न होती है और बढ़ती जाती है। अनन्य हरिदास की प्रीति भगवन्नाम (व यश) में ही होती है, अन्यत्र नहीं। इसलिए केवल भगवन्नाम से प्रीति बताई। अन्यत्र कहीं प्रीति न होना ही अनन्यता है।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता। (ना०भ० सूत्र)

एक मात्र भगवान् के अतिरिक्त कोई पूज्य नहीं है। (ला इलाह इल् अल्लाह— कुरान) यही अनन्यता है। 'तज्कुरुलाहि कसीरन्' अल्लाह की खूब याद करो। भगवान् की याद करते रहना अनन्य भक्ति का काम है। योग क्षेम वहन करने वाला भगवान् है। अनन्य भक्त का 'रिज्क' (योग क्षेम साधन) अल्लाह के जिम्मे है, वही 'रज्जाक' (रिज्क का देने वाला) है। विश्व भरण पोषण कर जोई। (बाल काण्ड) 'विश्वम्भर' देव वही है। अनन्य भक्त प्रेम पूर्वक भगवन्नाम में लगा रहता है। योगक्षेम से निश्चिन्त रहता है। अनन्य चिन्तन उसका काम है, चिन्तान नहीं। दूसरी जगह प्रीति न होने से चित्त के व्यग्र या विक्षिप्त होने की सम्भावना नहीं रह जाती। तभी भगवन्नाम का रस प्राप्त होता है, भक्त उसी अमृत सिन्धु में मग्न रहना चाहता है। उसे लोक परलोक दीन दुनियां की परवाह नहीं रहती।

उभय लोक (लोक, परलोक, दुनियाँ व उक़बा, अनुभूत और शास्त्रोक्त, दृष्ट व आनुश्रविक) के सभी सुखों का त्याग करके अनन्य हरिदास केवल भगवन्नामाराधन करता है। सुखों के त्याग के भी सोपान हैं। प्रस्तुत विषय से अवश्य आकर्षित हो जाना, परिणाम विचार न कर सकना पशुत्व है। विचार और मनन से अनिष्ट परिणाम को समझकर विषयाकर्षण से बचना मनुष्यता का लक्षण है। पश्यतीति पशुः, मनुते इति मनुष्यः। (दृष्टि से ही प्रेरित होता है वह पशु है,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनन करने वाला मनुष्य है)। जगत् के सभी विषयों की तीक्ष्णता, क्षणभंगुरता, असारता, अनिष्टरूपता, भ्रामकता, मृग तृष्णा रूपता को हृदयंगम करके उपराम हो जाना ज्ञान का और मुक्ति का लक्षण है। विषयी जगत् के विषयों में रमता है, साधारण साधक धर्म मर्यादानुसार विषय सेवन करना चाहता है। तपस्वी भी बहुधा इस लोक के सुखों का त्याग इस भाव से करता है कि स्वर्गादि लोकों में इनसे कहीं अच्छे भोगों की दीर्घकाल के लिए प्राप्ति होगी। इन्द्र पद प्राप्ति के लिए सौ महायज्ञ किये जाते थे। इस प्रकार महत् के लिए अल्प का त्याग होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वर्गकामी विषयों से विरक्त है वह क्षुद्र सुखों में न फँसकर महान् सुखों को पाना चाहता है। जैसे कोई व्यक्ति बहुत सा भोग त्याग करके उच्च पद प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील है परन्तु उसका लक्ष्य अधिक भोगों की प्राप्ति ही है। इसमें क्वचित् विवेक दृष्टिगोचर होता है परन्तु यह वैराग्य की स्थिति नहीं है।

एक सन्त को किसी राजा ने प्रणाम किया तो सन्त ने भी रांजा को प्रणाम कर दिया। राजा ने पूछा—आप ने मुझे क्यों प्रणाम किया? सन्त ने पूछा—आपने मुझे क्यों प्रणाम किया? राजा ने कहा—आप महान् हैं, आप ने सारी दुनिया को छोड़ दिया। सन्त बोले— मैंने तो इस दुनियाँ को दूसरी दुनियाँ को पाने के लिए छोड़ा है, वह इससे बड़ी है। आपने तो बड़ी वाली दुनियाँ (परलोक) को छोड़ दिया है। मुझसे बड़े त्यागी आप हैं।

जिन्हें परलोक के महान् सुख दुःखों का होश नहीं है या उन पर विश्वास नहीं है, वे उनसे प्रेरित नहीं होते परन्तु बहुत से विज्ञ सकाम साधक स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए यज्ञादि का अनुष्ठान करते देखे गए हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए ऐसा साधन सक्षम नहीं। 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञ रूपा' (उपनिषद्)। (यह यज्ञ रूप जहाज मजबूत नहीं है)।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शास्त्र में इस संसार में अनुभव में आने वाले सुखों को 'दृष्ट' कहा है, शास्त्रकथित अननुभूत विषयों को 'श्रुत' (सुने हुए) कहा है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार दोनों प्रकार के विषयों की तृष्णा निवृत्त होना वैराग्य है। (योगसूत्र १.१५) शास्त्र का उपदेश है कि विवेकी को इस संसार के सभी विषयों को नश्वर समझना चाहिए और परलोक के भोगों को भी वैसा ही समझना चाहिए–

विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्। श्रीमद्भा०)

भोग और मोक्ष की इच्छा रूपी चुड़ैल का नाच हृदय में होता रहे तब तक सच्ची अनन्य अहैतुकी अनपायिनी विशुद्ध भक्ति उदय कैसे होगी। वासना ग्रस्त व्यक्ति के लिए अनन्य भक्ति का सुख नहीं है।

मजा देता है जख्मे खजरे इश्क।
कभी ऐ बुल् हविस खाया तो होता!

बुल हविस = वासना ग्रस्त।

यह कहना काफी नहीं है कि हमने उभय लोक सुख त्याग दिया। जो ऐसा त्याग करेगा वह सुख दुःख की परिस्थितियों में समान रहेगा। एक सन्त (श्री रामप्रसाद शरण जी 'दीन') भगवत् कथा कहते थे, भगवान् के अपूर्व प्रेमी थे, उनका लिखा छन्द है—

चाहे कुबेर कि सम्पति होय चहै विधि द्वार ही द्वार फिरावै।
दीन इव मूरख होय चहै बहु शास्त्रानि को पढ़ि लोक रिझावै॥
चाहे अरोग रहैं नित ही चहै रोगी ह्वै सारी ही बैस बितावै।
देह धरे को यही फ़ल है, जो विदेहजा के पति को जस गावै॥

सुख त्याग का अर्थ यही है कि सुख प्राप्ति (अथवा दुःख निवृत्ति) की इच्छा न होना। दैवाल्लब्धेन सन्तोषः।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(प्रारब्ध प्राप्त सुख दुःख में सन्तुष्ट रहना)।

सन्त परदुःखकातर होते हैं, पर अपने दुःख की निवृत्ति के इच्छुक नहीं होते। तारीफ तो यही है कि बड़े से बड़ा दुःख उन्हें विचलित नहीं कर सकता। (गीता ६.२२)। उनका अखण्ड भगवत्स्मरण और अलौकिक आनन्द चलता ही रहता है। समझने वाले के लिए यही अनन्य भक्त के जीवन का अनुपम चमत्कार है।

अनन्य दास न्यारा (अलग) होकर रहता है। वह एकान्त प्रिय होता है। भीड़भाड़ में, महफिलों, मजलिसों में, उसे रुचि नहीं होती—अरतिर्जन संसदि (गीता १३.१०]। जन समुदाय से उसे उद्वेग तो नहीं होता परन्तु एकान्त में नाम स्मरण में डूबने की विशेष सुविधा रहती है। एक गुप्त भगवन्नामानुरागी सन्त जब समाधि में जाना चाहते थे तो कहते—अच्छा! अब जरा आनन्द ले लें। जगत् में किसी प्रकार की प्रीति या आसक्ति न होना ही न्यारा रहना है। भगवान् की लीला में, उनकी आज्ञा से, गुरु आज्ञा से वह बहुत कुछ पराक्रम कर सकता है, परन्तु अपना संकल्प और उत्तरदायित्व आदि छूट चुका। इसीसे कहा गया कि वह न्यारा [अलग] होकर रहता है, वह वन, उपवन, उद्यान, नगर कहीं भी मिले. है न्यारा ही।

इस रहनि का परिणाम यह होता है कि ऐसे सन्त दुःख की अग्नि में नहीं जलते। यह तो है ही कि ऐसे सन्तों को नरक की अग्नि [दोजख की आग, हेल् फ़ाएर] में कभी नहीं जलना पड़ता। इस संसार में भी तृष्णा दुख का कारण मानी गई है, बुद्धदेव द्वारा भी, शुकदेव द्वारा भी।

तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः।
[श्रीमद्भागवत २.१.३९]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शास्त्र में इस संसार में अनुभव में आने वाले सुखों को 'दृष्ट' कहा है, शास्त्रकथित अननुभूत विषयों को 'श्रुत' (सुने हुए) कहा है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार दोनों प्रकार के विषयों की तृष्णा निवृत्त होना वैराग्य है। (योगसूत्र १.१५) शास्त्र का उपदेश है कि विवेकी को इस संसार के सभी विषयों को नश्वर समझना चाहिए और परलोक के भोगों को भी वैसा ही समझना चाहिए–

विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्। श्रीमद्भा०)

भोग और मोक्ष की इच्छा रूपी चुड़ैल का नाच हृदय में होता रहे तब तक सच्ची अनन्य अहैतुकी अनपायिनी विशुद्ध भक्ति उदय कैसे होगी। वासना ग्रस्त व्यक्ति के लिए अनन्य भक्ति का सुख नहीं है।

मज़ा देता है जख्मे खंजरे इश्क।
कभी ऐ बुल् हविस खाया तो होता !

बुल हविस = वासना ग्रस्त।

यह कहना काफी नहीं है कि हमने उभय लोक सुख त्याग दिया। जो ऐसा त्याग करेगा वह सुख दुःख की परिस्थितियों में समान रहेगा। एक सन्त (श्री रामप्रसाद शरण जी 'दीन') भगवत् कथा कहते थे, भगवान् के अपूर्व प्रेमी थे, उनका लिखा छन्द है—

चाहे कुबेर कि सम्पति होय चहैं विधि द्वार ही द्वार फिरावैं।
दीन इव मूरख होय चहैं बहु शास्त्रानि को पढ़ि लोक रिझावैं॥
चाहे अरोग रहैं नित ही चहैं रोगी ह्वै सारी ही वैस बितावैं।
देह धरे को यही फ़ल है, जो विदेहजा के पति को जस गावैं॥

सुख त्याग का अर्थ यही है कि सुख प्राप्ति (अथवा दुःख निवृत्ति) की इच्छा न होना। दैवाल्लब्धेन सन्तोषः।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(प्रारब्ध प्राप्त सुख दुःख में सन्तुष्ट रहना)।

सन्त परदुःखकातर होते हैं, पर अपने दुःख की निवृत्ति के इच्छुक नहीं होते। तारीफ तो यही है कि बड़े से बड़ा दुःख उन्हें विचलित नहीं कर सकता। (गीता ६.२२)। उनका अखण्ड भगवत्स्मरण और अलौकिक आनन्द चलता ही रहता है। समझने वाले के लिए यही अनन्य भक्त के जीवन का अनुपम चमत्कार है।

अनन्य दास न्यारा (अलग) होकर रहता है। वह एकान्त प्रिय होता है। भीड़भाड़ में, महफिलों, मजलिसों में, उसे रुचि नहीं होती—अरतिर्जन संसदि (गीता १३.१०]। जन समुदाय से उसे उद्वेग तो नहीं होता परन्तु एकान्त में नाम स्मरण में डूबने की विशेष सुविधा रहती है। एक गुप्त भगवन्नामानुरागी सन्त जब समाधि में जाना चाहते थे तो कहते—अच्छा! अब जरा आनन्द ले लें। जगत् में किसी प्रकार की प्रीति या आसक्ति न होना ही न्यारा रहना है। भगवान् की लीला में, उनकी आज्ञा से, गुरु आज्ञा से वह बहुत कुछ पराक्रम कर सकता है, परन्तु अपना संकल्प और उत्तरदायित्व आदि छूट चुका। इसीसे कहा गया कि वह न्यारा [अलग] होकर रहता है, वह वन, उपवन, उद्यान, नगर कहीं भी मिले. है न्यारा ही।

इस रहनि का परिणाम यह होता है कि ऐसे सन्त दुःख की अग्नि में नहीं जलते। यह तो है ही कि ऐसे सन्तों को नरक की अग्नि [दोजख़ की आग, हेल् फ़ाएर] में कभी नहीं जलना पड़ता। इस संसार में भी तृष्णा दुख का कारण मानी गई है, बुद्धदेव द्वारा भी, शुकदेव द्वारा भी।

तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः।
[श्रीमद्भागवत २.१.३९]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तृष्णा रहित व्यक्ति दु:खी नहीं होता, दु:खद परिस्थितियों मे भी अव्यथित, समाहित, शान्त रहता है ।

दु:ख से सभी प्राणी उद्विग्न होते हैं, सुख से उल्लसित होते हैं, परन्तु अनन्य हरिदास इसमें न्यारे [अलग] निराले होते हैं, क्योंकि— दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं । (अयोध्या काण्ड) सुख दु:खादि द्वद्वों से परे रहते हुए, भगवत् शरणागति में पड़े रहना और अनन्य भाव से भगवद्भजन करते रहना ही हरि दासों का गौरव है । उन्हें दु:ख अग्नि स्पर्श नहीं कर पाती ।

जैसे किसी जंगल के बीच श्री गंगा जी बह रही हों । उस वन में दावानल लग जाय और भयंकर आग से बचने के लिए कोई हाथी श्री गंगा जी की धार में जाकर खड़ा हो जाय, तो वह हाथी आराम से खड़ा रहेगा । वह दावानल से तप्त नहीं होगा । इसी तरह हरिदास भी उस हाथी [गंगाम्भस्थ इव द्विप: श्रीमद्भागवत ११.७.२९] की तरह ससार के दावानल से तप्त नहीं होता ।

श्री महाप्रभु चैतन्यदेव जी ने चैतन्याष्टक के प्रथम श्लोक में श्रीकृष्ण संकीर्तन को 'भव महा दावाग्नि निर्वापनम्' भव की महान् दावाग्नि का शामक बताया ।

अनविचार रमणीय सदा, संसार भयंकर भारी । (वि०प०)

ज्ञान की दृष्टि से संसार रमणीक नहीं, दावाग्निवत् भयंकर है, परन्तु भगवन्नाम में मस्त हरिदास की शीतलता को दावाग्नि नष्ट नहीं कर सकती । गंगा के पानी में खड़े हुए हाथी की तरह ऐसे सन्त 'भव महा दावाग्नि' की लपटों से पूर्णत: सुरक्षित हैं । दह्यमान नहीं होते ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संसार के अन्य आने जाने वाले दु:खों से अधिक भयंकर संसार के बन्धन का दु:ख है, विवेकी की दृष्टि में। भक्तराज प्रह्लाद जी ने नृसिंह भगवान् से कहा था कि मैं आपके भयानक मुख दाढ़ों और दाँतों से नही डरता हूँ, परन्तु यह जो आपने संसार चक्र चला रक्खा है, इससे डरता हूँ। [श्रीमद्भागवत ७.९.१५-१६] परन्तु आगे इसी स्तुति में उन्होंने भव दु:ख से भी अनुद्विग्न होना बताया—

नैवोद्विजे पर दुरत्यय वैतरण्यास्त्वद्वीर्य गायन महामृत मग्न चित्त:।
(७.९.४३)

आपके चरित्रों के गायन में मग्न चित्त होने से मैं इस कठिन भव (संसार] रूपी वैतरणी नदी से नहीं घबराता हूँ।

श्री राम नाम अनन्य हरिदासों की सभी प्रकार की दु:खाग्नि से सुरक्षित रखता है और अमृत सिन्धु में मग्न रखता है।

राम नाम काम तरु, देत फल चारि रे।
कहत पुरान वेद पण्डित पुरारि रे। [वि०प० ६७]

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ अध्याय १३ में भवाटवी [संसार रूपी जंगल] का वर्णन है। इसमें साङ्ग रूपक है। पूरे अध्याय में संसार को जंगल के रूप में उल्लिखित किया है। इससे संसार की भयानकता स्पष्ट हो जाती है। उसके बाद एक अध्याय में उस रूपक का स्पष्टीकरण दिया है। भवाटवी वर्णन का प्रथम श्लोक यह है—

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो।
रजस्तम: सत्व विभक्त कर्मदृक्॥
स एव सार्थोर्थ पर: परिभ्रमन्।
भवाटवीं याति न शर्म विदन्ति॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भगवान् की अनादि माया के द्वारा यह जीव दुस्तर संसार में डाल दिया गया है। माया के तीन गुण सतोंगुण, रजोगुण, तमोगुण के प्रभाव से यह नाना प्रकार के कर्म करता है, उन कर्मों से फलित प्रारब्ध की पूंजी लेकर यह अर्थ परायण (लाभार्थी) जीव भोग सुख रूपी लाभ के लिए व्यापारी की तरह घूम रहा है, परन्तु वह संसार रूपी जंगल में भटक जाता है, उसे विश्राम (शान्ति) नहीं मिलता।

आधुनिक महानगरों के वैभव विलास को देखकर कौन संसार को जंगल के समान मानेगा, परन्तु भवाटवी वर्णन के श्रवण, पठन, पाठन, मनन से संसार वैसा ही विकराल सिद्ध होता है। इसमें जीव भटकता रहता है, शान्ति प्राप्त नहीं करता। चिन्ताग्नि, दुःखाग्नि में जलता है। परन्तु अनन्य हरिदास इस सब दुःख से एकदम छूटा हुआ है। इस असार संसार में वैराग्य पूर्वक भजन ही एक मात्र जीवन का सार है।

श्री रामचरित मानस में नामानुरागी सन्तों के लिए कहा है—

फिरहिं सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने॥

(बाल काण्ड)

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शान्ति वर्णन

रैन को भूषन इन्दु है, दिवस को भूषन भानु।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति कौ भूषन ग्यानु ॥४३॥

रात की शोभा [आभूषण] चन्द्रमा है, दिन की शोभा [आभूषण] सूर्य है, दास की शोभा भक्ति है, भक्ति की शोभा ज्ञान है।

श्री भर्तृहरि जी का श्लोक है—

या राकाशशि शोभना निर्धना सा यामिनी यामिनी।
या सौन्दर्य गुणान्विता पतिरता या कामिनी कामिनी ॥
या गोविन्द पदारविन्द मधुरा, सा माधुरी माधुरी।
या लोकद्वय साधिनी चतुरता, सा चातुरी चातुरी ॥ (नीति शतक)

जिस रात है शरत् पूर्णिमा का चन्द्र आकाश में हो, उसकी चाँदनी छिटकी हो, बादल न हों, वही रात सचमुच [असली या उत्तम] रात है। जो नारी रूपवती हैं, सुन्दरी है और पति से सच्चा प्रेम करती है, वही [सच्ची) नारी है, वही मधुरता [उत्तम] मधुरता है जो भगवान् के चरण कमलों की माधुरी है, वही चतुराई [सच्ची या उत्तम] चतुराई है जो लोक परलोक दोनों को सँवारने वाली हो। रामचरित मानस अयोध्या काण्ड में कहा है—

जिमि भानु बिनु दिनु, प्रान बिन तनु, चन्द बिनु जिमि यामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु, समुझि धौं जिय भामिनी ॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सूर्य के बिना दिन फीका, आभा रहित रहता है और चन्द्र के बिना अँधेरी रात सूनी और शोभा रहित रहती है।

भगवान् कृष्ण की रासलीला शरद पूर्णिमा को हुई थी। चन्द्रोदय हो चुका था। चन्द्रोदय की अरुणिमा पूर्व दिशा में छाई हुई थी। ऐसा जान पड़ता था कि चन्द्रमा की बहुत दिनों बाद अपनी प्रिया प्राची दिशा से भेट हुई तो उसने प्रिया के मुख में लाल कुंकुम का लेप किया। शरद ऋतु में मल्लिका फूल रही थी। इस शोभा का वर्णन करके भागवतकार कहते हैं कि—भगवान् ने भी ऐसी सुहावनी रात को देखकर अपनी योग माया से रास लीला करने की इच्छा की। (स्क० १० अ० २९)

कुहरे या मेघ से या ग्रहण से यदि सूर्य अदृष्ट हो जाय तो स्फूर्ति कम हो जाती है, पाचन क्रिया कम अच्छी तरह होती है, सुस्ती आती है। दिन फीका लगता है, शोभायमान नहीं होता।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण देकर कवि ने कहा—दास को भूषन भक्ति है। भक्ति के बिना दास की शोभा नहीं। सेवक तो वेतन भोगी और निश्चित समय पर काम करने वाला भी हो सकता है, पर दास तो स्वामी की सम्पत्ति की तरह है। वह सच्चा सर्वकालिक सेवक है, वह सब प्रकार से सब समय सेवा करे। भक्ति भज् धातु से सेवा के अर्थ में सिद्ध शब्द है। दास को सेवा ही करनी है। भगवान् बाजार में कोई दास नहीं खरीदते। कोई दाम भी नहीं चुकाते। भगवान् के अनन्य भक्त बिना मोल के गुलाम बन जाते हैं। वे कोई वेतन रुपए, पैसे, सम्पति के रूप में नहीं लेते, न सुख, सुविधा सत्कार, दक्षिणा आदि के ही रूप में कुछ लेते हैं। बिल्कुल मुफ्त में सेवा करते हैं, बदले में कुछ नहीं चाहते। प्रह्लाद भक्त ने जो भगवान् से यह भी कह दिया कि जिसे आपसे कुछ आशीर्वाद [वरदान] पाने की आशा है, वह आपका भृत्य (सेवक) नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, वह बनिया है, अपनी सेवा बेचना चाहता है। [श्रीमद्भागवत ७.१०.४] । भगवान् के भक्त भगवत्सेवा ही चाहते हैं। और कुछ नहीं चाहते। यही सेवा उनका सर्वस्व है। भगवत्सेवा के विकल्प में चार प्रकार की मुक्ति [सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य] में से कोई भी प्राप्त तो भी वे नहीं लेते–

दीयमाना न गृहणन्ति, बिना मत्सेवन जनाः ।। [श्रीमद्भा०]

सगुणोपासक मोक्ष न लेहीं। तिन कहँ राम भगति निज देहीं ।।
[लंका काण्ड]

भगवान् किसी को जबर्दस्ती अपना दास नहीं बनाते। भक्त स्वय भगवान् की दासता के लिए आकांक्षी प्रत्याशी होता है। भगवान् भक्त के निष्काम [तस्मात् अकारण] स्वामी हैं और भक्त उनका निष्काम भक्त है। यह कोई सरकारी नौकरी की तरह नहीं है कि सरकार काम कराने के लिए नौकर रक्खे और सेवक वेतन के लिए काम करे। भक्त और भगवान् का नाता राजा और राजसेवक के नाते की तरह नहीं है। (श्रीमद्भागवत ७.१०.६) यहाँ प्रेम की दासता है, निष्काम परन्तु निष्ठापूर्वक अखण्ड सेवा है। कानूनी दासता (जब थी) में बेवसी थी, बेमन की सेवा करनी होती थी। अनन्य हरिदास के लिए सेवा एक गौरव है। अपमान या दण्ड रूप नहीं है, वरदान स्वरूप, पारितोषिक स्वरूप हैं। इस सेवा में सन्मान है, गौरव है, रुतबा बढ़ता है, हैसियत बनती है।

बेहतर हुँ मैं शाहों से, तेरे दर का गदा हूँ।' गदा = भिक्षुक
'मुफ्लिस हूँ तो क्या बात है, हूँ मैं से न खाली।
बिल्लौर से बेहतर है मेरा जामें सफ़ाली ।।

यदि बन्दे में बन्दगी न हो, खादिम (नौकर) में खिदमत न हो, सेवक में सेवकाई न हो, दास में प्रेमपूर्वक भक्ति न हो तो रह क्या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गया ? सारी शोभा समाप्त है। आदर्श यही है कि दास के लिए भक्ति हार (माला) रूप हो भार रूप न हो। दास के लिए भक्ति न दण्ड के समान है और न भारवहन के समान है, बस उसकी निष्ठा है, शौक है, गौरव है, सन्मान जनक है, शृंगार रूप है, भगवान् के दास की शोभा ठाठदार वर्दी से नहीं, भक्ति ही उसका भूषण है।

भक्ति का भूषण ज्ञान है। भक्ति का वही रूप उत्तम और शोभायमान है जो ज्ञान से युक्त सो। इस ग्रंथ में ज्ञान और भक्ति के बीच कोई विरोध मान्त नहीं हुआ हैं। किसी किसी को यह कल्पना होती है कि गोस्वामी जी भक्तिवादी थे, अतः यह ग्रंथ श्री गोस्वामी जी का नहीं जान पड़ता। परन्तु सचमुच यहाँ कोई बात गोस्वामी जी की भक्ति के विरुद्ध नहीं है। भक्ति ज्ञान वैराग्य का जो समन्वित रूप श्रीमद्भागवत में प्राप्त होता है वही यहाँ है और वहीं राम चरित मानस में है यथा

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संयुति विरति विवेक।
नेहिं न चयहि नर मोह बस, कल्पहिं पन्थ अनेक।
विरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सोइ हरि भगति, देखु खगेस विचारि॥
ज्ञानी प्रभुहि विशेष पियारा॥ (बाल काण्ड)

यह सही हैं कि भक्ति साहित्य में कभी कभी ज्ञान का निरादर हुआ है। और भक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा हुई है और ज्ञान के साहित्य में भी कभी कभी ज्ञान को एकमात्र मोक्ष का एकमेव स्वतन्त्र साधन प्रदर्शित बताया गया है। ऐसे निरूपण में ज्ञान व भक्ति को सम्बद्ध परपराश्रित या समन्वित नसी दिखाया गया है। मोक्ष हेतु एक को स्वतन्त्र रूप से सक्षम कारण बताया गया है, परन्तु ज्ञान से आलोकित व मण्डित भक्ति श्रेष्ठ है यह सिद्धान्त इस ग्रन्थ में या राम चरित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मानस में नया या अनोखा नहीं है। ज्ञानी त्वातमैव मे मतम। गीता ७.१८ में भी ज्ञानी भक्ति की श्रेष्ठता कही गयी है।

साम्प्रदायिक आग्रह के कारण भक्तियोग वाले ज्ञान को और ज्ञानयोग थाले भक्ति को श्रेष्ठतर मानने को तैयार नहीं होते। संस्कृत में यह विवाद हैं परन्तु अति प्रमुख और विस्तृत नहीं है। हिन्दी साहित्य में गोपी उद्धव संवाद (भ्रमर गीत) को लेकर कई कवियों ने ज्ञान और योग पर काफी कटाक्ष किये हैं। ऐसे व्यंग साहित्य में श्री रत्नाकर जी का 'उद्धव शतक' प्रमुख और महत्वपूर्ण है। भक्ति साहित्य में उसका महत्व है। परन्तु ज्ञान का उपहास सिद्धान्त रूप से ग्राह्य नहीं है। नि:सन्देह श्री गोस्वामी जी भक्ति प्रधान विचार धारा अपनाए हुए हैं परन्तु वे श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ को मानते हैं जिसमें ज्ञान विराग का महत्व पूर्ण स्थान है श्रीमद्भागवत माहात्म्य में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति के पुत्र माना है। व्यापक उपेक्षा के कारण वे दुर्बल और मरणासन्न हो गये। भक्ति युवती रही अपने पुत्रों की दशा पर उसे घोर दु:ख हुआ। उन्हें स्वस्थ और बलिष्ठ देखकर ही प्रसन्न हुई। वैराग्य रहित भक्ति के भ्रष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है और ज्ञान का निरादर होने पर भक्ति अविवेक पूर्ण मार्गों में भटक कर निन्दित और निस्तेज हो सकती है।

विरक्त पुरुष ही सच्ची भगवद्भक्ति करु सकता है—

जिन रघुबीर चरण अनुरागे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे।।वि० प०।।
तथा– रमा विलास राम अनुरागी। सजत वमन जिमि नर बड़भागी।।
(अयोध्या काण्ड)

वैराग्य रूप ढाल ज्ञान रूप तलवार से काम क्रोधादि विकारों पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची हरि भक्ति है। (उत्तर काण्ड) सम्यक विचारोपरान्त यही सिद्धान्त फलित होता है। यह कैसे हो सकता है कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री वैराग्य संदीपनी में जिस भक्ति का परम आदर किया जाय, वह वैराग्य से असंम्बन्धित हो। सन्तो की तो यह मान्यता है कि यह ग्रन्थ उस समय प्रणीत हुआ जब श्री गोस्वामी जी के अन्तः करण में उत्कट वैराग्य लहरा रहा था। श्री काग भुशुण्डि जी ने उत्तर काण्ड में अपना अनुभव बताया है कि जब—'मन ते सकल वासना भगी, तब, केवल राम चरण लयलागी अर्थात् वासना के अत्यन्तिक निरसन होने पर ही अनन्य भक्ति विकसित होती है। भक्ति के आचार्यो का यही मत है। वैराग्य की अन्तिम परिणति ज्ञान है। ज्ञान से आलोकित भक्ति स्थिर दृढ़ होती है, निःस्वार्थ अहैतुकी होती है। ऐसी भक्ति की श्रेष्ठता में कोई सन्देह नहीं है। अतः अवश्य ही ज्ञान भक्ति का भूषण है। यदि कोई भक्ति वादी भूषण-धारक को भूषण से श्रेष्ठ मानता हा, तो वह वैसा मान सकता है यह श्री गोस्वामीजी का अनुपम मर्यादावाद है कि यथासंभव किसी की निष्ठा को ठेस नहीं पहुँचाते।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग ।
त्याग को भूषन शान्ति पद, तुलसी अमल अदाग ।।४४।।

ज्ञान का भूषण ध्यान है, ध्यान का भूषण त्याग है, त्याग का भूषण निर्मल, निर्दोष शान्ति पद हैं,

श्री गोस्वामी जी ने ज्ञान को अन्तिम स्थिति घोषित नहीं किया उन्होंने उसी ज्ञान को अलकृत, विभूषित माना जिसके साथ ध्यान की दशा बनी रहे । इसके विरुद्ध कुतर्क करना अति सरल है । यथा— पातज्जल अष्टाग योग में धारणा ध्वान के बाद अन्तिम अष्टम् पद समाधि है । समाधि में वृत्तियों का पूर्ण निरोध और दृष्टा को आत्म स्वरूप का ज्ञान होता है । तो फिर अष्टम सोपान का भूषण सप्तम सीपान को क्यों बताया? ध्यान भी एक क्रिया है, साधना है, स्वरूप ज्ञान के बाद कृतकृत्यता प्राप्त कर लेने पर ध्यान कैसा और वह भूषण रूप क्यों ? समाधि में हम जान बूझकर प्रवेश करते हैं, फिर समाधि से उतरते भी हैं, यह तो कर्म हुआ, स्वरुप ज्ञान की सहज स्थिति तो नहीं हुई । ध्यान से समाधि में प्रवेश करना एक कर्म है, कर्म से कर्मजन्य दशा ही प्राप्त हो सकती है, सहज स्वरुप की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती । अन्तः करण की आने जाने वाली दशाओं को आत्म— स्थिति नहीं माना जा सकता आदि आदि ।

शब्द ग्राही बुद्धि से ऐसे कुतर्क उठाने के स्थान पर अब दूसरी तरह की विचार धारा पर ध्यान दीजिये । यह कहना आसान है कि ज्ञान प्राप्त करने पर सन्त भावातीत हो जायगा वह किसी भाव से उद्वेलित नहीं होगा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

न लौकिक न पारलौकिक, लेकिन यह मान लिया गया है कि ज्ञान प्राप्ति का प्रयोजन दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति ओर अखण्ड सुख की प्राप्ति हैं । भगवान् को सच्चिदानन्द स्वरूप महा गया है यह भी माना गया है, जहाँ जिसको आनन्द आता है, वरां उसका प्रेय हो जाता है, तस्मात् जहाँ परमानन्द की अनुभूति होगी, वहाँ परम प्रेम हो जायगा, भगवान् परमानन्द स्वरूप हैं, परमानन्द की अनुभूति होने पर, परम प्रेम होना सहज और अनिवार्य है, तो फिर परम प्रेमास्पद का ध्यान सरल और सहज रूप से क्यो न होगा ? जिस ज्ञान के साथ ध्यान की तल्लीनता नहीं, उसे परमानन्द के स्वरुप के ज्ञान के रूप में कैसे स्वीकार किया जाय ?

आजकल ऐसे बहुत से साधु, पंडित , प्रचारक मिलते हैं जो विद्वता पूर्ण ढँग से ज्ञान का निरुपण करते हैं और अपने प्रवचनों में अद्वैत को सिद्ध करते हैं। इनमें से अफिकांश भक्ति भाव विभोर कभी कहीं होते, ऐसा जान पड़ता है कि भक्ति भाव में विभोर होना उनके गौरव के विरुद्ध है । प्राय: उनमें ऐसा भाव रहता है कि उपासना में उन्हे द्वैत भावकी झलक आती हैं क्यों कि अपने से भिन्न और श्रेष्ठ व्यक्ति की उपासना की जा सकती है । प्राय: यह बल्पना होती है कि अपने से भिन्न किसी इष्टदेव की उपासना करने वाला द्वैत की निन्न भूमिका में स्थित है, जब कि वे अपनी अद्वैत स्थिति सिद्ध करना चाहते हैं । परन्तु सचमुच यह विचार ठीक नहीं है, यदि ज्ञानी चलता फिरता, खाता सोता बातचीत करता, प्रवचन देता और प्रश्नों के उत्तर देता हुआ भी अपनी अद्वैत स्थिति का भंग नहीं मानता तो यह कल्पना ठीक न होगी कि किसी उपासना से उसका अद्वैत खण्डित होगा।

कभी कभी यह भी देखा गया है कि अद्वैत प्रतिपादक प्रवचन कर्ता अपनी प्रतिष्ठा व आदर सत्कार के आग्रही होते हैं, और उसमें कुछ कमी आ जाय तो नाराज भी हो सकते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्रोध कि वुद्धि द्वैत विनु, द्वैत कि विनु अज्ञान । (उत्तर काण्ड)

इस प्रकार क्रोध के प्रगट हो जाने से द्वैत और अज्ञान की स्थिति सिद्ध होती है, अद्वैत स्थिति सिद्ध नहीं होती । भगवान् की भक्ति अभिमान की दवा है । भक्ति भाव विभोर होने से अन्त:करण की शुद्धि पूर्वक ज्ञान की स्थिति सरल बनती है ।

सबको भगयत् रूप देखने से और सबका आदर करने से मान से ज्ञान खण्डित नहीं होता । (सबहि मान प्रद आपु अमानी) उत्तर काण्ड अभिमान से पूरी सुरक्षा रहती है । इसलिए भाव विभोर होने से ज्ञान की स्थिति सरल हो जाती है और टिक सकती है जबकि अभिमान ज्ञान का बैरी है ।

ज्ञान के प्रतिपादक लोगों के लिए यह खतरा रहता रहता है कि वे कहीं कोरे वाचिक ज्ञानी न रह जायँ । यदि ज्ञान सम्बन्धी बहुत उत्तम प्रवचन देने से ही ज्ञानी होने की मान्यता मिल जाय तो अपरोक्षानुभूति की आवश्यकता ही क्यों पड़े ?

यह भी भूला नहीं जा सकता कि ज्ञानी, अद्वैतदर्शी की दृष्टि में उसका शरीर स्वप्नवत्, कठपुतली की तरह अथवा सिनेमा के पात्रों की तरह है दूसरे शरीरों में और उसके शरीर में ज्ञान की दृष्टि में कोई पूज्यता या श्रेष्ठता का भेद नहीं माना जा सकता । इसलिए यदि किसी ने अपनी पूज्यता की कल्पना की तो वह ज्ञान की भूमिका से वंचित हुआ ।

यदि अद्वैत प्रतिपादक के प्रवचन के अतिरिक्त अन्य समय में लौकिक भाव बने रहे और समस्याओं की चिन्ता व्याप्त रही तो उसका ज्ञान असिद्ध है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यदि यह बात भली भाँति मान ली जाय कि जगत असत्य है आत्म स्वरूप ही सत्य है तो फिर यही अनुकूल पड़ेगा कि आत्म स्वरूप का श्रवण, मनन निदिध्यासन बराबर करते रहा जाय। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सच्चा ज्ञानी आत्म पद में लीन रहेगा। यही ध्यान है।

यदि कोई सन्त निर्गुण निराकार ब्रह्म में लीन रहता है तो भी वह ध्यान है और यदि वह सगुण साकार इष्टदेव की मूर्ति का ध्यान करता है और उसी में तल्लीन रहता है तो भी वह ध्यान है। भगवान् के स्वरूप का ध्यान होते रहने से भक्त ज्ञान की दशा में स्थित हो जाता है। जिस ज्ञान के साथ भगवान् की खूब याद नहीं है उसके स्थिर रहने का बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता, परन्तु जहाँ बराबर भगवान् का ध्यान रहता है वहां ज्ञान की अखण्ड भूमिका बनी रहती है। इसलिए ध्यान ज्ञान का भूषण है।

श्री गोस्वामी जी महाराज ने प्रस्तुत दोहे में यह सन्देश दिया है कि ध्यान का भूषण त्याग है। इस सन्देश को समझ लेना चाहिए। जहाँ ज्ञान और ध्यान की दशाएँ प्राप्त हैं वहाँ वैराग्य पूर्वक भजन की बहार छायी रहती है। ऐसे सन्त को कोई भी लौकिक वस्तु प्राप्तव्य नहीं लगती ऐसी दशा में उसे विषय चिन्ता की प्रेरणा नहीं होती। उसे किसी भी भौतिक वस्तु का आनन्द प्राप्त करने की चेष्टा नहीं रहती। इसलिए वह सहज ही भगवान् के ध्यान में मस्त रहता है।

श्री गोस्वामी जी ने इसे ही चतुराई माना है कि चित वृत्ति भगवान् के चरणों में लीन रहे।

तुलसी चतुराई सोई, वृत्ति राम पद लीन।
पर धन पर मन हरन कहँ वेश्या परम प्रवीन॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिसको केवल ध्यानावस्था का सुख अभीष्ट है, और कोई भौतिक वस्तु अभीष्ट नहीं हैं वही संसार की तमाम वस्तुओं से हटकर भगवत् चरण कमलों में लीन रह सकता है। जिस किसी की इस जगत् के किसी किसी स्थान में आसक्ति बनी हुई है उससे विषय चिन्तन होगा ही और वह निर्विघ्न होकर ध्यान में तल्लीन न हो सकेगा। ध्यान की उत्तम दशा वही है जिसमें विक्षेप की सम्भावना न हो। जिसने संसार की सभी वस्तुओं को मन से त्याग दिया है उसे ही ध्यान की सर्वोत्तम दशाएँ प्राप्त हो सकती हैं। यहाँ श्री गोस्वामी जी का यह सन्देश समझना चाहिए कि त्याग के बिना ध्यान का चरमोत्कर्ष नहीं होता। इसलिए त्याग ध्यान का भूषण माना गया है। कभी कभी कोई कोई साधक यह कल्पना करते हैं कि ध्यान की साधना निश्चित समय में रोज चलेगी, परन्तु शेष समय जगत् के व्यवहार को सिद्ध करने के लिए है। ऐसा विचार इस बात का द्योतक हैं कि ज्ञान और ध्यान की उच्च दशाएँ अभी प्राप्त नहीं हुई हैं। जगत् को स्वप्न या मृग तृष्णा के समान जान लेने पर किसी लौकिक व्यवहार की चिन्ता नहीं रह सकती। जगत् का अन्तःकरण से पूरा पूरा त्याग कर देना ध्यान की दशा की शोभा है, ऐसे त्याग के बिना ध्यान निर्विघ्न नहीं रह सकता।

कभी कभी ऐसे लोग देखे गए हैं कि जो इस दुनियाँ के ठाठ-बाट तथा ध्यान की बहार, दोनों चाहते हैं। ऐसे ही लोग निश्चित समय में ध्यान और अन्य समय में कर्तव्य सम्पादन की सावधानी की बात सोचते हैं। ऐसे लोगों का संत्कार भी बहुत से लोग करते हैं और समझते हैं कि वही दशा अच्छी है जिसमें अमीरी और फकीरी दोनों का आनन्द आ सके। परन्तु इस प्रकार कर्तव्य के दो मोर्चे मान लेने पर निर्विक्षेप ध्यान का आनन्द बराबर प्राप्त करने का सुख नहीं भोगा जा सकता। त्याग ज्ञान की दशा को गुप्त और सुरक्षित रखता है। इसलिए त्याग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ध्यान की शोभा है, आभूषण है। बाहरी ठाठ-बाट के जीवन के साथ भी उत्तम ध्यान जनकादि में पाया गया, परन्तु ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं और वे भी अपवाद रूप नहीं हैं, क्योंकि जनकादि का मार्ग त्यागपूर्ण ही है, त्याग रहित नहीं। जो त्याग ध्यान का भूषण है, वह मन से किया हुआ त्याग है, बाहरी नहीं। अंत: और बाह्य उभय प्रकार का त्याग हो तो क्या ही कहना

कटती है रघुनाथ सँग, बांधि जटा सिर केस। (श्री गोस्वामी जी)

परन्तु यदि अन्त: त्याग परिपूर्ण है तो ध्यान के साथ बादशाहत भी चल सकती है, अन्यथा नहीं। जनकादि के ध्यान का भी भूषण त्याग ही था।

आजकल भी कोई कोई सच्चे सन्त ऐसे मिलते हैं, जिनके जीवन में बाहरी अमीरी दिखाई पड़ती है, परन्तु अन्दर से फ़कीरी ही है। ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। अधिकांश साधक बाह्य अमीरी के वातावरण में फ़कीरी नहीं पा सकते, फ़कीरी में टिक भी नहीं सकते। कोई कोई जो जनकादि की तरह भीतर से फ़कीर और ऊपर से अमीर दिखाई पड़ते हैं, उनकी अमीरी प्रारब्ध प्रदत्त होती है, न कि इच्छापूर्वक साधन करके प्राप्त की हुई। भीतर से पूर्ण त्याग होने पर, बाहरी जीवन में त्याग या ग्रहण किसी की भी प्रेरणा नहीं रहती (पूर्ण तटस्थता रहती है।), इसलिए बाहरी अमीरी जारी रह सकती है। कभी कभी अपवाद स्वरूप ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें बाहरी ठाठ-बाट आवरण का काम करता है। गोपनीयता में सुरक्षा है, बहुत से सन्त लोकमान्यता से बचकर गुप्त रहना चाहते हैं। गुप्त रहने के लिए कुछ आवरण चाहिए। यदि उनके जीवन में कुछ ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जिनसे साधारण जनों में उनका सन्त स्वरूप खण्डित या असिद्ध माना जाय, तो इनके सहारे वे गुप्त रह सकते हैं। जनक, भीष्म, तिलक या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गाँधी की तरह यदि लोक व्यवहार में अति संलग्नता हो, तो बहुतों की दृष्टि में साधुता असिद्ध होती है। इसी प्रकार सम्पन्न व्यक्ति भी साधारण जन की दृष्टि में सन्त नहीं होते। अत: अमीरी भी कभी कभी सन्त को गुप्त रखने में सहायक होती है। अधिकाँश प्रकरणों में वाह्य जीवन के ठाठ बाट विपरीत प्रभाव ही रखते हैं, ध्यान के विघ्न रूप ही सिद्ध होते हैं।

जैसे ध्यान से रहित ज्ञान के विषय में आशंका रहती है कि वह कोरा वाचिक ज्ञान न ठहरे, उसी तरह ज्ञान के बिना ध्यान के विषय मे यह आशंका रहती है कि वह कहीं बक-ध्यान (बगुला भक्ति) न सिद्ध हो जाय। जिसका अन्त:करण त्याग से परिपूर्ण नही है, वह प्राय: भगवान् का ध्यान छोड़कर अपनी आसक्ति के विषय का ध्यान करने लगेगा। अथवा उसका ध्यान निष्काम नहीं होगा, उसमें अभिलषित वस्तु की प्राप्ति की कामना रहेगी। ऐसी कामना भक्ति के प्रवाह में बह सकती है—

उर कुछ प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
(सुन्दर काण्ड)

सभी वासनाओं के शान्त हो जाने पर निर्मल भक्ति का उदय होगा और निर्विक्षेप, निष्काम, विशुद्ध प्रेममय ध्यान हो सकेगा। इस प्रकार सभी तरह से विचार करने पर यही परिणाम आता है कि सिद्ध और पुष्ट ध्यान त्याग से परिपूर्ण ही रहेगा। त्याग ही उसकी शोभा है, आभूषण है।

त्याग का भी भूषण शान्ति पद बताया गया है, सो भी अमल (निर्मल, विशुद्ध) और अदाग (निर्दोष), त्रुटि रहित. निष्कलंक, निरंजन, निर्विकार। त्याग का आभूषण रूप से उल्लेख करते हुए कवि ने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शान्ति-पद का वर्णन प्रारम्भ किया है। यही ग्रन्थ का अन्तिम प्रकरण है। कवि का उपदेश गीतोक्त भक्तियोग के प्रमाण के अनुरूप है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्म फल त्यागस्, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। (गीता १२.१२)

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है, त्याग से तुरन्त शान्ति लाभ होता है।

उपासना का साधक अभ्यास करता है, उससे ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है क्योंकि बोध के पश्चात् साधन भक्ति सिद्ध भक्ति में बदल जायगी। ज्ञानी से भी ध्यानी श्रेष्ठ है, ध्यान भी विक्षिप्त रहेगा जब तक फलासक्ति रहेगी अतः सर्व कर्म फल त्यागी श्रेष्ठ है, त्याग का सद्यः परिणाम शान्ति है, वही त्याग का पर्यवसान है, शोभा है आभूषण है।

त्याग का आभूषण शान्ति पद को बताया क्योंकि वास्तविक त्याग का फल शान्ति ही है। "सर्व परिग्रह भोग त्यागः। कस्य सुख न करोति विरागः।" (आदि शंकराचार्य) दो प्रश्न अध्यात्म व वैराग्य के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

सुख विषय भोगों से मिलेगा या वैराग्य से ?
शान्ति परिग्रह से मिलेगी या अपरिग्रह से ?

श्री शंकराचार्य जी ने 'प्रश्नोत्तरी' में कहा है—

बद्धो हि को ? यो विषयानुरागी। (बद्ध कौन है ? जो विषयप्रेमी है)
का वा विमुक्तिर् ? विषये विरक्तिः। (मुक्ति क्या है ? विषय से विरक्ति)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भौतिकवादी धारणा है कि विषय भोग से सुख मिलेगा। परन्तु भोगों से इंद्रियों को जो अनुकूल वेदना होती है, उसे ही सुख मानें तो भी वह प्रतिकूल वेदना [दुःख] की सम्भावना से मुक्त कभी नहीं हो सकती। 'चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुःखानि च।' सुख दुःख का चक्कर चला ही करता है। एक सी स्थिति रह नहीं सकती। फिर कोई भी इंद्रिय सुख दुष्परिणाम, सम्भावित पछतावा निर्भरता, (या आदत्त) के संस्कार आदि से रहित नहीं है। एक ही स्थिति कभी वांछनीय कभी असहनीय लगती है। इसलिए विवेक दृष्टि से भोग सुख दुख रूप ही है। भोगों से इन्द्रियों की शक्ति घटती है। उनके बने रहने का कोई भरोसा नहीं, तथा भोग सुख भी क्षय होता जाता है। सुलभ होने पर उसका महत्व घटता जाता है पर उस पर निर्भरता बढ़ती जाती है। इसलिए सन्त लोग विषयों को सुखरूप नहीं मानते। अष्टावक्र ग्रीवा का उपदेश है।

मुक्तिमिच्छति चेत्तात, विषयान् विषवत् त्यज। १.२.।

हे प्यारे यदि मुक्ति (दुःख निवृत्ति) चाहते हो तो विषयों को विष की तरह छोड़ दो। इन्द्रियों को दुलार करने से वे वश के बाहर होने लगती हैं, जीवन में चञ्चलता बढ़ती है, अशान्ति आती है। अशान्तस्य कुतः सुखं (गीता २.६६) अशान्त को सुख कहाँ ?

रजोगुणी व्यक्ति इन्द्रिय प्रीति को ही महत्व देता है: तमोगुणी निद्रा, आलस्य प्रमाद में ही सुख मानता है, परन्तु सतोगुणी व्यक्ति निर्द्वन्द ओर शान्त जीवन को ही सुखी मानता है निर्द्वन्द शान्त जीवन विषय संग्रह और भोग से नहीं मिल सकता वह त्याग से ही सम्भव है। त्याग से ही शान्ति प्राप्त होती है।

इसी तरह परिग्रही को वस्तुओं की प्राप्ति, रक्षा उचित व्यवस्था आदि की चिन्ता रहती है। वह निश्चिन्त नहीं रह सकता। अधिक सम्पन्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्ति के मन पर चिन्ता का भार भी अधिक रहता है, वह शान्त नहीं रह सकता सच्चा अपरिग्रही निश्चिन्त और शान्त रहता है। उसे विक्षेप का अभाव रहता है।

इस प्रकार जो सच्चा (मन से) त्यागी है वही शान्त है, त्याग से तुरन्त (अनन्तरं) शान्ति मिलती है। आजकल भी प्रशाशन में मुक्ति पद-भार विमुक्ति विश्रान्ति आदि शब्द प्रचलित हैं। यद्यपि आसक्ति के कारण पद 'भार' युक्त रहना ही पसन्द आता हैं, पद भार से विश्रान्ति नहीं। भोगी बहुत सा दुख झेलता रहता है उसे गिनता ही नहीं, बहुत से भार का अभ्यस्त हो जाता है, उसे मानता ही नहीं परन्तु इस मोह से क्या ? उसके जीवन पर तो उस दुःख व भार का अनिष्ट प्रभाव पड़ता ही रहता है।

यह एक विडम्बना ही हैं कि मनुष्य अपनी नौकरी से रिटायर हो जाता है जिसका कार्य उसके लिए विशेष क्लिष्ट या अस्वास्थ्यकर नहीं होता परन्तु घर गृहस्थी की चिन्ताएँ उसे अति पीड़ित करने लगती हैं, और तीव्रता से उसके जीवन और स्वास्थ्य को नष्ट करने लगती हैं। इस चिन्तालय से वह प्रायः मरने पर ही मुक्त होता है।

त्याग को भूषन शान्ति पद इसलिए कहा है कि सच्चे त्याग से ही शान्ति मिलती है, दाम्भिक त्याग से नहीं। त्याग मन से न हो ऊपरी दिखावा हो तो शान्ति नहीं मिल सकती। दम्भ चिन्ता को बढ़ाएगा शान्ति नहीं देगा। निस्सन्देह अनन्य भक्ति की, भगवन्नामानुसरण की जिस उच्च स्थिति का ड़िरूपण हो रहा है उस स्थिति में दम्भ का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु किसी का त्याग कितना सच्चा है कितना खरा हैं, इसे इस बात से परखा जा सकता है कि उसके जीवन में कितनी शान्ति है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ग्रंथ के प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि यह शरीर तवे की तह भयताप जलता रहता रहता है यह नभी शान्त होता है जब श्रीराम प्रताप से (त्रयताप) शान्त हो। (छन्द संख्य ६.) अब ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण 'शान्ति पद का निरूपण किया जा रहा है। कवि ने शान्ति पद' के साथ दो विशेषण लगा दिये हैं अमल, अदाग। जो शान्ति पद त्याग का भूषण है वह निर्दोष दाग धब्बे से रहित है जिस व्यक्ति का लौकिक जीवन अभावग्रस्त न हो, सन्तुलित और सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है, उसके जीवन में भी एक प्रकार की शान्ति प्रतीतिमान होती है क्योंकि विक्षेपों और द्वन्दों से पीड़ित नहीं दिखाई देती परन्तु बाहर सुखी और शान्त दिखाई पड़ने वाले जीवन में भी महान् समस्यएँ व चिन्ताएँ रह सकती हैं, प्राप्त भी हो सकती है। शान्त दिखाई पड़ने वाली परिस्थिति नें विस्फोट होकर अनर्थ, दुःख या चिन्ता के कारण उत्पन्न हो जाते है। 'शम, सन्तोष, दया, विवेक' आदि गुणों से आलोकित जीवन में एक व्यवहारिक शान्ति पद दृष्टिगोकर होता है जो वर्षो तक स्थिर प्रतीत हो सकता हैं। परन्तु जिस दिव्य स्थिति का कवि ने निरूपण किया है, उसकी प्राप्ति के बिना इस शान्ति में अशान्ति और दुख के कारण कष्ट हो सकते हैं अत: इस शान्ति को एकदम निर्मल नहीं कह सकते है। व्यवहारिक शान्ति दोष गर्भित है, पारमार्थिक शान्ति निर्मल है, जिसमें स्थित होकर महान दुख से भी विचलित नहीं होता (गीता ६ २२) पारमार्थिक शान्ति अखण्ड है, निश्चल है, विशुद्ध है।

आसुरी सम्पदा वाले लोग पाप में लिप्त रहते हुए भी शान्ति की कल्पना करते हैं। ईश्वरोऽहमहं भोगीसिद्धोऽहं बलवान्सुखी (गीता १६.१४) ऐसी कल्पना करते हैं। शोषण कपट हिंसा छल आदि से सारा साधन जुटाकर शान्ति लाभ की कल्पना करते हैं, परन्तु असीम चिन्ताओं में लिप्त रहते हैं उनकी शान्ति कल्पित ही है। अपरिमित चिन्ता और शान्ति दोनों साथ साथ नहीं चल सकतीं इपके अतिरिक्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो (तथाकथित) शान्ति दूसरों के शोषण उत्पीड़न लूट छल आदि पर टिकी है, वह अदाग नहीं दागी है। यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि अनन्य हरिदास भगवन्नाम की अखण्ड रटन करने वाला शोषण या हिंसा-प्रवृत्त होगा। वह तो सबको निज प्रभु का रूप देखता हुआ सेवा करेगा शोषण कदापि नहीं करेगा। श्री गीताजी में अपने ही जैसा सुख दुःख सभी अन्य प्राणियों का समझने वाला परम योगी कहा गया है (६.३२)। इसी प्रकार विनय पत्रिका में कहा गया है ——

अखिल जीव वत्सल निर्मत्सर चरण कमल अनुरागी।
ते तव प्रिय रघुवीर धीरमति अतिसय निज पर त्यागी॥

इसलिए पापी, छली हिंसक आदि यदि शान्ति पद प्राप्ति का दावा करते हैं तो वह गलत है, झूठा है, और उनकी (तथाकथित) शान्ति वेदाग नहीं कही जा सकती। विशुद्ध, निर्दोष, पारमार्थिक शान्ति पद को ही त्याग का भूषण बताया गया है। चिन्ताग्रस्त अन्तःकरण में व्याकुल, चंचल, दुःखी होते हुए भी जिस शान्ति का दावा किया जाता है वह दम्भ का भूषण हो सकती है सच्चे त्याग का भूषण (सौंदर्य या शोभा) नहीं हो सकती।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अमल अदाघ शान्ति पद सारा ।
सकल कलेस न करत प्रहारा ।।
तुलसी उर धारै जो कोई ।
रहै अनन्द सिंधु महँ सोई ।।४५।।

निर्मल निरंजन शान्ति पद ही सार है वह सभी क्लेशों का नाश करता है। जो मन में इस शान्ति को धारण कर लेता है यह आनन्द-सागर में लीन रहता है।

विशुद्ध शान्ति पद को प्राप्त कर लेना ही जीवन का सार है, परम परमार्थ है। इस पद की प्राप्ति से सभी क्लेशों पर प्रहार हो जाता है, सभी क्लेश मिट जाते हैं। और सन्त आनन्द सिन्धु में मग्न रहता है।

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व यह सन्देह भी प्रकट किया गया था कि "वैराग्य संदीपनी" श्री गोस्वामीं जी का ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि गोस्वामी जी भक्तिवादी थे। वे भक्ति को ही सर्वोच्च स्थान दे सकते थे शान्ति पद को नही, जब कि इस प्रसंग में शान्ति के समान किसी सुख को नहीं माना है। यह सन्देह दृढ़ आधार पर नहीं वा। भगवान की भक्ति से परम शान्ति पद मिलता है, इसमें विरोध मा भेद दृष्टि का अवसर नहीं है। जो कवि का सन्देश है उसे समझना चाहिये। वह यह है कि मन को चंचल बनाने वाले जो विषय भोग हैं, उनके माध्यम से जीवन को सफल करना सम्भव नहीं है। चित्त को सम व शान्त करना ही इसका उपाय है —— इहैव तैर्जितः सर्गो येषां

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साम्ये स्थितं मन:। (गीता ५.१९) जिसने चित्त को साम्य (समता) में स्थिर कर लिया है उसने इस लोक में, इस जीवन में, यहीं सृष्टि को जीत लिया। अत: चित्त को भोचोन्मुख नहीं बनने देना है, अन्तर्मुखी व भगवत् सन्मुख करना है। इसी से शान्ति मिलेगी परम शान्ति ही परम लाभ है।

यहाँ जिस शान्ति पद का वर्णन हुआ है वह मोक्ष पद ही है अन्य नहीं। उपनिषद् में आत्म ज्ञानी का शोक रहित होना प्रतिपादित है।

तरति शोकं अत्मवित्। इसी तरह —— तत्र को मोह: क: णोक: एकत्वमनुपश्यत:। उस परावर का दर्शन करके, हृदय की गाँठ कट जाती है, सक संशय दूर हो जाते हैं, कर्म बन्धन भी क्षीण हो जाते हैं। श्री योग वशिष्ठ में भीं कहा है —— 'जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत्' जगत को छोड़कर सुखी होता है।

दुख की अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्ष पद प्राप्ति से सभी क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। यही सकल क्लेशों पर प्रहार करना है निर्मल शान्ति पद पाने से अपने भीतर श्री राम जी का राज्य कायम हो जाताहै और राम राज्य में ——

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
(उत्तर काण्ड)

त्रय ताप की जलन शान्त होने पर मन रूपी तवा ठंडा हो जाता है। (छंद ६ पूर्वगत्) श्री प्रहलाद जी ने भी श्री राम नाम को 'सर्वताप शमनैक भेषज' (नृसिंह पुराण) (सब तापों को शान्त करने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वाली एकमात्र) बताया है इस प्रकार शान्ति पद प्राप्त करने पर सभी क्लेश दूर हो जाते है।

ऐसा तो नहीं है कि जिन घटनाओं या परिस्थितियों को हम कष्ट-दायक समझते हैं, वैसी घटनाएँ या परिस्थितियाँ सन्तों के जीवन में कभी नहीं आतीं परन्तु फिर भी निम्न प्रकार से साधारण लोगों और सन्तों के बीच बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है ——

कोई कोई घटना जो महान क्लेशदारक मानी जाती है, उनके लिए कुछ भी कष्ट दायक नहीं होती यथा राम वन गमन, सिद्धार्थ गौतम का गृह त्याग महात्मा गाँधी की जेल यात्रा।

कभी कभी जिस घटना का साधारण व्यक्ति पर तीव्र प्रभाव है, वह सन्तों के लिए क्षुद्र या नगण्य प्रभाव रखती है। समता में स्थित सन्त सुख दु ख में समान रहते हैं।

जिनके लिए संसार स्वप्नवत् है इसके सुख दुःख भी केवल प्राति-भासिक सत्ता रखते हैं।

दिव्य शक्ति के हस्तक्षेप से, भगवदीय कृपा से, कितने ही कष्ट कम हो जाते हैं, नहीं आते या अति शीघ्र मिट जाते हैं, जिसका आभास सन्तों को हो जाता है।

सन्त प्रारब्ध से बचना नहीं चाहते। उन्हें प्रारब्ध स्वीकार है, उसको भोगते हुए भी वे सम और आनन्दमग्न रहते हैं।

यदि सन्तों के जीवन में क्लेशदायक मान्य घटनाएँ आएँ ही नहीं तो हम अज्ञानी जीवों के प्रति उनकी दिव्य रहनि कैसे स्पष्ट हो ? शास्त्रो पदेश की शक्यता कैसे प्रमाणित हो ? हम लोगों को व्यवहारिक प्रेरणा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
खैसे मिले ? इसलिए सन्तों के सर्व क्लेशों की निवृत्ति का यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि जरा, व्याधि, मृत्यु, दुःख दोषादि का कोई प्रभाव उनके जीवन में नहीं दिखाई देता। क्लेशाभाव का कुछ सूक्ष्मता से अर्थ ग्रहण करना होना।

महर्षि पतञ्जलि ने योग दृष्टि से 'क्लेश' का दूसरा ही अर्थ किया है 'अविद्या ऽस्मिता राग द्वेषाभिवेशाः पंच क्लेशाः।। योग दर्शन सूत्र २.३.। क्लेश पाँच हैं -- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।

अनित्याअशुचि (अपवित्र), असुख, और अनात्म, पदार्थ में निव्य शुचि' सुख, और आत्मभाव की प्रतीति, होना (अर्थात विपरीत ज्ञान होना) अविद्या है (योगसूत्र २. ५.) यही अविद्या मोह है। मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहि से पुनि उपजहिं बहु शूला।। (उत्तर काण्ड) अपना शरीर ही अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्म है और यहीं विपरीत अनुभूति होने लगती है। इसी से इस अनात्म पदार्थ में आत्म स्परूप भासित होता है और तब देहात्म बुद्धि पैदा होती है, देह में मेरापन ही नहीं मैंपना भी हो जाता है यह अस्मिता (मैंपना) है। यह दूसरा क्लेश है --

संसृति मूल शूल प्रम नाना। सकल शोक दायक अभिमना।।
(उत्तर काण्ड)

अस्मिता के कारण शरीर के लिए अनुकूल वस्तुओं में राग और प्रतिकूल वस्तुओं में द्वेष हो जाता है। फ़िर जगत् में अत्यन्त आसक्ति (दृढ़ अध्यास) हो जाती है, भव बन्धन दृढ़ होता जाता है। यौगिक दृष्टि से, प्रायः सम्पन्न व्यक्ति इन क्लेशों में अधिक गिरफ्तार रहते हैं कम नहीं। लौकिक उरायों से इन पंच क्लेशों से उद्धार नहीं हो सकता यौगिक उपायों से ही हो सकता है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मोह नष्ट होने पर शान्ति पद प्राप्त होता है शान्ति पद विकार रहित होने से 'अमल' है और उस पद में स्थित व्यक्ति पर कर्म के संस्कार नहीं पड़ते, बन्धनकारी परिपाक नहीं होता इसलिए अदाग है। शान्ति पद में स्थित व्यक्ति के लिए पञ्च क्लेशों के उदय का प्रश्न ही नहीं उठता अतः 'सकल कलेसन करत प्रहारा।' श्री गोस्वामी जी राजयोग की बहुत ऊँची दशा का वर्णन कर रहे हैं। देहाभिमान के गलित होने के बाद की यह दशा है, सचराचर में प्रभु का दर्शन करते हुए सेवा, अखण्ड भगवन्नामस्मरण, देहाभिमान गलित, आत्म विस्मृति पूर्वक ध्यान मग्नता, ऐसी यह विलक्षण अलौकिक दशा हैं।

कहत सुनत समुझत समुझावत, दसा हृदय नहिं आवै
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुण भव विपति सतावै।

जिसको इस दशा की अनुभूति हुई, जिसने इस दशा को हृदय में धारण कर लिया, वह आनन्द सागर में निमग्न हुआ।

शान्ति पद सम्बन्धी श्री गोस्वामी जी का जो सन्देश है वह दृढ़ वैराग्य की नींव पर है। महर्षि पतञ्जलि का अष्टांग योग भी इसी प्रकार वैराग्य पर आधारित है। म० बुद्ध का अष्टांग मार्ग भी बिल्कुल वैसा ही है, जैन साधना भी दृढ वैराग्य पर आधारित है।

आजकल जमाने की जरूरत के नाम पर, और साधकों को आकर्षित करने के लिए ऐसे अनेक ध्यान मार्ग चल पड़े हैं जिनमें यह सुविधा प्रतीत होती है कि दृढ़ वैराग्य की नींव आवश्यक नहीं मानी जाती। ईसा की बीसवीं शती में अमीरी और फ़कीरी के समन्वय की बड़ी चेष्टा की गयी है। हमारे यहाँ जनकादि का कर्मयोग बहुत पुराना है परन्तु आप राजभोग और राजयोग का समन्वय नहीं साध सकते। जनकादि के मार्ग में भी अन्तःकरण का वैराग्यपूर्ण होना आवश्यक है। देश के और समाज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के हित में कर्मयोग अनिवार्य है, परन्तु वह योग ही होगा। भोग मार्ग नहीं।

वैराग्य का दृढ़ आधार ध्यानादि के उच्च सोपानों की उपलब्धि तथा धृढ़ता के लिए आवश्यक है। ऐसे आधार के बिना जो प्रगति दिखायी देती है वह ठोस, स्थिर, व ऊर्ध्वोन्मुख नहीं होती। यदि यह प्रतीत हो कि इस तरह भी शान्ति पद प्राप्त हो गया तो वह शान्ति पद अमल व अदाग नहीं होगा और सकल क्लेशों की निवृत्ति उससे न हो सकेगी।

जौ मन लागै राम चरन अस।
देह गेह सुत वित कलत्र महँ, मगय होत बिनु जतन किये जस ।।
द्वन्द्व रहित गत मान ज्ञान रत, विषय विरत खटाइ नाना कस।
सुख निधान सुजान कोसल पति, ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न हौंहि बस ।।
सर्वभूत हित निर्व्यलीक चित, भगति प्रेम दृढ़ नेम एक रस।
तुलसि दास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हत्यो सीस दस ।।
(वि० प० पद संख्या २०४)

अमल अदाग शान्ति पद हृदय में धारण हो जाय यह विरले विरले उदाहरणों में ही पाया जाता है क्योंकि यह बहुत ही विलक्षण अनुभूति है। अधिकांश लोग जो इस मार्ग पर चलते हैं, निम्नतर सोपानों तक ही पहूँच पाते हैं या वहीं रुक जाते हैं। तत्सम्बन्धी सुख, सुविधा, सिद्धि प्रसिद्धि आदि में रम जाते हैं अथवा मर्यादा अतिक्रमण असदाचार साधन-विकृति आदि के कारण निम्नतर स्थितियों में स्खलित या पतित हो जाते है। जिनकी निष्कामता व वराग्य की जितनी 'दृढ़ भूमि' होती है, उनकी स्थिरता उतनी ही निश्चित रहती है पतन की संभावना नहीं रहती। हीनता और शरणागति का भाव सच्ची भक्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के उत्तम लक्षण हैं और यही लक्षण पतन से बचाकर उत्थान को तीव्र करते हैं।

राजयोग की उत्तमोत्तम दशाएँ मनोवैज्ञानिक बाजीगरी की तरह नहीं हैं, न यांत्रिक करिश्मे (जादू) की तरह हैं। वे मात्र मानसिक संभ्रम मा मिथ्याभास भी नही है। उनका नैतिक जीवन दीनता भक्ति भाव आदि से सीधा सम्बन्ध है, ऐसा भी नहीं है कि जो सिद्धि मिली वह मिल ही गयी, अब वह जा नहीं सकती। अत: विरले सत्यनिष्ठ साधक ही अमल अदाग शान्ति पद को हृदय में धारण कर सकते हैं। यदि कोई दशा क्षणिक हो बराबर न बनी रहे तो यह नहीं कह सकते कि उसका धारण हो गया। धारण स्थिरता का सूचक है। श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जो इस पद (दशा) को हृदय में धारण क़र ते हैं वे आनन्द सागर मग्न रहते हैं। ताकर सुख सोइ जानइ, परानण्द सन्दोह ।। (उत्तर काण्ड)

साधारध जीव विषय रूप जल की मछली की तरह है। उससे अलग नहीं होता।

विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुं पल एक।
ताते सहिय विपति अति दारुन जनमिय योनि अनेक ।। (वि०प०)

इसके विपरीत सन्त शान्ति सागर की मछली हैं। वे उससे अलग नहीं होते। वह परमानन्द स्वरूप हैं।

प्रस्तुत चौपाई में श्री गोस्वामी जी ने शान्ति पद पर आरुढ़ सन्त की क्लेश रहित दशा व आनन्द मग्नता का उल्लेख कर दिया। आगे शान्ति पद का प्रकरण जारी हैं उसमें इस दशा की विलक्षणता का पर्याप्त विस्तृत वर्णन हो जाता है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विविधि पाप संभव जो तापा ।
मिटहिं दोष दुख दुसह कलापा ॥
परम शान्ति सुख रहै समाई ।
तहँ उत्पात न भेदै आई ॥४६॥

विविधि पापों के कारण प्राप्त (त्रय) ताप शान्त हो जाते हैं, अनेक दोष दुख तीव्र वेदनाएँ शान्त हो जाती हैं। सन्त परम शान्ति के सुख में मग्न रहता है जहाँ कोई दुख दोष आदि का विक्षेप पहुँच नहीं सकता। (अत: निर्विक्षेप एकरस अखण्ड आनन्द रहता हैं।)

संसार को प्राय: भवभागर के रूप में निरूपित किया जाता है। जीव इस सागर मैं डूब रहा है, अनन्य भक्त के लिए –

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्य संसार सागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ, मय्यावेशित चेतसां ॥
(गीता १२. ७)

भगवान् शीघ्र ही उद्धारकर्ता बन जाते हैं।

कभी कभी संसार को एक जंगल कहा गया है श्री मद्भागवत के पंचम स्कन्ध अध्याय १३ में भवाटवी का अति उत्तम वर्णन है इस संसार रूप जंगल में जीव भटक गया है इस संसार कान्तार (भव बन) में शान्ति नहीं मिलती मार्ग नहीं सूझता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परन्तु कभी कभी संसार को जलते हुए जंगल, दावानल, के समान बताया है। 'भव महा दावाग्नि' (चैतन्याष्टक १)

रूपक चाहे सागर का हो या जंगल का शास्त्र का तात्पर्य संसार की भयंकरता प्रदर्शित करना है। अविवेकी के लिए संसार रमणीक है, विवेकी के लिए 'दुखरूप' है ,अशाश्वत, है क्षणभंगुर है भयावह है।

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी। (वि० प०)

संसार सुखदायक नहीं है वस्तुत: तापदायक है तापदायक गुण को उजागर करने के लिए भव को 'महा दावाग्नि' कहा गया है। श्री भर्तृहरि ने कहा है कि चिरकाल तक संचित किये हुए विषय अवश्य ही छट जायेंगे। अपने आप छूटेगे तो मन को बड़ा परिताप देगे, स्वयं छोड़ दिये जांय तो मन को बहुत सुख और शान्ति देकर जाते हैं।

(वैराग्य शतक)

जिस ज्ञानी को संसार स्वप्नवत् भासता है या मृग तृष्णा सम जग जिय जानी। (पूर्व छन्द सं० १४) उसके लिए संसार भयानक नहीं रह जाता।

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकइ मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार।
(वि० प०)

जो मोह बस है जिसे संसार रमणीक भासता है उसी के लिए ताप दायक है। बुद्ध का महान सन्देश था कि तृष्णा ही दुख का कारण है। संसार के जो प्रेमी हैं, उन्हीं को संसार दुख देता है। लो संसार से विमुख हैं भगवान् के अनन्य भक्त हैं उन्हें भगवान आनन्द सिन्धु में रखते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं। अखण्ड आनन्द देते हैं। यह भेद है। श्री गोस्वामी जी ने कहा है। –

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।
सेवत सोक समर्पई, विमुख भये अभिराम।।
(दोहावली)

तथा ———

सोइ सेंभर सोइ सुआ सेवत सदा बसन्त।
तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत सन्त।।
(दोहावली)

विवेक दृष्टि से तो भव बन्धन स्वयमेव अत्यन्त ताप दायक हैं, परन्तु साधारण जनों को ऐसा अनुभव नहीं होता। उन्हें तो व्यवहारिक जगत के दुःख, दर्द, चिन्ता आदि तापदायक लगते हैं। इनका उद्भव पापों से होता हैं। इस शरीर रूपी खेत में मन वचन और कर्म किसान हैं जैसा बोते हैं वैसा काटते हैं। (पूर्व छन्द सख्या ५) पाप पुण्य बीज हैं। पाप रूपी बीज से ही ताप की उत्पत्ति होती है। यद्यपि पाप का परिपाक रहस्य मय है पहले से जाना नहीं जाता तथापि विवेकी ऋषियों की दृष्टि में पाप ही ताप का कारण है। निष्पाप व्यक्ति ताप रहित होगा।

जीव के संचित कर्मों में पाप पुन्य के अपरिमित भण्डार हैं। इनमें से कुछ इस जन्म में भोगे जाने के लिए निर्दिष्ट हैं और उनका भोग 'प्रारब्ध है। विविधि पापों के परिपाक के फल स्वरूप अनेक तापों से जीव ग्रसित है – 'जीव सकल सन्ताप के भाजन जग माहीं'।
(वि० पि०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इन तापों की भोग द्वारा समाप्ति नहीं हो सकती लाखों जन्मों तक पाप और ताप चलते रह सकते हैं। ताप की निवृत्ति आध्यात्म से ही संभव है। पापों का परिपाक अन्तःकरण के संस्कारों के सिलसिले से ही होता है। शान्ति पद प्राप्त होने से अन्तःकरण से परे दशा आ जाती है। उस स्तर पर ताप का प्रभाव नहीं होता और उस अवस्था में निम्न स्तर के तापों का अनुभव भी नहीं होता। यही नहीं शान्ति पद प्राप्त, सन्त के भीतर भगवदीय दिव्य शक्तियाँ क्रियमाण हो जाती हैं, जिनका जीवन के घटना क्रम पर भी प्रभाव पड़ता है। और यह प्रभाव अत्यन्त ताप शामक होता है। अतः ताप की अनुभूति समाप्त हो जाती है।

शान्ति और ताप विरोधी अनुभूतियाँ हैं, दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं अतः शान्ति पद में स्थित व्यक्ति तप्त नहीं होता। जैसे दावा, नल से जलते हुए वन के ताप से गंगा जी की धार में खड़ा हुआ हाथी तप्त नहीं होता। सन्तों का कहना है कि अनन्य शरणागत भक्त का का प्रारब्ध भी भगवदर्पण हो जाता है, फिर भगवान की मर्जी के हिसाब से फलित होता है।

महर्षि अरविन्द जी ने यह तत्व विस्तार से समझाया हैं कि अस्मिता के गलित होने पर, अनन्य शरणागत के अन्तःकरण में भगवदीय शक्ति का अवतरण होता है और सक्रियता हो जाती है। कई बार तो यह देखा जाता है कि इस भगवदीय शक्ति के कार्य से दुःख, दर्द, व्याधि, चिन्ता या समस्या का तुरन्त निराकरण हो गया, उसमें कुछ भी समय नहीं लगा। भौतिक जगते के व्यवहार में इसका कारण नहीं खोजा जा सका। जहाँ भगवदीय दिव्य शक्ति सतत क्रियमाण है वहाँ भव बन्धन तो पहले ही कट चुका क्योंकि वह दिव्य शक्ति भव-बन्धन में सीमित व नियन्त्रित होकर काम नहीं करती —

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई। भावइ मनहिं करहु तुम सोई ।।
(बालकाण्ड)

अणु अणु में और अण क्षण में भगवान् की शक्ति का और लीला का अनुभव शान्ति पद का गौरव है। पापी जीवन का फलित शान्ति पद नहीं है। भक्त चार प्रकार के होते हैं — आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। गीता ७. १६। चारों को उदार और निष्पाप कहा है

सुकृती चारिउ अनघ उघारा। बालकाण्ड।

निष्पाप सन्त ही शान्ति पद पर प्रतिष्ठित होता है। भगवद्भक्ति अत्यन्त पतित को भी पावन बना देती है। जो पाप पहले हो चुके हैं उनसे उत्पन्न ताप भी शान्ति पद में स्थित व्यक्ति को तप्त नहीं कर सकते।

हमारे जीवन के सभी दोष और दुःख तथा तीव्र वेदनाएँ शान्ति पद प्राप्त होने पर निष्प्रभ हो जाती हैं। यह कहिये कि ज्ञानाग्नि में सभी पाप जल जाते हैं। (गीता ४. ३७) अथवा सन्त ज्ञान रूप जहाज पर चढ़कर दुख सागर से पार हो जाता है (गीता ४.३६) अतः सभी पाप, ताप, दुःख दोष मिट जाते हैं। इसीलिए तो शान्ति पद अमल व अदाग है।

सन्त परम शान्ति के सुख में मग्न रहता है। शान्ति की भी भूमिकाएँ हैं श्रेणियाँ हैं। वह उत्तरोत्तर पुष्ट, गहरी, अनवरत, अखण्ड, अभेद्य, होती जाती है। परम शान्ति के प्राप्त हो जाने पर जगत् का कोई आकर्षण नहीं ठहरता, पूरी पूरी निष्कामता, निर्विकारता, तटस्थता समता, एकरसता अखण्डता आती है। फिर सन्त जगत् की घटनाओं से प्रभा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वित नहीं होता, अपने दुःख दर्द से अव्यथित रहता है' सुख से प्रफुल्लित भी नहीं होता। समता और शान्ति के साम्राज्य का स्वामी हो जाता है, अतः उसे परम शान्ति में निमग्न बताया गया है।

परम शान्ति सुख में समाया रहे, अर्थात् निरन्तर उस सुख में डूबा रहे। घन्टे दो घन्टे के लिए उस स्थिति में पहुँच जाना पर्याप्त नहीं है। यहाँ उन महान् योगियों की दशा का वर्णन है जो शान्ति की परम उच्च दशा में निरन्तर बने रहते हैं। उस आनन्द समुद्र से क्षण भर भी बाहर नहीं निकलते। जैसे कुछ देर की समाधि लगाना वही बात नहीं है जो 'सहज समाधि' में है। कबीर ने गाया है – साधो सहज समाधि भली। इसी प्रकार घन्टे दो घन्टे भावपूर्वक पूजा कर लेना भी बहुत बड़ी बात है परन्तु अनन्य भक्त की प्रत्येक किया ही पूजन रूप हो जाती हैं — सपर्या पर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।

(सौंदर्य लहरी)

उसी प्रकार शान्ति पद का क्वचित् अनुभव हो जाना भी बहुत बड़ी बात है परन्तु अन्तिम स्थिति तो यही है कि परम शान्ति के सुख सिन्धु मे निमग्न रहे। परम शान्ति ही उसकी सहज स्थिति बन जाय।

यह परम शान्ति कोई नकारात्मक दशा नहीं है। यह एक भावात्मक दशा है। शान्ति का केवल यह अर्थ नहीं कि कोई दुःख, दर्द, विघ्न चिन्ता नहीं है। इस शान्ति पद में भगवदीय आनन्द की प्राप्ति है, केवल दुःख का अभाव नहीं। इसलिए इसे सुख सिन्धु में निमग्नता की स्थिति कहा गया है।

इस परम शान्ति के पद में ऐसी सहज और निरन्तर स्थिति हो जाने पर किसी विक्षेप द्वारा उस स्थिति के भग होने की आशंका नहीं रह जाती। अखण्ड आनन्द रहता है। कोई उत्पात उस दशा को भेद नहीं सकता अर्थात् वह निर्विघ्न पद है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किसी दशा के भंग हो जाने के आन्तरिक या वाह्य कारण हो सकते हैं। परम शान्ति की दशा में भंग होने के आन्तरिक कारण नहीं प्राप्त हो सकते। मन आनन्द सिन्धु से कभी ऊब नहीं सकता, परेशान नहीं हो सकता। अन्तःकरण के विषयोन्मुख संस्कार ऐसे कारण बन सकते थे जिनसे मन बहिर्मुख होकर शान्ति के सागर से निकल पड़े और रागद्वेषादि से भरे हुए व्यवहारिक जगत् में आ जाय। परन्तु ऐसे संस्कार तो परम शान्ति सुख की प्राप्ति के बहुत पहले ही अस्त हो चुकते हैं। वे इस दशा के विघ्नकारी नहीं हो सकते। यदि कोई बीज रूप प्रसुप्त संस्कार शिष्ट माने जायँ तो उनके विकसित व क्रियमाण होने की परिस्थिति परम शान्ति पद में नहीं बन सकती। अतः आन्तरिक विक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता। 'उप्पात' शब्द बाह्य विक्षेप का ही सूचक है। भेदन भी बाहर से ही होता है। चौपाई में कहा गया है कि उत्पात वहाँ पहुँच कर शान्ति की दशा का भेदन नहीं कर सकता उसे बिगाड़ नहीं सकता। परम शान्ति सुख वाह्य विक्षेपों से भी सुरक्षित है।

यह दावा नहीं किया गया है कि सन्तों के वाह्य जीवन की परिस्थितियाँ बदलेंगी नहीं एक सी रहेंगी। वे बदलेंगी। कभी कभी ऐसे परिवर्तन भी होंगे जिन्हें उत्पात कहा जा सकेगा। कोई भी महान विघ्न उत्पात कहा जा सकेगा। जरा, व्याधि, विपत्ति से सन्तों का वाह्य जीवन बरी नहीं होता। उनका गौरव यह है कि वे विषम परिस्थितियों में भी व्यथित नहीं होते। बड़े-बड़े सन्तों के जीवन में हमें आश्चर्यजनक तपस्या व तितिक्षा मिलती हैं। भारी से भारी विपत्ति में भी सन्त जनों में अलौकिक धैर्य दृष्टि गोचर होता है। यह बडी ऊँची साधना हैं। प्रलये न व्यथन्ति च (गीता) प्रलय में भी व्यथित नहीं होते। कितने ही सन्त मृत्यु के सम्मुख होते हुए भी विचलित नहीं हुए सुकरात, ईसा, मन्सूर, सरमद,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी आदि ऐसे ही सन्त थे। कभी कभी क्रान्तिकारी या सन्त आत्मोत्सर्ग की परिस्थिति प्राप्त होने पर भी प्रसन्न हुए।

फानूस को परवानों ने देखा तो ये बोले।
क्यों हमको जलाते हो कि जलने नहीं देते।।

तपश्चर्या या तितक्षा से एक सीमा तक हम विक्षेपों से अप्रभावित रह सकते हैं परन्तु परम शान्ति पद पर आरुढ़ व्यक्ति के लिए वाह्य परिस्थितियों का महत्व क्षीण हो जाता है। क्योंकि देहाभिमान गल जाता है और संसार भ्रममात्र स्वप्नवत् मृगतृष्णावत् मालूम होने लगता है। अखण्ड शान्ति ही एकमात्र सत्य रह जाता है उसी में स्थिति रहती है।

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
आगे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंचु जिय जोइ।।
(अयोध्या काण्ड)

जब गोस्वामी जी विनय पत्रिका में सन्त रहनि की प्रार्थना करते हैं तो यह लक्षण भी बताते हैं--

परिहरि देह जनित चिन्ता सुख दुःख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसि दास प्रभु एहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो।

वाह्य जगत् की विषम से विषम परिस्थितियाँ परम शान्ति को भंग करने से असमर्थ रहती हैं क्योंकि वे निष्प्रभाव हो जाती हैं।

परम शान्ति पद को एक प्रकार का अभेद्य दुर्ग माना है। कोई बाहरी गोलाबारी उसकी दीवारों में छेद करके भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। अतः कहा कि वहाँ कोई उत्पात भेदन नहीं कर सकता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परम शान्ति पदारूढ़ व्यक्ति जिस आनन्द में मग्न रहता है वह अहृष्ट, अलौकिक, और अव्यय है। वहाँ जिस सत्ता का सम्पर्क है वह परम सत्य हैं जिसके जानने पर यह त्रिगुणात्मक सृष्टि मिथ्या सिद्ध हो जाती है — यत्र त्रिसर्गो मृषा (श्रीमद्भागवत १. १. १.) तब परम सत्य में लीन व्यक्ति को मृषा (मिथ्या) संसार कैसे और क्या बिघ्न पहुँचाएगा? अपने सहज स्वरूप में स्थित व्यक्ति को कैसा शोक, भय, या विक्षेप?

जहि जाने जग जाइ हेराई। जाके यथा स्वप्न भ्रम जाई।
जासु सत्यता ते जड़ माया। मास सत्य इव मोह सहाया॥
(बाल काण्ड)

'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं' बालकाण्ड। जिसकी सत्यता से माया मोहग्रस्त जीव को सत्य भासती है, वही माया उसी परम सत्य पद पर प्रहार करने में कैसे समर्थ हो सकती है? तस्मात् यही परम शान्ति पद प्रयत्नपूर्वक धारण करने योग्य है।

तं सत्यमानन्द निधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद्यत आत्म पातः। श्रीमद्भा.

उसी सत्य आनन्द निधान का भजन करें अन्यत्र आसक्त न हो, जहाँ आसक्त होने पर आत्म पात (पतन) होता है। आगे के छन्दों में इस पक्ष को और भी उजागर किया गया है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तुलसी ऐसे शीतल सन्ता ।
सदा रहैं एहि भाँति एकंता ॥
कहा करैं खल लोग भुजंगा ।
कीन्ह्यो गरल शील जो अंगा । ४७ ॥

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि ऐसे शीतल सन्त इस प्रकार सदा एकान्त वासी रहते हैं उन्होंने अपने अंगों को गरल-शील बना लिया है, दुष्ट जन रूपी सर्प उनका क्या बिगाड़ कर सकते हैं ?

परम शान्ति पदारूढ़ सन्तों को यहाँ पर शीतल कहा है। उन्हें शीतल इसलिए कहा कि वे अहंकार की अग्नि (जिसका आगे उल्लेख है) से नहीं जलते और त्रयताप से भी अलग हैं, जैसा कि ऊपर (छन्द ४६ में) दिखा चुके हैं। राग द्वेष की अग्नि भी उन्हें नहीं तपाती अत: वे सब प्रकार से शीतल (ताप रहित) हैं। साधारण जीवन त्रय ताप से तप्त रहता है, सदैव तप्त रहता हैं। साधारण जीव इस ताप के अभ्यस्त हो गए हैं अत: उन्हें इसका अनुभव नहीं होता। अनुभव न होने से यह सिद्ध नहीं होता कि ताप का अभाव है। कोई कोई ज्वर के रोगी ऐसे होते हैं कि उन्हें ज्वर होता है परन्तु मालूम नहीं होता। ऊष्मतामापी यन्त्र (थरमामीटर) से नापने एर असाधारण ताप निकलता है। इसलिए ज्वर मान्य करना पड़ता है। क्षय रोग में, जिगर के रोग में तथा अन्य रोगों में भी कभी कभी ज्वर रहता है पररोगी को उसका पता नहीं चलता। कोई कोई अविवेकी यह सोच सकते हैं कि यदि ज्वर का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ताप रहे परन्तु उसकी अनुभूति न हो तो उसकी चिन्ता ही क्यों की जाय ? अपनी क्या हानि है ? यह मूर्खता पूर्ण विचार है क्योंकि ऐसा ज्वर किसी भयानक रोग का लक्षण हो सकता है और यदि उस रोग का पता न चले तो वह अबाध रूप से सक्रिय रह सकता है, बढ़ सकता है और स्वास्थ्य व जीवन की हानि कर सकता है। इसलिए चेतनागत अनुभूति के अभाव में भी ऐसे ताप को मान्य करके चिकित्सा व उपचार आवश्यक होता हैं। ज्वर एक दैहिक ताप हैं। विरह, ईर्ष्या, चिन्ता, सन्ताप आदि मानसिक ताप हैं। मानसिक तापों के विषय में भी हमारा चेतन मन सदैव सजग नहीं रहता। चेतना से बाहर रहकर भी मानसिक विकार ओर ताप (अचेतन मन से) सक्रिय रहते हैं। जो ताप जिसकी चेतना में नहीं है, उसका अनर्थ रोगी आसानी से मानने को तैयार नहीं होता। परन्तु अन्य देह जिसका तापक्रम साधारण है ज्वराक्रान्त शरीर से अपेक्षाकृत ठडा लगेगा। इसी प्रकार त्रय-ताप से पीड़ित जीवन का ताप अभ्यास के कारण भले ही तप्त न लगे हरन्तु जिसने ताप रहित शीतलता और शान्ति का अनुभव क्रिया है उसके लिए साधारण जीवन अवश्य ही तप्त और दु:खी है जिससे वह दूर ही रहना चाहेगा। साधरणत: अविद्या, अस्यिता राग, द्वेष, ईर्ष्या, चिन्ता आदि अग्नि की तरह दाहक नहीं जाने जाते परन्तु योगी की दृष्टि में दाहक ही है। इस सारे ताप (या दाह) की निवृत्ति पूर्वक जो निर्मल शान्ति प्राप्त होती है वह अन्त:करण को शीतल कर देती है। विकारों की दाहकता मात्र रूपक नहीं है। ईर्ष्यादि विकारों से सीने का कैंसर होना संभव है और उस रोग की उन्नत दशा में रोगी के पास जाने वाला व्यक्ति कैंसर से निकलते हुए ताप का अनुभव कर सक़ता है। विकार और पाप त्रय ताप का कारण होने से ताप रूप ही मान्य हैं। अग्नि का शामक जल हैं। अत: परम शान्ति पद जो सभी तापों का शामक (शान्त करने वाला) है, शीतल जल के सागर के समान आगे बताया गया

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है। उस पर आसीन सन्त शीतल मान्य है। प्रारब्ध वशात् देह में ज्वर का प्रकोप हो तो भी उनका अन्तःकरण शीतल रहता है।

ऐसे (अर्थात् परम शान्ति पदारूढ़ होने से) शीतल सन्त सदैव ही इस प्रकार एकान्त में रहते हैं। सन्तों की एकान्त प्रियता सुविदित है। ज्ञान के जो लक्षण गीता के तेरहवें अध्याय के श्लोक ७ से ११ तक बताए गए हैं उसमें अरतिर्जन संसदि (श्लोक ११) (भीड़, भाड़ महफिल, जनसमूह) का शौक न होना।

सन्तों को एकान्त में रहने का चाव होता है। एकान्त में उन्हें निर्विघ्न भजन की पर्याप्त सुविधा मिलती है। श्रीमद्भागवत में अवधूत जी के चौबीस गुरु लिखे हैं। उनमें एक कुमारी कन्या भी है।

एक कन्या के विवाह सम्बन्ध के सन्दर्भ में कुछ लोग उसके घर पर आये। घर के लोग कहीं गए हुए थे, घर में वही कन्या थी। उसे अतिथियों के लिए आटा पीसने बैठना पड़ा। उसकी चूड़ियों की खनक अतिथियों तक पहुँचती थी। इससे उसे लज्जा हुई। खनक को कम करने के लिए उसने चूड़ियाँ उतारना प्रारम्भ कर दिया। ज्यों ज्यों चूड़ियाँ कम हुई, खनक कम होती गई। एक एक हाथ में दो ही दो चूड़ियाँ रह गयीं तो ध्वनि बहुत कम हो गयी। फिर एक एक चूड़ी और कम कर दी तो अकेली चूड़ी से ध्वनि नहीं हुई। (श्रीमद्भागवत ११. ९ ८.)। इससे अवधूत जी ने यह उपदेश ग्रहण किया —

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात्, कुमार्या इव कंकणः॥ ११. ९. १०.

बहुत से लोगों के एक साथ रहने से कलह (झगड़ा) होता है दो व्यक्ति साथ रहें तो बात चीत होती रहती है। अतः भिक्षु (सन्यासी)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को कुमारी कन्या की चूड़ियों की तरह अकेला ही विचरना चाहिए ।

प्राय: शान्ति पदारूढ़ व्यक्ति एकान्त प्रिय और ध्यान प्रधान ही पाया जायगा । विशेष कारणों से कहीं कहीं इससे भिन्न आभास पाया जा सकता है परन्तु वैसे अपवाद स्वरूप उदाहरणों में भी ध्यान प्रधानता व एकान्त प्रियता के लक्षण मिल सकते हैं, इतना हो है कि वाह्य जीवन में वे प्रमुख व स्पष्ट नहीं दिखाई देते । श्री गोस्वामी जी ने वाह्य जीवन के एकान्तवास का उल्लेख नहीं किया है । एहि भाँति एकन्ता से स्पष्ट संकेत है कि सन्त इस प्रकार अर्थात् शान्ति पदारूढ और शीतल रहकर सदा एकान्त सेवन करते हैं ।

एकान्त, शान्त ध्यान मौन आदि शब्दों का प्राय: हम बाहरी अर्थ ही लगाते हैं जो योग की दृष्टि (या विवेक की दृष्टि से) पर्याप्त नहीं है । यदि कोई बाहर से चुप है बोलता नहीं तो उसे लोक भाषा में मौनी कह देते हैं । इस अर्थ में सोते हुए व्यक्ति (यदि बर्रा न रहे हों, स्वप्न देखते हुए बक न रहे हों तो) मौन ही है । बेहोश लोग प्राय: मौनी ही रहते हैं । गूंगे तो चिर मौन ही रहते ही हैं । असली मौन वह है जहाँ चित्त का विचार प्रवाह रुकने लगे या बिल्कुल रुक जाय और एक तत्त्व का चिन्तन मनन हो । यदि विचार प्रवाह तीव्र है, शब्द नहीं बोलता तो यह बाहरी (बैखरी) वाणी का संयम है । दार्शनिक दृष्टि से यह मौन नहीं है । इसी तरह ध्यान केवल आँख बन्द करके चुपचाप आसन से बैठ जाने का नाम नहीं है । अपने इष्ट मे तैल धारवत अखण्ड चित्त वृन्ति प्रवाह ध्यान है, न कि केवल आसनासीन होना । आँख बन्द करके हम दुनिया भर की बातें सोचते रहें तो यह ध्यान नहीं हुआ । भले ही हमारी कल्पना हो कि हमने ध्यान में कुछ समय बिताया इसी तरह एकान्त शब्द अकेलेपन का पर्यायवाची मात्र नहीं है । ग़ालिब ने लिखा है —

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चल के अब ऐसी जगह रहिये जहाँ कोई न हो।
हमनवा[1] कोई न हो और पसवाँ[2] कोई न हो। सहभाषी[1]
निकटबासी[2]
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार[3]। परिचारक[3]
और अगर मर जाइये तो नौह-ख्वाँ[4] कोई न हो।
बिलापकर्ता[4]

यह अकेलापन है (तनहाई) है परन्तु एकान्त का अर्थ यह है कि एक इष्ट तत्त्व में, लक्ष्य में स्थिर हो जाना। अकेलापन इसमें सहायक हो सकता है वैराग्यवान् के लिए, विषयी के लिए, अकेलापन चिन्ता, विरह, व्याकुलता, ऊब, प्रिय जनों की स्मृति' और शोक आदि का कारण बन सकता है। एकान्त के साथ एक इष्ट लक्ष्य में वृत्ति के स्थिर होने का भी अर्थ ग्रहण है। शान्ति पदारूढ व्यक्ति चाहे साधारण अर्थ में अकेला हो या न हो इष्ट तत्व में लीन रहता है और इजलिए अन्य सबसे अलग तो वह रहता ही है। इस प्रकार का दार्शनिक या आध्यात्मिक एकान्त उसका सदैव चलता रहता है। इसमें व्यवधान नहीं होता। श्री गोस्वामी जी का आशय ऐसे ही एकान्त से है। उसी की प्रसंसा है। ऐसा सन्त भीड़ में भी हो पर एकान्त में है। क्योंकि भीड़ से तटस्थ और भगवान् में तल्लीन है। और एकदम अकेला हो तो भी अकेला नहीं है क्योंकि उसे भगवान के सकाश (समीपता) व सहयोग का अनुभव है। यही उसका दिव्य जीवन है।

साधारण मनुष्य को यह शंका या आशंका रहती है कि क्रोध, प्रतिरोध, हिंसा, आदि से एकदम सन्त जीवन असुरक्षित रहेगा और तबाह व बरबाद हो सकता है। ईसा के 'पहाड़ी पर के उपदेश पर भी यह आक्षेप कई बार उठ चुका है कि वे उपदेश तो बहुत ऊँचे हैं परन्तु उन पर चलने से तबाही आएगी। इस पर टॉल्सटॉय ने कहा है कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तबाही लाने वाले उपदेश ऊँचे क्यों कहे गये ? गलत या मूर्खतापूर्ण क्यों नही माने गए ? यह तो स्पष्ट है कि समाज के सज्जन लोग सन्तों को पूजेंगे उनकी सेवा करेंगे सताएँगे नहीं। परन्तु दुर्जन लोगों से उनकी रक्षा कैसे होगी ? इस शंका का समाधान तो होना ही चाहिए।

यहाँ दुष्ट जनों को भुजंग (सर्प) रूप कहा गया है। सर्प भ-सन्त की तरह अलक्ष्य गति और एकांत बासी होता है। कार्यतः विपरीत हैं। सन्त मोक्ष तक पहुँचाते हैं सर्प मौत तक। दुष्टजन क्या अनिष्टकारी न सिद्ध होंगे ? गोस्वामी जी ने इसका जबाब 'नहीं' में दिया है पर क्यों ? खल लोग सर्प की तरह डसेंगे तो सन्त लोग क्या करेंगे ? श्री गोस्वामी जी ने संक्षेप में यह संकेत दिया है कि दुष्टजन रूप सर्पों का विष सन्तों को नहीं व्यापता क्योंकि उन्होंने अपने अंगों को गरल शील बना लिया है।

गरल शील का अर्थ तीन प्रकार से किया गया हैं — १. स्वयं जहरीला २. जहर का प्रतिशोधक या शामक ३. जहर से लिए औषध रूप।

कोइ कोई नशेड़ी इस बात पर गर्व करते हैं कि उनके नशे (अफीम या चण्डू या गाँजा या और कुछ) के कारण उनके खून में इतना विष व्याप्त है कि उन पर साँप या बिच्छू का जहर नहीं चढ़ सकता। उनका खून स्वयं इतना जहरीला है कि साँप या बिच्छू का विष उस पर प्रभावी नहीं होता। यहाँ तक सुना गया है कि ऐसे लोग साँप या बिच्खू द्वारा काटे जाने का स्वागत करते हैं कि बिना खर्च किये मुफ्त में नशा हो गया। गरल शील का शब्दार्थ इस प्रकार किया तो जा सकता है परन्तु ऐसा अर्थ श्री गोस्वामी जी के तात्पर्य के अनुकूल नहीं जान पड़ता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री गोस्वामी जी का यह सन्देश तो है नहीं कि दुष्टजन रूप सर्पों का सा जहर सन्तों के अंग में पहले से ही उपस्थित है। इसलिए यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि जैसे गरल-शील रूधिर सर्प विष का प्रतिकार करता है, वैसे ही सन्तों के अंग में दुष्टजन रूप सर्प के विष की प्रतिरोधक शक्ति है अतः उन पर वह विष नहीं चढ़ सकता।

एक बात और है उससे उपरोक्त दोनों बातों का भेद मिट जाता है समन्वय संभव है। योग और संयमी जीवन तपस्या आदि से ऐसा हो सकता है। कि रूधिर में ऐसा प्रभाव आ जाता है कि वह साधारण अर्थ में विषाक्त तो नहीं कहा जा सकता परन्तु विषैले जन्तुओं के रूधिर से सम्पर्क होने पर वह उनके लिए विशाक्त प्रभाव रखता है साथ ही उन जन्तुओं के विष का प्रभाव उनके ऊपर नहीं पड़ता। इस प्रकार ऐसा सम्भव है कि शान्ति पदारूढ़ व्यक्ति बहुत से अन्य लोगों के लिए अमृत सदृश प्रभाव वाले हों। परन्तु दुष्टजन रूप सर्पों के लिए वे गरल शील (विषाक्त प्रभाव धाले) सिद्ध हों, इस प्रकार सन्तों का सहज स्वभाव स्वतः ही सज्जनों और दुष्टों के लिए सदृश नहीं होता विपरीत हो सकता है।

यह भी स्मरणीय है कि सर्प की बात अन्ततः रूपक है। सचमुच सर्प दशका तात्पर्य नहीं है। न सन्तों के देहिक अंगों का प्रश्न है. न सर्पवत् दुम्टजन काट या डस सकते है। अतः रूपक के निहितार्थ पर पर ध्यान देना चाहिये। दुष्ट जन के सम्पर्क की असली दिक्कत यह है कि वे वातावरण को दूषित करते हैं। जहाँ कोई सन्त तपस्या और भजन मय जीवन व्यतीत करते हैं वहाँ एक सात्विक और आध्यात्मिक वातावरय बन जाता है वहाँ आने वाला उससे सहज ही प्रभावित होता है। दष्टजन इस वातावरण में बिकृति उत्पन्न करते हैं उनके कारण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रजोगुणी, तमोगुणी, वातावरण बनने लगता है। रजोगुण और तमोगुण दोनों ही सतोगुण के विरोधी हैं इनकी प्रबलता के कारण सतोगुणी वातावरण बिगड़ने लगता हैं। अत: दुष्टजन के सम्पर्क से गुण-वैषम्य विरोध, प्रत्यक्ष या पराक्ष रूप से उत्पन्न होता है जो शान्ति का बाधक है। गुण विरोध वृत्ति विरोध के कारण शान्ति का वातावरण नहीं बन पाता या बिगड़ जाता है। स्मरणीय है कि सतोगुण में बँधा हुआ व्यक्ति तो रजोगुण व तमोगुण का विरोधी है परन्तु गुणातीत गुण का किसी से विरोध नहीं।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काक्षति। गीता १४. २२.
वह गुणों का न द्वेषी है न आकांक्षी है।

जहाँ सतोगुणी साधना हो रही है सतोगुणी वतावरण तय्यार हो रहा है दुष्टजन का प्रभाव उसके लिए घातक है। इसलिए दुष्ट सग वर्जित है।

दु:संग: सर्वथैव त्याज्य:। नारद भक्ति सूत्र।
बरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता॥
(सुन्दरकान्ड)

काम क्रोध आदि की लहरें कुसंग पाकर तुरन्त समुद्र बन जाती हैं जब तक मन का बच्चापन दूर न हो जाय तब तक कुसंग वर्जनीय है। (श्री मद्भागवत ११ २८. २७) जैसे जिस बीमारी का पूरा पूरा इलाज नहीं होता वह बार बार अंकुरित होती है। इसी प्रकार विषयासक्त मन वाले योगी को मन बार बार बेधता है। (भा ११. २८. २८) परन्तु यह साधनावस्था की भूमिका है जो शान्ति पद पा चुके है वे ऐसे विघ्न से बिल्कुल बचे रहते हैं। रजोगुण, तमोगुण के उत्पात वहाँ प्रभावी नहीं हो सकते। 'तहँ उत्पात न भेद आई'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(पूर्व छन्द ४६)। ऐसे शान्त सन्त के प्रभाव में दुष्टजन भी शान्त होने लगते है। उपद्रव नहीं कर पाते। इसके अनेकानेक उदाहरण सन्तों के जीवनों में मिलते हैं। एक प्रसिद्ध उदाहरण है डाकू अगुली मान की शरणागति। भगवान बुद्ध के सम्पर्क में आने पर। महाप्रभु चैतन्य के हाथों जगाई मधाई का उद्धार एक और प्रबल उदाहरण है। इसी के योग सूत्र में कहा है — अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैर त्यागः। (२.३५.) अहिंसा के सिद्ध होने पर उसकी निकटता में वैर छूट जाता है। भगवान बुद्ध अक्रोध से क्रोध को जीतने की सलाह दी है, वैर से वैर शान्त नहीं होता। जो भी व्यक्ति परम शान्ति पदारूढ़ हो गया है उसे दुष्टजन विकारवान् नहीं बना सकते, वह निर्विकार ही रहता है गुणातीत होने से वह त्रिगुणों के सघर्ष में सतोगुण का भी पक्षधर नहीं होता। इसलिए दुष्टजन उसे विकारवान् नहीं बना पाते। उल्टे दुष्टजनों का विकार उनके प्रभाव से शान्त होने लगता है। सन्तों का चित्त सम व शान्त होता है इसलिए वे त्रिलोक विजयी होते हैं। इसी बात को रूपक में प्रदर्शित किया गया है कि दुष्टजन रूपी सर्पों का विष प्रशान्त सन्तों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता क्योंकि उन्होंने अपने अंगों को 'गरल शील' बना लिया है। उन पर दुष्टजन के जहर का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उल्टा उनका अपना प्रभाव दुष्टजन की दुष्टता के लिए जहर साबित होता है। सन्त इस जहर की दवा हैं ज़हर से प्रभावित नही होते जहर के लिए जहर हैं। कभी कभी 'गरल शील' का अर्थ गरल को ओषधि (गरल शिला) माना गया है। जैसे जहर मोहरा, तियाक, कुलंजन, घुड़बच, आदि सर्प विष की निवारक औषधियाँ मानी गई हैं। जब तक व्यवहारिद जगत सत्य प्रतीत होता है दुःसग भयावह है। जब संसार मृगतृष्णावत्, स्वप्नवत् सिनेमावत् हो जाता है, दिव्य सृष्टि से सतत् सम्पर्क रहता है तब दुष्टरूप सर्प कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। ऐसे ही सन्तों के लिए कहा गया है कि —

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फणि मणि सम निज गुन अनुसरहीं ।।
(बालकाण्ड)

अहि अघ अवगुण मणि नहि गहई। हरै गरल दुःख दारिद दहई ।।

इसलिए ऐसे समर्थ सन्तों के लिए यह आशंका नही है कि दुष्ट-जन के प्रभाव से उनकी शान्ति नष्ट हो जायगी उल्टे उस शान्ति के प्रभाव से उनकी दुष्टता नष्ट होने की आशा है यदि सम्पर्क व सान्निध्य (निकटता) प्राप्त रहे।

सन्तों का यह अलौकिक प्रभाव साधारण बोलचाल की भाषा में नितान्त स्पष्ट नहीं किया जा सकता और भगवान् को भी ऐसे विषयों का परोक्ष निरूपण पसन्द है अतः इस विषय में एक सूत्र मात्र अंकित किया गया है। अति विस्तृत विवेचन से अनिष्ट की आशंका भी है अतः यहाँ तथा शास्त्रों में अत्यन्त सक्षिप्त व परोक्ष विवेचन किया गया है। अधिकारी जन इतने से भी लाभान्वित हो सकते हैं और हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अति सीतल अति ही अमल, सकल कामना हीन ।
तुलसी ताहि अतीत गनि, वृति शान्ति लय लीन ।४८।

जो अत्यन्त शीतल है, अत्यन्त निर्मल हैं, सभी कामनाओं से मुक्त है श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि उसे गुणातीत मानना चाहिये, जिसकी वृत्ति शान्ति पद में लीन रहती है ।

इस दोहे में अति शीतल सन्तों का उल्लेख है । पूर्व प्रसंग में देखा जा चुका है कि शीतल का अर्थ त्रयताप मुक्त, शान्त और निज सुख में केन्द्रित हैं । स्थिति की दृढता व अखण्डता आदि के आधार पर शीतलता की भी श्रेणियाँ मानी जा सकती है । शीतलता की कसौटी भी बताई जा सकती है और अगले छन्द ४९ में श्री गोस्वामी जी ने ऐसी कसौटी बताई भी है । गुणातीत पद का यह द्योतक लक्षण है कि यह शीतलता सहज प्राप्त हो और व्यवहार में दृष्टिगोचर हो । शीतल के स्वरूप का विशेष निरूपण अगले छन्द ४९ के साथ ही विशेष उपयुक्त होगा ।

यहाँ साथ में अत्यन्त निर्मलता का भी गुण कहा गया है । पहले भी छन्द ४४ में कह चुके हैं कि -- त्याग को भूषण शान्ति पद तुलसी अमल अदाग । अमल अर्थात् मैल से रहित , दोष, पाप, विषयासक्ति, भगवद्विमुखता आदि मन के मैल हैं । शान्ति सागर में मग्न सन्त के चित्त में थोड़ा सा भी मैल नहीं रह सकता । वह अत्यन्त निर्मल ही रहेगा ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तीन गुणों में से तमोगुण अति मलीन है, रजोगुण भी मलीन है, सतो गुण शुद्ध है। अति शीतल सन्त का व्यवहार सतोगुणी पाया जायगा। वह नितान्त निर्मल रहेगा। सतोगुण में भी शुद्ध सतोगुण की विलक्षण व अलौकिक भूमिका रहती है। साधारण सतोगुण शुद्ध तो है परन्तु वह त्रिगुण के प्रवाह से अलग नहीं हैं, वह परिवर्तनीय भी है। सतोगुण से रजोगुण या तमोगुण में चला जाना सम्भव है। ऐसा नहीं है कि सतोगुण बन्धन कारी नहीं है वह भी बन्धन कारी है। जैसे सोने की बनी सुई हथकड़ी भी हथकड़ी ही है बन्धन रूप ही है। जो सतोगुण में स्थित हो जाता है वह इन्द्रियों के सुखों में तो नहीं रमता परन्तु उसे निश्चिन्तता का, निर्द्वन्द्वता का, शान्ति का, निर्विक्षेपता का सुख मिलने लगता है और वह अमीरी के सुखों से कहीं अधिक आकर्षक और तुष्टिदायक जान पड़ता है। सतोगुणी को ज्ञान का सुख होता है, उसे व्यवहारिक ज्ञान, पुस्तक ज्ञान, शास्त्र ज्ञान की अधिक आसानी होती है और आध्यात्मिक जान की पात्रता उसी में होती है — सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं। गीता १४. १७.। सतोगुणी को निर्द्वन्द्वता निश्चिन्तता व ज्ञान का सुख होता है, उसकी आसक्ति उसके लिए बन्धन कारी है। सुख संगेन बन्धाति, ज्ञान सगेन चानच। गीता १४. ६.। यह तो कहा जा सकता है कि अन्य गुणों के बन्धन से सतोगुण का बन्धन श्रेष्ठ है, पर है वह भी बन्धन ही।

साधारण सतोगुण से श्रेष्ठ है 'शुद्धं सतोगुण' शुद्ध सतोगूण बन्धन रूप नहीं है। उसमें सतोगुणी व्यवहार है पर आबद्धता नहीं है। सतोगुणी व्यवहार इसलिए है कि अन्य गुण (रजोगुण व तमोगुण) जिस मलीनता के सहारे बढ़ते हैं उस मलीनता का अभाव है अत: सतोगुण प्रधान है। परन्तु शुद्ध सतोगुणी को सतोगुणी रहन सहन या व्यवहार से भीं मोह नहीं होता। युद्ध या राज्य जैसे कार्य वह कर सकता है। जिस कर्म में वह कुशल नहीं है उससे भी द्वेष नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करता। (उसके न करने का आग्रह नहीं करता) और जिसमें कुशल है उसमें भी आसक्त या आबद्ध नहीं है।

(गीता १८. १०.)

शुद्ध सतोगुण में प्रेम, मैत्री, मुदिता, उपेक्षा, यह चार वृत्तियाँ हैं, शोक, मोह, प्रतिकार, संघर्ष, द्वेष, आदि विकार नहीं हैं। अत: कोई ऐसे सन्त का विरोध करे तो भी प्रतिकार, संघर्ष या द्वेष, की वृत्ति उदय नहीं होगी।

निज प्रभुमय देखहि जगत, का सन करहि विरोध ।।
(उत्तर काण्ड)

'विगत काम मद क्रोध' होने से उसके पुन: रजोगुण में पड़ जाने की सम्भावना नहीं रहती। जहाँ सतोगुण में स्थिति है परन्तु बन्धन नहीं है, वहाँ वस्तुत: तीनों गुणों का अतिक्रमण हो चुका है।

त्रैगुण्य बिषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निद्वन्दो नित्य सत्वस्थो, निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।
(गीता २. ४५.)

अर्जुन से कहा गया कि वह (व्यवहारत:) नित्य सतोगुण मे स्थित परन्तु (तत्वत:) निस्त्रैगुण्य (तीनों गुणों से रहित दशा) को प्राप्त हो। जो सतोगुणी है वह अमल है जो शुद्ध सतोगुणी है वह 'अति ही अमल' है वही गुणातीत कहलाता है।

अति निर्मलता का द्योतक लक्षण है, सकल-कामना हीनता। जो अति शीतल सन्त है वह सहज ही सभी कामनओं से मुक्त है सभी लौकिक कामनाएँ मन का मैल हैं। अति अमल सन्त में यह मैल नहीं पाया जा सकता जो अति अमल है वह सकल कामना हीन है ही।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कामनाएँ भले ही आकर्षक या सुखद लगें परन्तु अन्त में वह दाहक अग्नि की तरह सिद्ध होती है —

येहि संस्पर्शजा भोगा दुःख योनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।
(गीता ५. २२.)

जो विषय इन्द्रियों के संस्पर्श से उत्पन्न भोग हैं वे परिणाम में दुःखदायी हैं क्षण भंगुर भीं हैं, ज्ञानी उनमें नहीं रमता। महाभारत में कहा है—

न जातु कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषः कृष्ण वत्मैव भूय एवाभि वर्धते ।।
इसी भाव को विनय पत्रिका जी में भी प्रकट किया गया है।
अब नाथहि अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते ।।

भोगने से कामना शान्त नहीं होती बढ़ती ही जाती है, अतः अन्त में अभाव और अतृप्ति की अग्नि में जलना ही पड़ता है — —

जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई। (बाल काण्ड)

तथा ——

सेवत बिषय विवर्ध जिमि, नित नित नूतन मार ।।
(लंका काण्ड)

'कहाँ अति शीतलता' कहाँ कामना की अग्नि ! दोनों विपरीत होने से साथ साथ नहीं रह सकते। राम और काम दोनों साथ साथ नहीं रह सकते जैसे सूर्य और रात्रि। (दोहावली) शीतल सन्त राम पद लीन हैं, अतः अवश्यमेव सकल कामना हीन होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि ऐसे सन्तों की वृत्ति शान्ति में लीन रहती है उन्हें 'अतीत' ही समझना चाहिये। योग शास्त्र में चित्त वृत्ति निरोध को ही योग कहा है यही समाधि सिद्धि का कारण है। वृत्तियां अन्तःकरण रूप जलाशय की लहरें हैं' कामना रूप वायु इन्हें बढ़ा देती है। निर्वात स्थान में जल का आधार (पात्र) भी स्थिर हो तो लहरें नहीं उठती। उसी प्रकार योगी के निष्काम होने पर वृत्तियाँ नहीं उठतीं। यही चित्त वृत्ति निरोध है। जैसे निर्वात स्थान पर रखे दीपक की लौ नहीं हिलती वैसे ही योगो का चित्त भी चंचल नहीं होता। (गीता ६. १९) मन्त, वृत्ति रहित होने पर भी शून्य में लीन नहीं होता, शान्ति में लीन होता है, अति शीतल दशा जड़ता नहीं है, प्रशान्त चैतन्य की अवस्था है, जो त्रयताप रहित है, और परमानन्दमय है।

जो ऐसा अति शीतल सन्त है, उसका जीवन दिव्य हो जाता है, उसका लौकिक जीवन आभास मात्र है। वह बीत चुका। तथापि यहाँ 'अतीत' का अर्थ बीता हुआ या समाप्त नहीं समझना चाहिये। अतीत अर्थात् परे, अतिक्रमण करके उठा हुआ, दिव्य। इस तरह 'अतीत' का तात्पर्य गुणातीत से है। तीनों गुण समाप्त हो गए हैं जिसके लिए, जो तीनों गुणों के बन्धन से मुक्त हो चुका है, जो गुणों के ऊपर निकल गया है, उनका अतिक्रमण कर गया है, वह 'अतीत' है अर्थात् गुणातीत है।

जिस अति शीतल सन्त की वृत्ति शान्ति पद में लीन है, वह गुणातीत हैं, मुक्त है, किसी भी गुण, स्वभाव के बन्धन में नहीं है। उसे त्रिगुणातीत समझ कर ही उसकी रहनि आदि पर विचार किया जा सकता है। यदि हम सन्तों का जीवन समझने के लिए साधारण मानवी मानकों का प्रयोग करेंगे, तो हम असफल होंगे उनकी गुणातीन स्थिति के जानकर और मानकर ही उनकी महिमा एक सीमा तक हृदयंगम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की जा सकती है। अत: उस पक्ष को श्री गौ स्वामी जी ने इस दोहे में उजागर किया है।

यदि हम गुणातीत पद की कोई कल्पना नहीं कर सकेंगे तो आगे के छन्दों में शीतलता, शान्ति, अहंकार रहित जीवन आदि का जो निरूपण हुआ है वह हमारी समझ में नही आएगा, बल्कि असम्भव या अनिष्ट-कर लगेगा। अत: सन्तों के जीवन की दिव्यता को पहचान करके ही आगे बढ़ना चाहिए।

यदि कोई आधुनिक वैज्ञानिक सारे शान्ति वर्णन को असम्भव ठहरा दे तो कोई आश्चर्य नही, क्योंकि उसका सारा मनोविज्ञान साधारण बद्ध जीव के व्यवहार का अध्ययन करके तैयार किया गया है। परन्तु यह भुलाया नहीं जा सकता कि विषयी (बद्ध) जीव का मनोवैज्ञान साधक, तपस्वी योगी, सिद्ध, मुक्त, या गुणातीत व्यक्ति के समझने के लिए पूरा नहीं पड़ सकता। शान्ति पदारूढ़ सन्त की प्रेरणाएँ भिन्न हैं, लक्ष्य भिन्न हैं, स्थिति भिन्न है, अत: उस वर्ग का मनोवैज्ञान ही अलग है। उस मनोवैज्ञान का अध्ययन, श्रवण, मनन व निदिध्यासन करने पर ही ऐसे योगियों/सन्तों की स्थिति को हम लोग कुछ हद तक जान सकते हैं, पूर्णत: नहीं।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो कोइ कोप भरै मुख बैना,
सन्मुख हतै गिरा सर पैना ।।
तुलसी तऊ लेस रिस नहीं ।
सो शीतल कहिए जग माहीं ।। ४९।।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि यदि कोई अत्यन्त क्रोधपूर्वक बोले और तीखे वाग्बाणों (वचन रूप वाणों) से प्रहार करे तो भी जिसे जरा सा भी क्रोध न आवे उसे ही शीतल सन्त कहना चाहिये ।

इस चौपाई में अक्रोध को शीतलता के रूप में बताया गया है । वही सन्त शीतल माना जाय जो क्रोध की प्रबल उत्तेजना के होने पर भी रंच मात्र भी क्रोध न करे । बहुत से लोगों को यह सन्देह होता है कि क्या ऐसी शीतल दशा सम्भव है ? ऐसे लोग भी मिलेंगे जो यदि ऐसी दशा भम्भव भी माने तो भी अभीष्ट नहीं मानेगे क्योंकि उनकी दृष्टि में यह आत्म-रक्षा की घातक है और हिंसा व अन्याय के प्रतिकार को अशक्य बना देती है और परिणामत: दुष्टों व हिंसकों को प्रोत्साहन देती है ।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि अक्रोध सम्भव है या नहीं, यह भूलना नहीं चाहिये कि सभी सहज प्रवृत्तियाँ आत्म रक्षार्थ ही हैं, परन्तु वहाँ पर आत्म रक्षा का अर्थ पार्थिव शरीर (देह) और भौतिक जीवन की रक्षा है । जहाँ देह से भिन्न चैतन्य स्वरूप जाना और ज्ञान के आलोक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में यह भाव बना कि नाहं देहो न मे देहो (न में देह हूँ न मेरा देह है) वहां इन सहज वृत्तियों का महत्त्व समाप्त हो जाता है, इनका जोर तभी तक चलता है जब तक देहाभिमान है। दधीचि ऋषि को हड्डियां दे देने में भी आत्म रक्षा की प्रवृत्ति बाधक नहीं हुई, रन्तिदेव, बलि आदि के लिए भी सहज प्रवृत्तिया बाधक न बन सकीं। देहाभिमान से ऊपर उठकर प्राणोत्सर्ग करने में ईसा, सुकरात, मन्सूर, सरमद आदि सन्तों को अथवा बलिदानियों, क्रान्तिकारियों आदि को आत्मरक्षा की सहज प्रवृत्ति बाधक न बन सकी। स्वामी दयानन्द, श्रद्धानन्द, महात्मा गांधी आदि कों अपने हत्यारे पर भी क्रोध नहीं आया। म० बुद्ध के उपदेश में भी इसी कोटि की अहिंसा बतायी गयी है। इसीलिए अक्रोध की जो असम्भावना प्रतीत होती है वह साधारण व्यक्ति के लिए ही हो सकती है। देहाभिमान रहित मुक्त शान्ति पदारूढ़ व्यक्ति के लिए नहीं। इसीलिए तो यह पहिचान कराने वाला लक्षण माना गया हैं। जो शान्ति पदारूढ़ है उसके लिए ऐसा अक्रोध सहज और सम्भव है देहाभिमानी के लिए अशक्य है। इसी से यह परिचायक लक्षण है जिसमें यह लक्षण पाया जाय उसे शीतल (व शान्त) सन्त मानना चाहिये।

सम्भावना के अतिरिक्त उपयोगिता का भी प्रश्न उठता है। आम लोगों की कल्पना है कि ऐसा अक्रोध अपनाने पर दुष्टजन सब कुछ बिगाड़ देंगे। परन्तु इस सन्देह का निराकरण तो पहले हो चुका — कहा करें खल लोग भुजंगा। कीन्ह्यो गरल शील जो अंगा॥ (छन्द ४७)। दुष्टजन हिंसा में विश्वास करते हैं, परन्तु वे अकारण हिंसा नहीं करते। आत्म रक्षार्थ, बदला लेने के लिए या अपनी कार्यवाही में बाधक तत्त्वों के प्रति ही हिंसा करते हैं, सन्तों के साथ ऐसे कारण उदय नहीं होते, अतः यह प्रायः देखा गया है कि डाकू हत्यारे आदि यहाँ तक कि हिंसक जीव भी) सन्तों के प्रति हिंसा भाव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं रखते। कभी कभी ऐसे उदाहरण अत्यन्त आश्चर्य जनक बनते हैं। इसी तरह यह भी स्मरणीय है कि जो आत्मरक्षा नहीं करते परन्तु समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी व पूज्य हैं' उनकी रक्षा समाज करता है और भगवान् की अनन्य भक्तों के योग क्षेम संचालनार्थ विशेष व्यवस्था रहती है। इतने पर भी यदि कोई सन्त शहीद (बलिदान) हो गए तो वह प्रारब्ध या भगवान की लीला या आदर्श उपस्थित करने की कार्यवाही मानी जायगी। यह कोई बहाना नहीं है। यदि स्वामी श्रद्धानन्द मारे गये, जो कि सन्यासी थे, तो सीजर व लिकन भी मारे गए जब कि वे राज्य सत्तारुढ़ थे। इसको किसी ने हिंसा शक्ति या राज्य शक्ति की व्यर्थता का प्रमाण नहीं माना।

आश्चर्यजनक तो यह होना चाहिये कि एकदम शीतल सन्त सौ, दो सौ या और अधिक वर्षों तक कैसे जीवित रहे (जैसे तेलग स्वामी) जबकि बड़े बड़े साम्राज्य इससे कम सयय में शिथिल हो गये या मिट गये। ईसा ने कहा था -- जो तलवार उठाएंगे वे तलवार से मरेंगे। (बाइबिल निउ टेस्टामेन्ट),

कभी कभी भोतिक जीवन या आध्यात्मिक जीवन में से एक को छांटना पड़ता है। सन्त जनों की आस्था आध्यात्मिक जीवन में रहती है। वे भौतिक जीवन को बलिदान करके भी आध्यात्मिक जीवन की रक्षा करते हैं आत्मा नित्य है उसकी रक्षा के लिए मूल प्रवृत्तियों आवेगों विकारों आदि की आवश्यकता नहीं है।

सन्त देश और समाज की अमूल्य निधि हैं अतः उनकी रक्षा करना और इसका विशेष ध्यान रखना, इसके लिए विशेष व्यवस्था करना राज्य का भी पुनीत कर्तव्य है।

अहिंसा दण्ड न्यास अप्रतिरोध सन्तों के जीवन का अनिवार्य अंग है। राग द्वेषादि से रहित, समभाव से युद्धादि व्यापार भी कर्तव्य रूप होने पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किये जा सकते हैं। वे हिंसा वृत्ति या क्रोध से रहित ही होंगे। परन्तु व्यवहार से अलग रहने वाले सन्त जन कभी युद्ध, प्रतिकार, विरोध, आदि में (वाह्य जीवन में भी) कदापि प्रवृत्त नहीं होते।

श्री गोस्वामी जी ने शीतलता का लक्षण बड़ी चतुराई के साथ निश्चित किया है, क्योंकि क्रोध दूसरे पर ही होता है अद्वैतदर्शी या 'वासुदेवः सर्वम्।' (गीता) वाली दृष्टि वाले को क्रोध नहीं हो सकता। शीतल सन्त ज्ञान में स्थित रहते हैं, क्रोध होना ज्ञान का अभाव सूचित करता है।

क्रोध कि द्वैतक बुद्धिबिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान॥
(उत्तर काण्ड)

अक्रोध की भी भूमिकाएँ हैं। क्रोध का पहला निग्रह यह है कि साधारण समाज की दृष्टि में अनुचित, अति उग्र, अमर्यादित क्रोध न करना। इसके आगे का सोपान यह है कि जिस तरह का क्रोध जिन कारणों से जिन परिस्थितियों में साधारण जनों को आता है वैसा भी न आना। क्रोध के अनर्थ को विवेक द्वारा जितना समझते जायेंगे उतना ही क्रोध को रोकेंगे, उसे कल्याण कारी या आवश्यक नहीं मानेंगे।

लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।
तेहि बस जन अनुचित करहिं, चरहिं विश्व प्रतिकूल॥
(बाल काण्ड)

क्रोध पाप का मूल है इसे भूलकर ही लोग क्रोध करते हैं। इसे आवश्यक समझते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बहुत से मामलों में यह समझना भ्रमपूर्ण ही होता है कि क्रोध अपराध नियंत्रण, अनुशासन, प्रशासन, राज्य संचालन आदि के लिए आवश्यक हैं, तथापि कभी कभी असली क्रोध के बिना क्रोधाभास की स्थिति की अनुमति दी जा सकती है। असली क्रोध जितना भी हो विवेक को बिगाड़ता है, इसलिए धर्म का विरोधी है। न्यायालयों में अधिवक्ताओं को यह अनुभव है कि यदि किसी साक्षी को या अधिवक्ता को क्रोध दिलाया जा सके तो उसका मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। वह सँभलकर नहीं बोल सकता ओर इस तरह उसके पक्ष को निर्बल किया जा सकता हैं। इसी तरह क्रोध के विकार से साधना बिगड़ सकती है, बिगड़ जातीं है। क्रोध के आवेश में मनुष्य को जो नहीं सोचना चाहिये सोचता है, जो नहीं कहना चाहिये कहता है, जो नहीं करना चाहिये करता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि क्रोध में उत्तेजना है गरमी है अशान्ति है। क्रोध वाले का खून भी गरम हो जाता है। इसलिए स्पष्ट ही क्रोध शांति और शीतलता का विरोधी है। कोई भी व्यक्ति क्रोधयुक्त और शान्त दोनों नहीं रह सकता न क्रोध शीतलता के साथ रह सकता है। जल में शीतलता है अग्नि में उष्णता हैं शान्ति शीतल जल के सागर की तरह है, क्रोध अग्नि की तरह। अतः क्रोध रूपी अग्नि का नितान्त अभाव शीतलता का परिचायक माना गया। आगे छंदों में जो निरूपण हुआ, हैं उसमें भी शांति को जल के समान और क्रोध को अग्नि के समान बताया गया है।

तितिक्षु संतों का यह तप है कि वे सुख दुख मानापमान को सहन करते रहते हैं, क्रोध नहीं करते। यह तितिक्षा की साधना है। परन्तु शांति पद पर आरुढ़ व्यक्ति को यह साधना नहीं होती, वह शीतल होने के कारण ही क्रोध की अग्नि से उत्तप्त नहीं हो सकता। इसलिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शीतल सन्त के लिए यह प्रश्न नहीं उठता कि वह मर्यादित क्रोध करे। वह तो तनिक भी क्रोध नहीं कर सकता। लेश मात्र क्रोध का भी उदय उसके हृदय में सम्भव नहीं क्योंकि वह निज सुख में स्थिर है, उसकी समता में स्थिति है, जगत् को स्वप्नवत् जानता है, शान्त और शीतल है, विकारवान् नहीं हो सकता। उसके लिए अक्रोध सिद्धि है, साधन नहीं है। श्री गोस्वामी जी ने अक्रोध की शीतलता का जो परिचायक लक्षण इतने प्रबल शब्दों में बताया है, उसका यही रहस्य है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सात द्वीप नव खण्ड लौ,
तीनि लोक जग माँहि।
तुलसी शान्ति समान सुख,
अपर दूसरो नाँहि ॥५०॥

श्री गोस्वामी जी कहते है कि इस पृथ्वी के सातों दीपों में (जम्बू दीप के) नव खण्डों में अथवा सम्पूर्ण सृष्टि में भी शांति के समान कोई दूसरा सुख नहीं है। (शांति परम सुख है।)

इस दोहे में शान्ति को परम सुख बताया गया है। तीनों गुणों में वर्तमान् लोगों के सुख की कल्पना अलग अलग है। तमोगुणी का यही सुख है कि कुछ काम न करना पड़े, वैसे ही बिना उद्यम किये गुजर बसर हो जाय खूब आराम करने को मिले, किसी झंझट से आराम में विघ्न न हो गफ़लत से भी कोई काम बिगड़ने का डर न हो। निद्रा आलस्य प्रमाद यही तमोगुणी के सुख हैं। तमोगुणी इसकी कौड़ी कद्र नहीं कर सकता कि लखपती करोड़पती लोग रुपया कमाने में दिन भर लगे रहते हैं, जबकि वे बिना मेहनत के आराम से रह सकते हैं। भारत वर्ष के भिखारी भीख मागते समय दाता को यह आशीर्वाद देते हैं कि 'बैठे हुकुम चले', अर्थात् कुछ काम न करना पड़े। कभी कभी गरीब लोग कल्पना करते हैं कि यदि अपने पास यथेष्ठ रुपया होता तो उठकर पानी भी न पीते, नौकर से मँगाकर ही पानी पीते। यह सब आलस्यमय तमोगुणी सुख की कल्पना है। कोई कोई राजे या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
ज़मीदार या धनाढ्य लोग जो तमोगुण में विशेष स्थिर और निष्ठ हो गए कालक्रम से तबाह हो गए क्योंकि सम्पत्ति के अर्जन, रक्षण और उचित व्यय के लिए रजोगुणी भूमिका चाहिए, तमोगुण से यह सब नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त तमोगुणी को विघ्न विपत्ति या विरोध का सामना करना पड़ता है तो आलस्य प्रमाद से काम नहीं चलना। क्रोधादि विकार व संघर्ष के कारण उसे रजोगुणी भूमिका में जाकर सक्रिय होना पड़ता है तथा आलसी व प्रमादी स्वभाव व अविवेक के कारण भारी हानि उठानी पड़ती है। तमोगुण में जड़ता है अविवेक है।

रजोगुणी व सतोगुणी लोग तमोगुणी आलसी व्यक्ति को सुखी मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ,आलस्य निद्रा प्रमाद' को सुख माना ही नहीं जा सकता। रजोगुणी व्यक्ति इन्द्रिय भोगों को अति महत्व देता है और भोग सुख को ही सुख मानता है। वह तमोगुणी व्यक्ति को मूर्ख मानता है क्योंकि वह जितनी सम्पत्ति अर्जित कर सकता है नहीं करता, जितना सुख उठा सकता है नहीं उठाता। वृद्धावस्था में भी स्वस्थ लोगों को अधिक धनार्जन करके सुख भोगना चाहिए। यदि किसी सक्षम व्यक्ति को अपने लिए और धन नहीं चाहिए (जो स्थिति रजोगुणी को कभी प्रतीत नही होती) तो भी उसे दूसरों की सहायता के लिए पारिवारिक भविष्य के लिए अथवा समाज, राष्ट्र या धर्म के लिए ही परिश्रम करके धनार्जन करना चाहिए। रजोगुणी आदर्श है अधिकतम सम्पत्ति और सुखोपभोग।

सतोगुणी की दृष्टि में रजोगुणी अविवेकी है। अर्थ में अनर्थ भरा है, आसक्त मनुष्य उसे देख नहीं पाता। अर्थ के १५ दोष श्रीमद्भागवत ११. २३. १८. में गिनाए गये हैं। अर्थ केउपार्जन रक्षण और व्यय में भी दुःख होता है। सुखोपभोग में भी स्थिरता नहीं, अनिश्चय, क्षणभंगुरता है और इन्द्रिय शक्तियों का भी ह्रास है। भोग सुख के अभ्यस्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होने से सुखानुभूति घटती है परन्तु निर्भरता बढ़ती जाती है। इन सबसे महान् परिणाम-दुःख का परिपाक होता है। वासना तृप्ति में पाप कर्म हो जाता है, धर्म मर्यादा का अतिक्रमण हो जाता है और उससे भी महान् अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है। इसलिए मोहग्रस्त और विषयासक्त जीव सतोगुणी की दृष्टि में दयनीय हैं।

'तेऽनुकम्या भवादृशां' श्रीमद्भागवत

ऐसे जीव आप जैसे सन्तों के लिए दया के पात्र हैं। पक्का सतोगुणी कभी नहीं मान सकता कि अमीरी में फकीरी से अधिक सुख है।

जो सुख पाया नाम भजन में सो सुख नाहि अमीरी नें।
(कबीर)

सतोगुणी को निश्चिन्त निर्विघ्न सादे जीवन का और आत्मज्ञान का आकर्षण है। शास्त्र ज्ञान का भी आकर्षण हो सकता है।

शास्त्र की दृष्टि में ज्ञानालोकित निर्धनता (अकिंचन दशा) श्रेष्ठ है अविवेक के साथ सम्पत्ति अच्छी नहीं! श्री वसिष्ठ जी का वाक्य है—

वरं शराव हस्तारो, चाण्डालागारवीथिषु।
भैक्ष्यार्थमटनं राम न मौरव्यं हत जीवनं॥
(योग वसिष्ठ)

हे! राम हाथ में खप्पर लेकर चन्डालों की गली में घर घर भीख मांगते घूमना श्रेष्ठ है, अज्ञान से अपहृत जीवन अच्छा नहीं। अष्टावक्र जी ने अपनी गीता में विषयों को विष तुल्य मानकर त्यागने की सलाह दी हैं। (१.२.) शान्त और निश्चिन्त सादा जीवन और भव बन्धन से मोक्ष, यही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सतोगुणी की अभिलाषा रहती है। तप सारा हि साध्वः, सन्त जन तपस्या को ही सार समझते हैं। तप में लगे हुए सन्त कभी अपने को अभावग्रस्त या दरिद्रता से पीड़ित अनुभव नहीं करते।

कणाद ऋषि के विषय में यह कथा है कि उनकी उग्र तपस्या का हाल तत्कालीन राजा को बताया गया तो वे कणाद के पास गए और उनकी योग क्षेम की व्यवस्था कर देने को तय्यार हुए। कणाद शिलोञ्च वृति से कण कण बटोर कर खाते थे। वे राजा से बोले – आपको गलत सूचना मिली कि हमको कोई अभाव या कष्ट है। आप जायँ अपना काम करें। राजा ने उनकी वृत्ति पर लक्ष्य किया तो कणाद बोले — 'सामने पहाड़ देखते हो' राजा ने कहा 'हाँ'। कणाद ने कहा 'यदि मैं चाहूँ तो यह सारा पहाड़ सोने का हो जाय। मेरे पास कोई कमी नहीं है, आप जायँ'। राजा लौट पड़े। पर अब यह विचार उठने लगा कि पहाड़ क्या, एक चट्टान भी यदि कणाद सीने की बना दें तो राज्य की सारी आर्थिक समस्या ही हल हो जाय। इसलिए राजा कुछ समय बाद पुनः कणाद के पास गये और एक चट्टान को ही सोना कर देने की प्रार्थना की। तब कणाद ने कहा, 'राजन अब बताओ' अभावग्रस्त तुम हो या मैं ? भिक्षार्थी कौन है ? राजा लज्जित हुए। कणाद ने उन्हें आशीर्वाद देकर विदा किया।

गुणातीत सन्त जन अकिंचनता में भी परम मस्त रहते हैं, इसी से तो पूर्व छन्द में कह आए हैं कि साधु सब प्रकार से हीन हो तो भी कुलीन जन उनकी बराबरी नहीं कर सकते। (छन्द संख्या ४१०)। श्री गोस्वामी जी तो सन्त के समान इन्द्र को भी नहीं मानते। इन्द्र सन्तों के तप से आशंकित होते हैं कि हमारा इन्द्रासन न छिन जाय परन्तु सन्तों की दृष्टि से वह इन्द्रासन सूखी हड्डी के समान नीरस है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज ।
छीन लेइ जनि जानि जड़ तिमि सुर पतिहि न लाज ।।
(बाल काण्ड)

सन्त तो जिस भगवदानन्द में लीन हैं, उसकी मस्ती में लोक परलोक के किसी वैभव की तरफ नजर ही नहीं उठाते हैं। यह शांति और शीतलता की मस्ती ऐसी है कि उसे पाकर व्यक्ति तृप्त और मस्त हो जाता है। वह फिर कुछ भी और नहीं चाहता इसी असीम में सुख है अल्प में नहीं। यो वे भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति । उपनिषद् । यही इसके परमानन्द स्वरूप होने का प्रमाण है।

यह शांति सुख किसी देशकाल तक सीमित नहीं है, न किसी देशकाल में इससे अधिक सुख कहीं उपलब्ध है। इसी को प्रमुखता से उजागर करने के लिए श्री गोस्वामी जी ने दोहे की प्रथम पंक्ति लिखी। पुराणों ने इस पृथ्वी को सप्त दीपवती माना है। भूलोक के सात द्वीपों (महाद्वीपों) के नाम इस प्रकार दिये गए हैं —१. जम्बू २ प्लक्ष ३. शाल्मली ४, कुश ५. क्रौंच ६. शाक ७. पुष्कर श्रीमद्भागवत [५. २०] जम्बू दीप के नव खण्ड नव वर्षों के नाम से कहे गए हैं इन्हीं में से एक भारत वर्ष है। अतः एशिया महादीप जम्बू दीप वत् मान्य हो सकता है। नव वर्षों के नाम इस प्रकार दिये गए हैं —— १. इलावृत २. भद्राश्व ३. हरि ४. केतुमाल ५. रम्यक ६. हरिण्मय ७. उत्तर कुरु ८.किंपुरुष ९. भारत। हम लोग जम्बूदीपान्तर्गत भारत वर्ष में हैं। यदि कोई यह कल्पना करे कि कि जितना सुख हमें हमारे भारत वर्ष में मिलता है दिखाई देता है, वह भले ही कम हो परन्तु उससे सैकड़ों हजारों गुना सुख किसी अन्य वर्ष में या जम्बू द्वीप के अतिरिक्त किसी और द्वीप के किसी स्थान में प्राप्त है या हो सकता है, वह कदाचित शान्ति के सुख की बराबरी कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सके तो यह कल्पना सही न होगी। कहीं भी किसी वर्ष या द्वीप में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ शान्ति सुख की बराबरी करने वाला कोई अपर (दूसरा) सुख मिल सके।

फिर एक सम्भावना रह जाती है कि सम्पूर्ण भूलोक तो मृत्यु लोक माना गया हैं। यहाँ दुःख बहुत है सुख बहुत नहीं हैं। क्या यह नहीं हो सकता कि किसी अन्य ऊर्ध्व लोक में इतना अधिक सुख मिलता हो जो शान्ति सुख की समता कर सके? स्वर्गादि ऐसे लोक बताये गए हैं जहाँ बहुत सुख है, पुण्यात्मा जन पुण्यफल भोगने के लिए वहा भेजे जाते हैं फिर क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोके विशन्ति (गीता) पुण्य चुक जाने पर फिर मत्यु लोक (भूलोक या पृथ्वी लोक) में आते हैं। भर्भुवः स्वः महःजनः तपः सत्यं — भूलोक के ऊपर ६ लोक और कहे गए हैं। इनमें सुख अधिक है। क्याँ वहाँ का सुख शान्ति सुख के समान माना जा सकता है? श्री गोस्वामी जी इस सम्भावना को अस्वीकार करते हैं। कभी कभी १४ भुवनों का भी उल्लेख होता है। पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल। शास्त्रों में भगवान् वामन के द्वारा दो ही पग में तीनों लोकों का नापना बताया कया है। (ऋग्वेद १. २२. १७. तथा १. २२. १८. तथा पुराणों में वामन अवतार की कथाएँ) 'तीन लोक' से समस्त ब्रम्हाण्ड का अर्थ सूचित होता है। एक एक ब्रम्ह्मण्ड में अनेक लोक हैं और अनन्त ब्रम्हाण्ड भगवान के विराट् (विश्वमय या सृष्टिमय) रूप में रोम रोम में लगे हैं।

'ब्रम्हाण्ड निकाया निर्मित माया, रोम रोम प्रति वेद कहै।

(बालकाण्ड)

तस्मिन् हि तस्थु र्भुवनानि विश्वाः।

(ऋगवेद)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सारी सृष्टि (कुल ब्रह्माण्ड, तारे राशि आदि सम्मिलित करके जग शब्द से सूचित किया गया है। सन्देश यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि में इस लोक या परलोक में कहीं भी शान्ति सुख की समानता करने वाला कोई और सुख नहीं है। 'अपर' (और कोई) कहना आवश्यक था, क्योंकि शान्ति का सुख सर्वत्र व्याप्त और उपलब्ध है। शान्ति पद आरुढ़ व्यक्ति को सभी स्थानों और लोकों में वह सुख एकरस अखण्ड, एकसा उपलब्ध है। वह दिक् कालादि से परिच्छिन्न (सीमित) नहीं है।

विभिन्न मोक्षों, भगवान् के विभिन्न लोकों, लीलाओं के जो अपार सुख हैं जिनका वर्णन शास्त्रों में मिलता है और निज निज निष्ठानुसार सन्त जन जिसको प्राप्त करते हैं जिनका वर्णन और जिनकी प्रसंशा वे करते हैं, ओर जो एक से एक बढ़कर निरूपित किये जाते हैं, वे सब यहाँ शान्ति सुख में ही समाविष्ट हैं। उनको अलग समझकर उनकी तुलना करना ठीक नहीं है। अलग अलग समझने से यह सन्देह होता है कि श्री गोस्वामी जी स्वयं राम भक्ति निष्ठ दिव्यानुभूति सम्पन्न हैं, वे सगुण साकार सरकार की लीलाओं के परमानन्द का जिक्र न करके शान्ति सुख को ही परम श्रेष्ठ कैसे कहते हैं ? यह स्मरण रखना आवश्यक है सभी प्रकार के दिव्यानंद शान्ति सुख ही हैं। श्री गोस्वामी जी महाराज दास भाव की भक्ति करते थे और उनके सम्पूर्ण साहित्य में प्रधान रस परिपाक शान्त रस का ही है। श्री रामचरित मानस के अन्त में कहा भी है —

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमन्द तुलसीदास हूँ।
पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

यह परम विश्राम शान्ति सुख ही है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री गोस्वामी जी मर्यादा निधान, परम चतुर और उदारमना हैं, व्यक्तिगत साम्प्रदायिक उपासनाओं मान्यताओं, अनुभूतियों का आधार न लेकर, उदार दृष्टिकोण से उन्होंने वैराग्य संदीप्त करने वाला सन्देश दिया है जिसमें सतोगुणी सुख और विशेषत: गुणातीत पद का सुख, शान्ति का सुख मान्य किया गया है। दोहे का प्रबल शब्दों में प्रमुख सन्देश यह है कि विषय का सुख कहीं भी, कैसा और कितना ही अधिक क्यों न हो समाधि-सुख (शान्ति सुख) की बराबरी नहीं कर सकता।

निम्न योनियों से मानवों का सुख अधिक है, उनमें भी राजाओं आदि का अधिक माना गया है, उससे भी पितरों, गन्धर्वों देवताओं आदि का कहीं अधिक हैं। इन्द्र का सुख देवताओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। परन्तु इन सब सुखों से अधिक विलक्षण, अलौकिक व स्थिर समाधिस्थ सन्तों का शान्ति सुख है, जिसके सामने 'इन्द्र बापुरो कौन' (दोहावली) इन्द्र बेचारा क्या हैसियत रखता है, ऐसा कहा गया है। विषय सुख और शान्ति सुख में गुणात्मक भेद है, वे अलग श्रेणी के हैं। विषय सुख हेय है, शान्ति सुख उपादेय है। योग मार्ग में रिद्धि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तो वे प्राय: साधक को विशेष विषय सुख प्रदान करके उसी में रमा देती हैं, क्योंकि अन्तरायान् बदन्त्येता कालक्षपण हेतव: (श्रीमद्भागवत ११. १५. ३३.) इनको समय नष्ट करा देने वाले विघ्न ही कहा गया है। इनसे मोक्ष साधन शिथिल हो सकता हैं और परम सुख, समाधि सुख या शान्ति सुख अवरुद्ध हो जाता है या उसमें विलम्ब हो जाता है। जब वैराग्य शिथिल होता हैं और शान्ति सुख को परमानन्द स्वरूप दृढ़ता से नहीं माना जाता तभी ऐसे विघ्नों विक्षेपों का जोर चलता हैं। श्री गोस्वामी जी का सन्देश दृढ़ता से हृदयंगम हो जाने पर परमार्थ पथ में निर्विक्षेप, निर्विघ्न और तीव्र गति होती है। तस्मात् यह सन्देश भी वैराग्य को संदीप्त करने वाला है।

———————

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जहाँ शान्ति सतगुरु की दई ।
तहां क्रोध की जर जरि गई ।।
सकल काम वासना बिलानी ।
तुलसी इहै शान्ति सहिदानी ।।५१।।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जहाँ किसी को सद्गुरु से शान्ति प्राप्त हुई, क्रोध की तो जड़ ही जल जाती है, सभी कामनाएँ पूरी तरह लुप्त हो जाती हैं, यही शान्ति की पहिचान है ।

इस चौपाई में सद्गुरु द्वारा दी हुई शान्ति का उल्लेख है और यह उसकी पहिचान बताई गई है कि क्रोध समूल नष्ट हो जाता है, काम वासना लुप्त हो जाती है, सभी वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं । अभी तक (इससे पूर्व) जो शान्ति का वर्णन हुआ था उसमें शान्ति का महत्त्व तो कहा परन्तु उसे 'सद्गुरु की दई' (गुरु कृपा से प्राप्त) दशा नहीं कहा गया था । यह लक्षण अब कहा गया । परमार्थ पथ में अग्रसर होने के लिए पुरुषार्थ (साधना) का उपदेश भी दिया जाता है और उसे भगवत्कृपा साध्य भी बताया जाता है । इसमें विरोधाभास की प्रतीति होती है, परन्तु इस विरोधाभास का परिहार संभव है ।

पुरुषार्थ रहित, आलसी, अकर्मण्य व्यक्ति को परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । जिसका देहाध्यास (देह को अपना स्वरूप मानना) प्रबल है और जो अहंभाव (अस्मिता) पूर्वक ही अपने सब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर्म करता है, उसका केवल साधन वाला कर्म अहंभाव रहित हो, यह संभव नहीं है। अतः प्रारम्भ में साधक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अहंभाव रहित होकर बरते। वह देहाभिमानी है उसकी जो भूमिका है उसमें वह भौतिक (व्यवहारिक) जगत् में कर्म का अधिकारी है, नियत, उचित, धर्मानुकूल कर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है, विपरीत कर्म न करने को कहा जा सकता है, परन्तु उसे अभी 'नैष्कर्म्य' सिद्धि प्राप्त नहीं है अतः उसके कर्म उसी स्थिति के अनुरूप हो सकते हैं। नैष्कर्म्य उसके लिए अभी दूर है।

कुछ प्रगति कर जाने पर साधक इससे आगे के उपदेश का अधिकारी हो जाता है और उसे उस उपदेश की आवश्यकता भी पड़ती है। शुभ कर्म अनुष्ठान की अच्छी भूमिका बन जाने पर यह प्रश्न सहज ही उठ सकते हैं – १– शुभ कर्मों का फल भी परिपाक होगा, वह भोगना पड़ेगा वह सर्वांश में अनुकूल नहीं पड़ेगा, वह भी बन्धन रूप ही होगा। पुण्यों का फल स्वर्गादि ही है मोक्ष कदापि नहीं — नास्त्यकृतः कृतेन। उपनिषद्। जो कर्म से उत्पन्न नहीं वह कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता। ३ — अहंभाव युक्त कर्म शुभ भी हों तो भी अहंभाव को बढ़ा सकते हैं। अतः भव बन्धन और भी बढ़ सकता है, ऐसी दशा में वह मोक्ष के लिए सहायक न होंगे।

अलं अर्थैन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसार कान्तारे न विश्रांतमभून्मनः॥
[अष्टावक्र गीता १०. ७.]

अर्थ, काम और पुण्य कर्मों को भी छोड़ो, इनसे इस संसार रूपी बन में मन कभी शान्त नहीं हुआ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

४. पुण्याभिमानी जीव से दीन हीन भाव रखने वाला जीव भगवान् के अधिक निकट हे। इसकी क्या तरकीब है कि पुण्याभिमान न हो ? पुण्यानुष्ठान होता रहे, परन्तु पुण्याभिमान न हो, यह इसी तरह संभव है कि इस पुण्यानुष्ठान में भी भगवदीय शक्ति की लीला की पहिचान हो। आदि शंकराचार्य ने कहा है कि यह तीन वस्तुएँ दुर्लभ हैं, देवानुग्रह के अधीन हैं —

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महा पुरुष संश्रयः ।
[मानव जन्म, मोक्षाभिलाषा, महापुरुष की शरणागति]

कबहुँक करि करुणा नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ।।
[उत्तर काण्ड]

विषयी मनुष्य को मुमुक्षु [साधक] बनाने का भी कोई सुनिश्चित लौकिक उपाय नहीं है। यह भी भगवत्कृपा साध्य है। यह तो लिखा है 'पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता' उत्तर काण्ड। परन्तु पुण्यवानों को भी सत संग सहज सुलभ नहीं –

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता। सत्संगति संसृति कर अन्ता ।।
[उत्तर काण्ड]

इस तरह मोक्ष की सारी परिस्थिति भगवत्कृपा से बनती है।

नृदेहमाद्यं सुलभं सु दुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारं।
मया ऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धि न तरेत् स
आत्म हा ।। श्रीमद्भागवत ११, २०. १७ ।।

नर तनु भव वारिधि कहँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।।
कर्णधार सतगुरु बृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जौ न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निन्दक मन्दमति आत्माहन गति जाइ ।। उत्तर काण्ड ।।

तान्स्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति, ये के चात्महनो जना: ।।
[ईशोपनिषद् ३.]

इस प्रकार इस उपदेश में शास्त्र मह कहता है कि भगवान् ने भव सागर तरने की सब सुविधा बना दी है, अब हम उसका लाभ न लें तो यह कृतघ्नता होगी ।

यह भरत खण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली ।
तेरी कुमति कायर कलप बल्ली चहति विष फल फली ।।
[कवितावली]

अब यह भी विचारणीय है कि शरणागत भक्त इस सब अनुकूल परिस्थिति से लाभ उठाने का दायित्व या अभिमान नहीं लेता । उसमे भी भगवत्कृपा का ही भरोसा रखता हे यथा —

मै सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला । मन्दर मेरु कि लेहिं मराला ।।
[अयोध्या काण्ड]

हौं तो बिगरायल ओर को, बिगरो न बिगरिये ।
तुम सुधारि आए सदा सबकी सबही बिधि,
अब मेरियौ सुधरिये ।। विनय पत्रिका ।।

रावरी सुधारी जौ बिगारी बिगारैगी मेंरी,
वेद की न कहौं बलि लोक कहा कहैगो ।
बांकी बिरुदावली बनैगी पाले ही कृपालु,
अन्त मेरी हाल हेरि, यों न मन रहैगो ।। वि० प० ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कृपा डोरि बन्सी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो ।
एहि विधि वेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो ।।वि० प०।।

यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहों । वि० प०।

तुलसीदास हरि गुरु करुणा बिनु विमल विवेक न होई ।
बिनु विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई ।।
[वि० प०]

अभूतपूर्व किं नो विधायि, सर्वं सहे मे सहजं हि दुखं ।
किं तु त्वदग्रे शरणागतानां, पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः ।।
(श्री यामुनाचार्य आलवन्दार स्तोत्र)

हे भगवान, मेरे अभूतपूर्व पापों की अभूतपूर्व सजा आप कैसे दे सकेंगे (क्योंकि नरकादि तो सब वर्णित और विदित हैं और दूसरे पापियों को भी मिल चुके हैं) ? फिर मैं इन सब को झेल चुका हूँ, इनके दुख सहने की आदत भी पड़ गई है । अतः आप मेरे पापों के अनुसार अभूतपूर्व दण्ड न दे सकेंगे । परन्तु अपनी बचाइये, कहीं आपको अभूतपूर्व दुःख (मेरे कारण) न हो जाय । क्योंकि कहीं आपकी नजरों के सामने यदि आपके शरणागत भक्त का पराभव हो जाय तो आपकी शान के एकदम खिलाफ़ होगा । आपकी इज्ज़त में बट्टा लगेगा ।

इस प्रकार साधन का भी दायित्व ब श्रेय आदि सब भगवान का ही हैं । शरणागति में पूर्ण सुरक्षा, चिन्ता मुक्ति और निरभिमानता है । परन्तु जो भगवान् का अनन्य शरणागत भक्त नहीं है, वह आलसी रह कर इस सब का शब्द छल और दम्भ करे तो अनर्थ परिपाक अवश्य होगा । इसी से जहाँ 'शान्ति सतगुरु की दई' यह कथन बहुत से अन्य निरूपण के बाद रखा गया है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह कुतर्कमय कल्पना सम्भव है कि जब पुण्य कर्म का भी अभिमान त्यागना पड़ेगा, तो प्रारम्भ से ही पाप पुण्य दोनों का अभिमान क्यों न त्याग कर दिया जाय ? यह समझ लेना चाहिये कि कर्तृत्व के अभिमान का त्याग अत्यन्त पुण्यवान तपः पूत शुद्ध अन्तःकरण वाले ही कर सकते हैं, पापी आलसी, ढोंगी ऐसा नहीं कर सकते। यह कहुत ऊँची स्थिति वाले अनन्य भक्तों की अनुभूति है कि भगवान् उनके पारलोकिक पार-मार्थिक योग क्षेम का भी वहन करते है। इस गौरवमयी दशा का दम्भ अनर्थकारी होगा, सफल नहीं। इसीलिए श्री रामनुजाचार्य महाराज अपने को मर्यादा मार्ग का अधिकारी नहीं मानते थे, भगवत्कृपा का आश्रय ग्रहण किये थे तथा श्री बल्लभाचार्य जी पुष्टि मार्ग के उपदेष्टा थे। पोषणं तदनुग्रह, (श्रीमद्भागवत २. १०. ४.) भगवान् का अनुग्रह ही पोषण (पुष्टि) है।

जब हम थे तब हरि नहीं, अब हम हैं हरि नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी तामे दो न समाहिं ।। कबीर ।।

यह अहंभाव का त्याग है। अहं भाव छूटने पर मिलने वाली शान्ति हरि गुरु करुणा प्रदत्त ही होगी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं। इसलिए शान्ति सतगुरु की दी हुई मान्य की गई।

शान्ति पद भगवत्पद ही है। भगवान् किसी साधन के मूल्य पर नहीं मिलते — यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। उपनिषद्।

जिसे यही आत्मा पसन्द करता है उसी को मिलता है।
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुमहि तुमहि होइ जाई ।।
(अरण्य काण्ड)

इसलिए यह दशा कृपा साध्य है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री गोस्वामी जी ने जब कहा कि —

सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो । तो पर्यावरण या परिस्विति की अनुकूलताओं को तो नोका के लिए अनुकूल वायु माना परन्तु श्रीमद्भागवत के श्लोक की ही तरह गुरु को कर्णधार बताया । पार उतारने का श्रेय सदैव कर्णधार का ही होता है, होना चाहिये । अतः सत्गुरु की दी हुई शान्ति कही गई है ।

उपर्युक्त के अतिरिक्त एक गुप्त यौगिक रहस्य और भी है, उस आधार पर भी सतगुरु की दी हूई शान्ति कही गई है । एक दिव्य प्रक्रिया है जिसे शक्ति अवतरण, शक्ति पात् या शक्ति संक्रमण कहते हैं । यह शक्ति दृष्ट भले ही न हो परन्तु उसका परिणाम तुरन्त अनुभव में आता है । महर्षि अरविन्द ने भगवदीय शक्ति के उच्चतर सोपानों से निम्नतर सोपानों पर अवतरण होने की बात विस्तार से कही है और प्रबल आवाहन किया है कि हम लोग आत्म निवेदन करके इस अवतरण के माध्यम बनें ।

सन्तों के बहुत से चमत्कारों का रहस्य यही है कि उन मामलों में दिव्य शक्ति व्यवहार के क्षेत्र में क्रियमाण हो जाती है, जिसका कार्य साधारण बुद्धि की पकड़ के बाहर रहता है ।

दिव्य शक्ति के सहसा व्यवहारिक जगत में हस्तक्षेप के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण हैं – महाप्रभु चैतन्य देव जी के द्वारा जगाई मधाई का उद्धार, तथा कोढ़ी का तत्काल चंगा हो जाना, स्वामी रामकृष्ण परमहस के द्वारा नरेन्द्र को सहसा बदल कर उन्हें विवेकानन्द बना दिया जाना, स्वामी विशुद्धानन्द जी द्वारा महान् प्रतिभाशाली पं० गोपीनाथ कविराज को सहसा भगवत्सन्मुख कर दिया जाना इत्यादि ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उच्च साधकों में जो शक्ति का अवतरण या शक्तिपात होता है वह इतना दूसरों की नजरों के सामने स्पष्ट नहीं होता। शक्तिपात का प्रभाव सम्बन्धित व्यक्ति को तुरन्त प्रतीत होता है, उसे विचित्रअ ाध्यात्मिक दशा का अनुभव होता है जो घन्टों या दो एक दिन तक जारी रह सकता है। सिद्ध गुरू की शरण में जाकर दीक्षा लेते समय भी शिष्य को शक्तिपात् का क्वचित् तात्कालिक अनुभव होता है। शक्तिपात् की दशा एक सूक्ष्म और अनिर्वचनीय दशा है। 'ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्द सन्दोह।' उत्तरकाण्ड। राम भरत के चित्रकूट प्रसंग में कहा गया है — परम प्रेम पूरण दोउ भाई। मन बुधि चित ब्रहमिति बिसराई॥ अयोध्याकाण्ड। जिन साधकों को शक्तिपात् का अनुभव है, उन्हें उस शक्ति से वहुत बल मिलता है, चित्त के विकार शान्त होते हैं, चित्त के ठहराने में, ध्यान लगाने में अत्यन्त सुविधा हो जाती है। ध्यान लगाने में, समाधि में स्थित रहने में बड़ी सुविधा हो जाती है।

उपर्युक्त वर्णन तात्कालिक या अल्पकालिक शक्तिपात् का है परन्तु श्री रवीन्द्र ठाकुर ने गीतान्जलि में लिखा है — 'सदैव आप भरते रहते हैं, सदैव और भरने ए लिए स्थान रहता है।' उस दशा की कल्पना कीजिये कि जब अखण्ड शक्तिपात् (अनवरत) होता ही रहे। मन को उस अनुभूति से अलग करने का प्रश्न ही न रहे।

करुणानिधान वरदान तुलसी चहत,
सीतापति भक्ति, सुरसरि नीर मीनता॥

ऐसी दशा में मन बराबर शान्ति निमग्न रहेगा ही और काम क्रोधादि विकारों की सम्भावना नहीं रह जायगी। शान्ति पद के ऐसे वैभव और प्रभाव को यहां (और आगे के वर्णन में) उजागर किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शक्तिपात अपने बस की चीज नहीं है, वह गुरु कृपासे ही हो सकता है, उसमें ज़ोर ज़बर्दस्ती छीना झपटी, लूट खसोट का कुछ भी अवसर नहीं है। दीन-हीन व्यक्ति विशेष कृपापात्र है।

निदरि गनी, गरीब को आदर, रीति सदा चलिआई। वि०प० कोई अपना जीवन सतोगुणी बना ले तो निःसन्देह उसका जीवन अपेक्षाकृत शान्त भी होगा, परन्तु जिस महान् शान्ति का यहां वर्णन है और जिसका प्रभाव यहाँ और आगे कहा गया है, वह निरपेक्ष, सम्पूर्ण शान्ति, है उसी का आलौकिक प्रभाव होता है, जैसा कि वर्णित है। यह शान्ति सतगुरु के द्वारा दी गई ही होती है।

जहां सतगुरु की दी हुई शान्ति की प्रतिष्ठा है, वहां क्रोध की साधारण निवृत्ति नहीं कही, जड़ (मूल) से निवृत्ति कही है। कोई पौधा टूट जाय, तो पुनः अंकुर निकल सकता है। पेड़ काट दिये जाते हैं, परन्तु जड़ स्थिर रहे तो फिर कुछ वर्षो में पेड़ तैयार हो जाते हैं। यदि जड़ उखाड़ दी जाय या जल जाय तो वे पेड़ पुनः अंकुरित नहीं हो सकते। व्यावहारिक जगत् में क्रोध का रुक जाना, बहुत दिनों तक न आना, क्रोध की निवृत्ति तो है पर यह अत्यन्त निवृत्ति नहीं है। वीर पुरुष क्रोध के आवेग को रोकता है, सह जाता हैं, परन्तु इससे क्रोध निर्मूल नहीं होता। पुनः क्रोध के आवेग का उदय सम्भव रहता है। तलवार के घाव भर जाते हैं, परन्तु वचन बाणों के घाव चिरकाल तक कष्ट देते रहते हैं। जो क्रोध की अग्नि से नहीं जलता– चित्तं न निर्दहति कोप कृशानु तापः (भर्तृहरि) वह धीर पुरुप धन्य है। क्रोध के आवेग को एकदम रोक जाना स्वयमेव बहुत बड़ी उपलब्धि है, प्रशंसनीय धैर्य है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात्।
काम क्रोधोद्भवं वेगं, स युक्तः स सुखी नरः॥ गीता ५ २३

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो शरीर छूटने के पहले (मरने से पहले कभी भी) काम व क्रोध के आवेगों को सहन करने में समर्थ हो जाता हैं, वह योगी और सुखी पुरुष है। यह दशा अत्यन्त प्रशसनीय है। योगी के अन्त:करण में काम के आवेग उठते हैं, परन्तु वह उन्हें धैर्य से सह लेता है, रोक जाता है, निरुद्ध कर देता है। यही उसका धैर्य और शौर्य (बहादुरी) है। युद्ध विजय से भी कहीं अधिक वीरता विकार विजय में है। 'जीतहु मनहिं, सुनिव अस, राम चन्द्र के राज।' उत्तरकाण्ड। परन्तु जो क्रोध के आवेग को सहन करने में समर्थ होता है वह योगी और सुखी पुरुष मान्य हो, परन्तु उसका क्रोध निर्मूल नहीं हुआ है, क्रोध की जड़ जल नहीं गई है।

इसी प्रकार काम विकार के उठने पर उसे सहन कर लेना, उसे रोक जाना, उसके वश में न होना, तदनुकूल व्यवहार न करना और उसे शीघ्र ही शान्त कर देना, आध्यात्मिक वीरता है, स्तुत्य है परन्तु इससे काम विकार के निर्मूल होने की सूचना नहीं मिलती। अन्य वासनाओं (कामनाओं) का भी ऐसा ही हाल है। कौन वासना कितनी सक्रिय और वेगवती है इसके अनुसार वासना को जागृत वासना, स्वप्न (वत्) वासना या सुप्त (सोई हुई, गुप्त, निष्क्रिय, प्रच्छन्न) वासना कहा जाता है। इसी तरह बीज मात्र वासना, अंकुरित वासना, प्रवृद्ध (बढ़ी हुई, पुष्ट) वासना, पुष्पित वासना, फलित वासना आदि का भेद किया जाता है। किसी विकार या वासना के क्षीण, प्रसुप्त या बीज मात्र हो जाने से उसका समूल नाश नहीं माना जा सकता।

मानसिक रोगों के विषय में श्री रामचरित मानस उत्तरकाण्ड में कहा गया है--

जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहि जन परितापी।।
विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह काम क्रोधादि के क्षीण होने का वर्णन है, समूल नाश का नहीं। क्षीण वासनाएं पुनः अंकुरित हो सकती हैं, फिर अनुकूल परिस्थिति पाकर ये आश्चर्यजनक गति से बढ सकती हैं और दृढ़ बन सकती हैं,

मानसिक रोगों के समूल नाश के विषय में यह उपदेश है--

राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौ एहि भांति बनै संयोगा।।
सतगुरु वैद्य वचन विस्वासा। संयम यह विषय कै आसा।।
रघुपति भक्ति सजीवन मूरी। अनोपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं तो कोटि जतन नहिं जाहीं।।

तथा--

जानिय तब मन निरुज गोसाईं। जब उर बल विराग अधिकाई।।
सुमति क्षुधा बाढ़ै नित नई। विषय आस दुर्बलता गई।।
विमल ज्ञान जल उब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई।।

ध्यान देने लायक है कि भक्ति रूपी संजीवनी-बूटी मानसिक रोगों की दवा है, फिर मानसिक रोगों के एकदम नष्ट होने पर वह हृदय में छा जाती है, प्रबल हो उठती हैं, व्याप्त हो जाती हैं। यहीं साधन भक्ति और परा भक्ति का भेद है। साधन भक्ति मानसिक रोगों की दवा है जबकि परा भक्ति का उदय और उसकी व्याप्ति मानसिक रोगों की समाप्ति और ज्ञान की प्राप्ति के भी बाद होती है। विकारों के निर्बीज होने पर पराभक्ति की बहार आती है।

क्रोध की जड़ क्या है और वह कैसे जल जाती है? 'मोह सकल व्याधिन कर मूला।' (उत्तरकाण्ड)। मोह (अविद्या, विपरीत दर्शन) ही अन्य रोगों की जड़ है। अविद्या से अस्मिता (अहंभाव, देह को निज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वरूप जानना) का उदय होता है और जगत् में सत्य बुद्धि होती है, द्वैत दर्शन होता है। फिर राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। काम राग से सम्बन्धित है, क्रोध द्वेष से। परिणामतः अत्यन्तासक्ति और दृढ़ भव-बन्धन होता है।

शान्ति की प्राप्ति की प्रक्रिया में क्रम उलट जाता है। भगवत् शरणागति, भगवन्नाम जप, ध्यानादि से आन्तरिक सुख में निष्ठा बढ़ती जाती है, विषयाशक्ति क्षीण होती है। जहाँ-जहाँ से वैराग्य होता जाता है, आसक्ति छूटती जाती है, वहाँ-वहाँ माया का बन्धन कटता जाता है—

यतो-यतो विरज्येत, विमुच्येत ततस्ततः। (श्रीमद्भागवत)

जब सभी जगह का विषयाकर्षण समाप्त हो जाता है तो विमुक्ति (पूर्ण मोक्ष) हो जाती है विषयों से विरक्ति ही मोक्ष है।

'कावा त्रिमुक्ति विषये विरक्तिः।' प्रश्नोत्तारी आदि शंकराचार्य कृत

आन्तरिक शान्ति सुख की रुचि बढ़ती जाती है, तो बिषयेन्द्रिय संयोग (गीता १८ ३८) वाला उत्तेजना जनित तथाकथित सुख विघ्नकारी (बाधक) जान पड़ता है। उसमें सुख बुद्धि क्षीण होती जाती है।

जिन रघुबीर चरण अनुरागे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे ।।(वि॰ प॰)

शान्ति पद में नितान्त निमग्नता होने पर विषय सुख का आकर्षण बिल्कुल समाप्त हो जाता है। देह को अपना या निज स्वरूप बानना बन्द हो जाता है, जगत् में सत्य बुद्धि और रमणीयता की प्रतीति नहीं रहती। मनः कल्प हो जाता है। द्वैत दर्शन समाप्त हो जाता है—

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई ।। बालकाण्ड

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्ध वस्तुः। (श्रीमद्भागवत स्क.११)

जागने के बाद व्यक्ति फिर स्वप्न की वस्तुओं का आश्रय नहीं लेता।

देहाध्यास और दृश्य जगत् में सत्य बुद्धि ही भूल है, जिससे विकारों की उत्पत्ति होती है। 'नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रं।' मूल के नष्ट होने पर शाखा व पत्ते नहीं रह जाते। इसी से क्रोध की जड़ का जल जाना बताया है। यद्यपि शांति शीतल है, परन्तु उसमें क्रोध रूप अग्नि को सभूल भस्म करने की शक्ति है, जैसा कि आगे चलकर कहा है– 'पावक तेज प्रमान।' (छन्द सं०५६) सब कामनाएँ वासनाएं 'विलाय' जाती हैं अर्थात् लुप्त (नितान्त समाप्त) हो जाती हैं, केवल गुप्त या क्षीण नहीं होतीं।

शांति पद की पहिचान उसके प्रभाव से की जा सकती है, सबसे अचूक पहिचान यही है कि शांति पदारूढ़ व्यक्ति के जीवन में काम क्रोधादि विकारों का नितान्त अभाव रहता है, इन विकारों के उत्तेजक कारणों के प्राप्त होने पर भी किंचित् भी विकार का उदय नहीं होता। यही सत्गुरु कृपा का परम प्रसाद है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तुलसी सुखद शान्ति को सागर ।
संतन गायो करन उजागर ।।
ता महँ तन मन रहै समोई ।
अहं अगिनि नहि दाहै कोई ।।५२।।

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं कि शांति का सागर शीतल (ठंडा) और सुख देने वाला है, सन्तों ने इसलिए उसका वर्णन किया है कि वह उजागर (सुविदित, प्रसिद्ध, विज्ञप्त) हो जाय । जो कोई उस शांति सागर में तन मन से डूबा रहता है, वह अहंकार की अग्नि से बिल्कुल नहीं जलता ।

शाँति को शीतल सुखद सागर बताया, अहंकार को अग्नि कहा । इस छोटे से सूत्र में महान् सन्देश निहित हैं । शांति क्यों सुखद और शीतल है, अहंकार किस प्रकार दाहक अग्नि से समान है, यही मनन योग्य बिन्दु है ।

कभी तो संसार को ही भवसागर कहते हैं, परन्तु उस सागर का स्वरूप महा भयानक वर्णित हुआ है ।

पारं परं निजमिषोर्भवसागरस्य (जो भवसागर के पार जाना चाहता हैं) । चैतन्य महाप्रभु ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ।। गीता १२ ७ ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपार संसार समुद्र मध्ये, निमज्जतो में शरणं किमस्ति ।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्, विश्वेश पादाम्बुज दीर्घ नौका ।।

आदि शंकराचार्य ।

निमज्जतोऽनन्त भवार्णवान्तश्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः ।

श्री यमुनाचार्य ।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्ततीर्षावताम् ।

(बालकाण्ड)

भव सागर कहँ नाव शुद्ध सन्तन के चरन । (वि॰ प)
नर तनु भव वारिधि कहँ बेरो । उत्तरकाण्ड । आदि

भवसागर दारुण दुःखद है, मृत्यु सागर है, जबकि शान्ति पद अमृत सागर है । संसार की दारुणता को प्रदर्शित करने के लिए ही कभी-कभी उसे अटवी (जंगल) अथवा दावानल से भस्म होते हुए वन अथवा मृगतृष्णा का रूप बताया गया है । कभी-कभी वन में ऐसी तीव्र अग्नि लग जाती है और शीघ्र ही इस प्रकार फैल जाती है कि वन के जीव तक ठीक से भाग कर बच नहीं पाते । कई वन्य पशु जल कर मर जाते हैं । जहाँ संसार को इस प्रकार दावाग्नि रूप बताया है वहाँ यह कल्पना की गई है कि सन्तजन उसी प्रकार इस दावाग्नि से बच जाते हैं, तप्त नहीं होते, जैसे श्री गंगा जी की धार में खड़ा हुआ हाथी, दावाग्नि से नहीं तपता ।

भक्तराज प्रहलाद जी ने कहा है कि--

नैवोद्विजे भव दुरत्यय वैतरण्यात् त्वद्वीर्य गायन महामृत मग्न चित्तः ।

श्रीमद्भागवत ७ ९·४३·

मैं दुस्तर भव वैतरणी से नहीं घबराता हूँ, मेरा चित्त आपकी लीला के गान के महान् अमृत के रस में निमग्न है ।

इसलिए यद्यपि भव को भी सागर रूप बताया गया है और यहाँ शांति को भी सागर ही कहा है, परन्तु दोनों का स्वभाव और प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परस्पर विपरीत है। भवसागर दारुण है, शांति सागर शीतल व सुखद है। भवसागर मृत्यु-सागर है, शांति अमृत सागर है। भवसागर में डूबने का भय है, शांति सागर में मग्न रहने का सुख हैं, गौरव है।

शांति का सागर परम श्रेयष्कर, आनन्द स्वरूप, उद्धारक व तुरन्त प्रभाव दिखाने वाला होते हुए भी साधारण जन के लिए अदृष्ट, अननुभूत अज्ञात ठहरता है। जिसे उसका पता चल जाय, उसके होने पर जिसे विश्वास हो, वह अवश्य ही उसे पाना चाहेगा। फिर गुरुउपदिष्ट साधन से वह अग्रसर हो सकेगा, शांति सागर को पा सकेगा। और जगत् से उपराम होकर उसमें निमग्न रह सकेगा। नहीं तो शान्ति वर्णन भी तिलस्मी (जादुई) कहानी की तरह लगेगा। शांति पद प्राप्त सन्त कोई लौकिक चमत्कार न करें तो भी उनके जीवन और अनुभूति का चमत्कारिक प्रभाव पड़ता ही रहता है। सहज लोकोपकार होता है। यह पद भी एक पारस पत्थर (परसमणि) के समान हैं। इसे रखने वाला पुरुष अकिंचन प्रतीत होता हो तो भी परम सम्पन्न ही है।

जो सन्त शांति पद पर आसीन हैं, उन्हें विषयासक्त बद्धजीवों पर करुणा आती है, क्योंकि जो सम्पन्न विषयी पुरुष अपनी कल्पना में सुखी भी है वह भी उनकी दृष्टि में अति दुःखी है, क्योंकि--

तहँ मगन मज्जसि पान करि, त्रयकाल जल नाहीं जहाँ। वि० प०।

जो लौकिक दृष्टि से भी विपन्न हैं, वे तो दुःखी हैं ही—

नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं। (उत्तरकाण्ड)

सन्त सतोगुण में स्थित रहते हैं, प्रेम मैत्री कृपा उपेक्षा, यह चार वृत्तियां सतोगुणी में होती हैं। सन्त ईश्वर से प्रेम करते हैं, भगवान् के शरणागत भक्तों से मैत्री करते हैं, अज्ञानी जीवों पर कृपा करते हैं, द्वेष

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रखने वालों की उपेक्षा करते हैं। श्री गोस्वामी जी ने दीनतापूर्वक भगवान् से कहा—

तुम सम हेतु रहित कृपालु आरतहित ईसहि त्यागी।
मैं दुख सोक विकल कृपालु केहि कारण दया न लागी॥ वि० प०

जीव माया बस भ्रमित, बद्ध तथा दुखी है, मुक्त पुरुष उसकी ओर करुणा की ही दृष्टि रखते हैं। जीव कितना हीं दर्प अभिमान रखता हो, सन्तों के लिए दयनीय ही है। यदि वह अपने दुःख को और दीनता को नहीं समझता तो वह सरसामी (त्रिदोष पीड़ित) रोगी या पागल की तरह है, या नशे में पड़े हुए व्यक्ति तरह अवास्तविक कल्पना विहार कर रहा है।

यह तो है ही कि दर्पाभिमान रखने वाले और अपने को योग्य, सम्पन्न समझने बाले (ईश्वरोऽहं अहं भोगी, सिद्धोऽहं बलवान् सुखी) (गीता १६:१४) लोग सन्तों को चरण शरण में जाते नहीं उनकी कृपा का लाभ लेकर शान्ति पद तक पहुँच नही पाते, प्रायः दूर से ही आलोचक और अश्रद्धालु बने रहते हैं, इसलिए चिन्तित अशांत और दुखी रहते हैं। सन्तों की पहचानने की भी उनकी शक्ति कम ही होती है। तथापि विपन्न पुरुष कभी-कभी विवश होकर ही सही, सन्त-शरण में जाता है, उनकी महिमा को धीरे-धीरे समझता है और प्रेरणा प्राप्त करके शांति पथगामी होता है। इनसे भी कहीं कम उदाहरण सम्पन्न (रईस) व्यक्तियों के मिलते हैं, जो (विशेष कारणों से) सचमुच सन्त चरण शरण प्रपन्न हुए और शांति में प्रतिष्ठित हो सके।

जब शांति-सागर से साधारण जीव परिचित ही नहीं, तो वह कैसे उसका साधक बने। अमृत से परिचय हो तो विष या मद की रुचि क्षीण हो। दशा की अनुभूति बाद की बात है, पहले उसकी स्थिति में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विश्वास हो, अपने लिए उसकी प्राप्ति सम्भव लगे, उसका माहात्म्य विदित हो, उसके साधन में निष्ठा हो। जब शांति की दशा दूसरे में हो, तो साधारण जीव उसे देख नहीं सकता, जान नहीं पाता तथा वह दशा अनिर्वचनीय भी है, तो उसका प्रारम्भिक परिचय भी कैसे हो ? इस विषय में यद्यपि वह दशा गुप्त और गोपनीय है, सन्त अभिमान नहीं रखते न दर्प पूर्वक बोलते हैं और लोक मान्यता से बचे रहना चाहते हैं, अतः ख्याति से दूर भी रहना चाहते हैं, तथापि उन्होंने शांति के सागर का प्रामाणिक वर्णन किया है, जिससे श्रद्धालु जनों को शांति की प्राप्ति हेतु समुचित साधना करने की प्रेरणा मिलती है। सन्त चाहते हैं कि यथा सम्भव उनका अपना मान सम्मान न बढ़े, परन्तु हो सके तो लोगों में शांति के सागर की निमग्नता की ओर रुचि बढ़े, नहीं तो—

तृषित निरखि रविकर भव भारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी ।।

(बालकाण्ड)

अतः अपने को विज्ञप्त करना सन्तों को रुचिकर नहीं है, परन्तु शांति सागर को उजागर करने की रुचि उन्हें है। उसी हेतु उन्होंने उसका गायन किया है कि उस दिव्य दशा की ख्याति हो। शांति निरूपण जब सन्तों द्वारा होता है तो प्रयोजन पथ प्रदर्शन व प्रेरणा-प्रदान ही रहता है, न कि अहं भाव की तुष्टि या मान की प्राप्ति। आगे सयझाया है कि सन्त कोटि उपाय करने पर भी अहंकार की अग्नि में नहीं जलते (छन्द सं० ५४))। पाण्डित्य प्रदर्शन सन्तों का प्रयोजन कभी नहीं होता. मान-अर्जन का भी चाव नहीं होता 'सकल काम वासना विलानी' (छन्द सं० ५१) इसलिये कोई और लौकिक प्रयोजन भी नहीं होता, विशुद्ध कारुण्य ही होता है। उसी कारुण्य दृष्टिसे सन्तों ने शांति सागर उजागर (प्रसिद्ध) करने के लिए उसका वर्णन किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य तन मन को इस शांति सागर में डुबोए रहे, तो वह अहंकार की अग्नि में बिल्कुल नहीं जलेगा। अहंकार वालों को ऐसा नहीं लगता कि वे आग में जले जा रहे हैं। यह वैसा ही है जैसे सरसाम के रोगी को यह नहीं लगता कि उसे ज्वर है, नशे में मस्त व्यक्ति को यह नही लगता वह कमजोर है, पागल यदि अपने को राजा समझता है तो यह नहीं समझता कि वह वस्तुतः असहाय अवस्था में बन्धन में या पागल खाने में है। अहंकारी जिस ताप न तप्त है उसे नहीं समझता परन्तु तटस्थ विशेषज्ञ सन्त उसके ताप को समझता है। अध्ययन, विचार, मनन, सत्संग से साधकों को अहंकार का अग्निरूप और उसकी दाहकता उत्तरोत्तर अधिक अधिक समझ में आती जाती है।

ईर्ष्या और चिन्ता को सभी दाहक मानते हैं। क्रोध भी अग्निरूप है। इन सबकी उत्तपत्ति का आधार अहंकार ही है, वह दाहकों का मूल है। मुख्य दार्शनिक तत्त्व यह है कि विषय सुखों में उत्तेजना है, स्पन्दन है, उद्वेग है, इसी से परिणामतः उष्णता है, दाहकता है, तीक्ष्णता है, शान्ति पद निरुद्वेग है, शान्त व्यक्ति न किसी को उद्विग्न करता है, न स्वय उद्विग्न होता है (गीता १२. १५)। अनुद्वेग, अनुत्तेजना, निस्पन्द, मात्रा-स्पर्श रहित, गुणातीत दशा में ही शान्ति है, उसमें ताप नहीं शीतलता है। विषयासक्ति के क्षीण होने पर और विवेक जागृत होने पर स्पष्ट अनुभूति होती है कि — अशान्तस्य कुतः सुख (गीता २. ६६) 'निर्ममो निरहकारः स शान्तिमधिगच्छति ।। (गीता २. ७१.)

देहाध्यास ही अहं भाव है और वही त्रय तापों का मूल है, कारण है। अतः अहंकार की अग्निरूपता मान्य है। जो तन मन से शान्ति सागर में डूबा रहता है वह अहंकार की अग्नि से बचा रहता है, जलता नहीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उपर्युक्त विचारों, तर्कों, प्रमाणों आदि के अतिरिक्त यह अनुभव सिद्ध है कि शान्त पुरुष के अन्त:करण में शीतलता रहती, है, शेष सभी के अन्त:करण तप्त रहते हैं। भव ताप से बचने का स्थान शान्ति पद ही है। शान्ति पद ही राम प्रताप है जिससे त्रय ताप से तप्त मन रूपी तवा शीतल होता है (पूर्व छन्द सं० ६)। जो लोग शान्ति पद का किंचित मात्र आस्वादन कर सके हैं, पुन: पुरातन दृढ़ सस्कारों व पूर्वाभ्यास वश पुन: अस्मिता (अह भाव) में स्थित हो जाते हैं, वे पुन: भव दु:ख व ताप का अनुभव करते है और पुन: अस्मिता रहित शान्ति पद मे स्थित होने की इच्छा करते है, परन्तु जो तन मन से शान्ति सागर मे निमग्न रहते हैं, उनमें अहकार का उत्थान नहीं होता। वे अह अग्नि से नहीं जलते। उन्हें देह की विस्मृति होने लगती है –

देहं च त न चरम: स्थितमुत्थितं वा, सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।

दैवादुपेतमथ दैववशादपेत, वासो यथा परिकरो मदिरा मदान्ध:।
(श्री मद्भागवत ३, २८. ३७)

तन मन से डूबने का अर्थ पूरी तरह निमग्न होना है। मन तो समाधिमग्न होता ही है, शरीर की भी चंचलता समाप्त होती है और भौतिक शरीर पर भी शान्ति सागर स्नान का अत्यधिक शुभ प्रभाव पड़ता है, अनेक रोग दोषादि का शमन होता रहता है। ऐसे सन्तों के जीवन मे यदि चमत्कार दिखाई दें तो भी वे भगवदीय शक्ति की सहज लीलावत् होते हैं। जान बूझकर किये नहीं जाते, न प्रदर्शित या विज्ञप्त किए जाते हैं। उन चमत्कारों का सम्बन्धित सन्तों को यदि आभास भी हो तो अभिमान् नहीं होता। चन्द्रमा की सी शीतलता उनके हृदय में व्याप्त रहती है। रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मीहि कीजै। (वि० प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अहंकार की अगिनि मैं, दहत सकल संसार।
तुलसी बाचैं सन्तजन, केवल शान्ति अधार ॥५३॥

सारा संसार अहंकार की अग्नि में जल रहा है, तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्त जन इस अग्नि से केवल शान्ति का आश्रय लेकर बच जाते हैं।

साख्य कारिका के लेखक ईश्वर कृष्ण नास्तिक थे। उन्होंने सांख्य कारिका के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया कि ससार में जितने भी दु:ख हैं, उनके लौकिक उपाय हैं, उनसे वे दु:ख दूर होते है। तो फिर आध्यात्म (तत्त्वज्ञान) की क्या आवश्यकता है? इन प्रश्न का उत्तर देते हुए ईश्वर कृष्ण ने कहा कि विशिष्ट दु:खों के लौकिक उपाय तो हैं, परन्तु निवृत्त दु:खों की पुन: प्राप्ति की आशंका बनी रहती है तथा नए नए दु:ख भी प्राप्त होते रहते हैं। अत: इन सब लौकिक उपायों से दु:ख का अत्यन्ताभाव नहीं होता, दु:ख का प्रवाह बन्द नहीं होता। उसके लिए अध्वात्म (तत्त्वज्ञान) की आवश्यकता है। यह सर्वत्र विदित है कि साख्य दर्शन में प्रकृति को ही कर्म शक्ति युक्त माना गया है, पुरुष को अकर्ता माना है। पुरुष प्रकृति के साथ तादात्म्य (देहाध्यास) स्थापित करके प्रकृति के किए को भोगता हुआ बद्ध बना रहता है।

बँण्यो कीर मर्कट की नाईं। (उत्तर काण्ड)

सूरदास नलिनी को सुबटा कहु कौने जकर्यो। (सूरसागर) यह विपरीत ख्याति की अविद्या है, जो अस्मिता की जननी है। अहंभाव के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधार पर ही तापत्रय का उदय है। संसार अविवेकी की दृष्टि में रमणीक है, विवेकी की दृष्टि में अति भयावह है।

श्री अश्वघोष नामक प्रतिभाशाली बौद्ध कवि ने बुद्ध चरित्र काव्य ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में भगवान बुद्ध का कथन है —

नाशीविषेभ्यो हि तथा बिभेमि, न चाशनिभ्यो गगन च्युतेभ्यः।
न पावकेभ्यो ऽनिल सहितेभ्यो, यथा भय मे विषेभ्य एव ।।

'मैं सर्पों से इतना नहीं डरता, न आकाश से गिरती हुई बिजलियों से, न हवा से जोर पकड़ती हुई अग्नि से इतना डरता हूँ जितना भय मुझे विषयों से लगता है। अष्टावक्र गीता भी विषयों को विषवत् बतातीहै। (१ २)

आसुरी सम्पत्ति वाले लोग दर्पाभिमान को अपनाए रहते हैं, दाहक नहीं पाते। साधारण जन भी यह अनुभव नहीं करते कि अभिमानी जन प्रदाह (जलन) से पीड़ित हैं। यह ऐसा ही है जैसे जीर्ण ज्वर का ताप अनुभव में नहीं आता। इस विषय में भोगी और योगी के अनुभव एक से नहीं हैं। जिस योगी को शान्ति पद का अनुभव है वह उसे शीतल पाता हैं, उसकी तुलना में अहंकार की दशा दाहक है। मायावश जीव की दृष्टि में अहभाव, मान, अभिमान की दशा उत्तम है, दीनता की दशा दुःखद हैं, परन्तु सन्त दृष्टि इसके विपरीत है।

शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिये एहि रहनि, सन्त जनन को काम।।
(दोहावली)

इहाँ को सयानप अयानप सहस सम,
सूधे सति भाव कहे मिटति मलीनता। (वि० प०)

भलो बुरो सबको सुनि लीजै, गरि गुजरान गरीबी में। (कबीर)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभिमानी व्यक्ति यथेष्ट मान न मिलने से जलता है, उसकी अपेक्षा मन्द पुरुष अधिक सम्मानित है, इसलिए जलता है, वास्तविक या अपने द्वारा कल्पित अपमान की प्राप्ति से जलता है, उचित उपाधि, पदोन्नति नहीं मिलती तो जलता है। जीवन का जो भौतिक स्तर वह अभीष्ट और आवश्यक समझता है उस स्तर पर प्रतिष्ठित और स्थिर नहीं हो पाता तो भी जलता है। विद्या, जप, तप, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों में वह अपने को जैसा श्रेष्ठ मानता है वैसा समाज क्यों नहीं मानता इसलिए जलता है। यह सब तो अभिमान अर्थात घमण्ड का प्रभाव है, परन्तु अस्मिता (मैं हूँ की भावना) भी दाहक है।

अहं के साथ इदं की भावना का उदय होता हैं, द्वैत की सिद्धि होती है। मैं हूँ इसलिए शेष विराट् संसार बाहर पड़ा है। अहं दृश्य संसार को बश में नहीं कर पाता इसलिए दुःखी रहता है, संसार (दृश्य) असीमवत् है, अहं क्षुद्र है। विभिन्न अहं भी परस्पर टकराकर दुःखी होते हैं। अहं ज्ञानार्जन के पट बन्द करता है, विनयशीलता ज्ञान की आकर्षक है।

इस पर कहा जा सकता है कि अभिमान तो सबको होता है, अस्मिता के बिना जीवन कैसे चलेगा? शरीर यात्रा कैसे चलेगी? देहाध्यास हो जाने पर ऐसा ही प्रतीत होता है। जहाँ शान्ति के सागर में अस्मिता नमक की तरह घुल जाती है, ऐसे प्रश्न व सशय समाप्त हो जाते हैं। फिर अभिमान की दाहकता प्रत्यक्ष होती है, केवल अनुमान या शास्त्र प्रमाण पर आधारित नहीं रहती।

श्रुति गुरु साधु स्मृति सम्मत यह दृश्य सदा दुःखकारी।
तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति विपति सकै को टारी॥

(वि० प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिरले बिरले शान्ति निष्ठ सन्तों की छोड़कर सभी अहंकार की अग्नि में जल रहे हैं, जाने या बेजाने तप्त हो रहे हैं। शान्ति सागर निमग्न सन्तों की दृष्टि में थोड़े से सन्तों को छोड़कर सारा संसार ही इस अग्नि में जल रहा है। अन्य लोगों का कोई अपवाद नहीं है। या तो अहंभाव की अग्नि में जलना या शान्ति सागर निमग्न होना, तीसरा कोई विकल्प नहीं हैं— नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (उपनिषद्) इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है।

श्री गोस्वामी जी महाराज घोषित करते है कि सन्तजन अहंकार की अग्नि से बचे हुए हैं वह केवल शान्ति के आधार पर, कोई और तरकीब नहीं है। 'केवल' का तात्पर्य यह है कि न कोई दूसरा उपाय है न कोई दूसरा सहायक या अनुपूरक साधन है। सन्त जन किसी और उपाय से नहीं केवल शान्ति के आधार पर अहंकार की अग्नि से बचे रहते हैं, तथा शान्ति पद स्वयमेव अहं अग्नि से बचाने में सक्षम है, केवल उसी से बचत हो जाती है, उसके साथ किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती।

इस भाव के पीछे एक दार्शनिक रहस्य है। अहं के उदय के साथ ही इदं (यह दृश्य संसार) भासता है। अहं (मैं) जितना सत्य भासता है, उतना ही सत्य इदं भी भासता है। इस आभास से द्वैत का अनुभव होता है। फिर व्यावहारिक जगत् में विषयों का संस्पर्श होता है वह ज्ञानेन्द्रियों के अनुकूल प्रतिकूल पड़ता है। इससे सुख दुःख की अनुभूति होती है। तब सुखद विषय में राग, दुखद विषय में द्वेष होता है। तब जीव सुख की आशा में दुःख उठाता रहता है और त्रय ताप को प्राप्त होता है। निज सुख (शान्ति, आत्मानन्द) के बिना मन शान्त नहीं होता। — निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। (उत्तर काण्ड)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकाश अरु विषय आस मन माहीं।
तुलसीदास जग योनि भ्रमत, तब लगि सपनेहु सुख नाहीं ।।
(वि० प०)

इसलिए अहं के उदय और विकाश के साथ महर्षि पतञ्जलि कथित पंच क्लेशों (अविद्या अस्मिता राग द्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। योगसूत्र २ ३) की प्राप्ति अनिवार्य हो ही जाती है।

साधारण व्यक्ति सोचता है कि ईश्वर परम शक्तिशाली है तो उसका अभिमान भी बहुत होना चाहिए, परन्तु अभिमान जीव का लक्षण है, ईश्वर का नहीं। 'जीव धर्म अहमिति अभिमाना' उत्तर काण्ड। अभिमान द्वैत दर्शन के साथ के साथ होता है, अद्वैत दर्शन के साथ नहीं। अभिमान के केन्द्र विभिन्न बद्ध जीवों के अन्तःकरण हैं, यदि सर्व शक्तिमत्ता का अभिमान विभिन्न अन्तःकरणों में हो जाय तो वे आपसी संघर्ष में सीमित शक्ति वाले सिद्ध होंगे। ईश्वर की चेतना में अभिमान अप्रासंगिक है, क्योंकि अद्वैत है, दूसरे सभी प्रतीत होने वाले उसके स्वरुप से भिन्न नहीं हैं न उनकी शक्ति ही वस्तुतः ईश्वर की शक्ति से स्वतन्त्र या भिन्न है। इससे विपरीत आभास मायाकृत है।

छाया प्रत्याह्वया भासा, ह्यसन्तोऽप्यर्थ कारिणः।
(श्रीमद्भागवत)

छाया, प्रतिध्वनि (मिथ्या) आभास, असत्य (अविद्यमान्) होने पर भी प्रभाव रखते हैं।

जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुआँ के से धौर हर देखि तू न भूलि रे।। वि० प०।।
कायस्थोऽपि न कायस्थः, विद्वान स्वप्नवदोत्थितः।
अकायस्थोऽपि कायस्थः, कुमतिः स्वप्न दृग्यथा।।
[श्रीमद्भागवत]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ज्ञानी शरीरधारी होते हुए भी शरीर में स्थित नहीं है, जैसे जागने के बाद यह कोई नहीं मानता कि वह स्वप्न देखते समय स्वप्न वाले शरीर में स्थित था परन्तु अज्ञानी आत्म रूप से अशरीरी होते हुए भी देहधारी है जैसे स्वप्न दृष्टा, स्वप्न वाले शरीर को ही निज स्वरूप अनुभव करता है।

संसृति मूल शूल प्रद नाना। सकल शोक दायक अभिमाना॥
(उत्तर काण्ड)

अतः अनन्य शरणागत का भक्ति का अभिमान श्री भगवान् दूर कर देते हैं। न केवल अतिशय अभिमान (घमण्ड) दूर कर देते हैं, बल्कि मूल अभिमान (अहंभाव) भी दूर कर देते हैं। जब श्री नारद जी को अभिमान हुआ भगवान् ने सोचा —

उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी। वेगि सो मैं डारिहौं उखारी॥
(बालकाण्ड)

इसी प्रकार गरुड़ जी को भी अभिमान हुआ तो वह भी दूर किया गया।

होइहि कीन कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपा निधाना॥
(बालकाण्ड)

पहले तो गरुड़ जी को यह सन्देह हुआ कि सर्व शक्तिमान् भगवान् नागपाश में कैसे बँध गए, और जब में उन नागों को खा गया तब मुक्त हुए। परन्तु अभिमान के दूर होने पर तो उन्हें यह जान पड़ा कि भगवान् नागों के बस में नहीं हुए थे, वे (गरुड़) स्वयं संशय रूपी सर्प द्वारा डसे गए थे श्रीराम जी ने काकभशुण्डि जी के रूप में गरुड़ का काम किया और संशय रूप सर्प के विष को निवृत्त करके नया आध्यात्मिक जीवन दिया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संशय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुःखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ।।
तव स्वरूप गरुड़ रघुनायक। मोहि जियाएउ जन सुखदायक ।।

(उत्तर काण्ड)

इस प्रकार गरुड़पने का भी भाव गलित हो गया।

इसी प्रकार श्री भगवान् अपने सभी शरणागत भक्तों का अभिमान दूर करते हैं।

जिमि सिसु तन ब्रण होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन कीनाईं ।।

जदपि प्रथम दुःख पावै, रोवै बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी, गनै न सो सिसु पीर।
तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि।
तुलसीदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि ।।

(उत्तर काण्ड)

शास्त्र ने अभिमान को फोड़े की तरह एक महान् व्याधि बताया है, जिसके निवृत्त होने से ही चैन (शान्ति) मिल सकता है। इस हेतु अपमान रूप शल्य चिकित्सा भी आवश्यक और हितकारी सिद्ध हो सकती है।

अभिमान निवृत्ति के साथ संसृति [भव बन्धन] के मूल की निवृत्ति हो जाती है, और चित्त चिर-विश्रान्त (सदा के लिए शान्त) हो जाता है। जैसे श्री गोस्वामी जी "परम विश्राम" को प्राप्त हुए।

ऐसी शान्ति को अपने बल और अपने साधन से प्राप्त कर लेने का भी अभिमान सन्त को नहीं होता, नहीं हो सकता। इसका रहस्य इस प्रकार है।

ऊपर कह आए हैं—जहाँ शान्ति सतगुरु की दई (छन्द संख्या ५१)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
अत: शान्ति को अपने बल बूते पर प्राप्त नहीं माना जा सकता ।

यदि यह कल्पना कोई करे कि जिसे शान्ति प्राप्त हुई है, उसने साधन किया है तब प्राप्त हुई है, अत: उसके द्वारा अर्जित (कमाई हुई) है तो यह दोष प्राप्त होगा कि कि साधना तो तन मन बुद्धि द्वारा की गई, यदि वह उसकी साधना मानी जाय तो तन मन बुद्धि को उसका स्वरूप मानना पड़ेगा । इससे देहाध्यास अर्थात अभिमान सिद्ध होगा, जिसके छूटे बिना शान्ति पद मिलता नहीं । अत: शान्ति पद पर आरुढ़ होने वाले को साधनादि का भी अभिमान नहीं हो सकता ।

राम कीन चाहै सो होई । करै अन्यथा अस नहिं कोई ।।
उमा दारु योषित की नाईं । सबहि नचावत राम गोसाईं ।।
जेहि जब रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि क्षण होइ ।।
(बालकाण्ड)

तथा —

सो जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ।।
(अरण्य काण्ड)

जिस प्रकार सोता हुआ व्यक्ति अपने जागने का कुछ साधन नहीं कर सकता उसी प्रकार बद्ध जीव भी मोह-निशा में सो रहा है । वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से जाग नहीं सकता । स्वप्न जगत् के पुरुषार्थ का फल स्वप्न जगत् में ही प्राप्तव्य है ।

जानकीश की कृपा जगावती सुजान जीव,
जागु त्यागु मूढ़ता ऽनुरागु श्री हरे । वि० प० ।

इस प्रकार अभिमान के सर्वथा गलित होने पर ही शान्ति पद प्राप्त होता है और उसे 'अति शीतल, अति ही अमल' (छन्द ४८) कहा है । शान्ति पद में अहंकार की अग्नि का स्पर्श भी नहीं होता, उससे पूरी-पूरी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बचत रहती है। सन्तों को अहंकार की अग्नि से बचने के लिए अन्य कोई सावधानी भी नहीं बरतनी पड़ती। केवल शान्ति पद में प्रतिष्ठित रहना पर्याप्त है।

किसी राजा को दुर्ग (किले) में रहने पर भी शत्रु के प्रहार से बचने के लिए शस्त्रादि की व्यवस्था करनी पड़तो है, परन्तु यह शान्ति रूप दुर्ग सब ओर से पूर्णत: सुरक्षित व अभेद्य हैं – तहँ उतपात न भेदै आई। (छन्द सं० ४६)। इतना निर्विघ्न है यह शान्ति पद। गहराई से देखा जाय तो –

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एकउ बाधा॥
(किष्कन्धा काण्ड)

का यही तात्पर्य है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महा शान्ति जल परसि कै, सांत भए जन जोइ ।
अहं अगिनि ते नहिं दहैं, कोटि करै जो कोइ ॥५४॥

जो (सन्त) जन महा-शान्ति रूप जल का स्पर्श करके शान्त हो गए हैं, वे अहंकार की अग्नि में नहीं जल सकते, चाहे कोई इसके लिए करोड़ों उपाय करे ।

पिछले दोहे में बता चुके हैं कि केवल शान्ति के आधार पर सन्त जन अहंकार की अग्नि से बचे रहते हैं, जलते नहीं । अब इसके आगे बढ़कर शान्ति की महिमा बताते हैं । सन्त जन साधारण परिस्थितियों में शान्ति पद में बने रहते हैं, अहंकार का उदय नहीं होता, परन्तु यदि योजना बद्ध प्रयास किया जाय कि उनमें अहंभाव पैदा हो और वे अहं अग्नि में फिर से जलने लगें, तो उसका क्या परिणाम होगा ? क्या किसी साधन से उनमें पुनः अह अग्नि जलाई जा सकती है । लोक व्यवहार में अग्नि जलाई भी जाती हैं । बुझाई भी जाती है, क्या अहं अग्नि बुझाने के बाद किसी प्रकार पुनः जलाई जा सकती है ? देहात मे अक्सर लोग दूसरे घर से आग लाकर अपने यहाँ आग जलाते हैं । क्या किसी अन्य के अहभाव की प्रतिक्रिया में शान्त सन्त हृदय में अहं अग्नि पुनः प्रज्वलित हो सकती है ? यह प्रश्न अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल है ।

शान्ति की श्रेणियां हैं, सोपान हैं । इसी से विभिन्न वचनों में अलग अलग विशेषण लगाए गए हैं । कहीं शान्ति, कहीं अमल अदाग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शान्ति पद, कही शीतल सुखद शान्ति को सागर- कहीं अति शीतल अति अति ही सुखद, कहकर निरूपण किया गया है। यहाँ महा शान्ति का उल्लेख है।

महाशान्ति शान्ति से भिन्न नहीं है, शान्ति पद में कैसी, कितनी दृढ़ स्थिति है, इसको लेकर विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। साधारण जीव के लिए व्यावहारिक जगत् निश्चित रूप से सत्य है, इससे भिन्न, प्रथक, बेमेल, जो कुछ है असत्य है, संदिग्ध, भ्रमात्मक, स्वप्नवत्, मृगतृष्णावत् या सिनेमावत् आभास मात्र हैं। जगत् की सत्यता में दृढ़ आस्था रखने वाले ध्यान, समाधि आदि दशाओं के अनुभवों को भ्रमात्मक या स्वप्नवत् मिथ्याभास ही समझते हैं। यदि किसी की कुछ काल तक समाधि रही, फिर उसकी चेतना जाग्रत अवस्था में लौट आई तो ऐसे लोग यही समझते हैं कि उसका काल्पनिक जगत से वास्तविक जगत में पुनरागमन हुआ, जैसा स्वप्नावस्था से जाग्रत अवस्था में पुनरागमन का अनुभव होता हैं। ऐसी धारणा रखने वाले शान्ति पद के अयोग्य हैं। वे शान्ति पद नहीं पा सकते। वे अहं अग्नि में दह्यमान (जलते) रहते हैं। वे देहाध्यास से युक्त हैं और द्वंद्वात्मक जगत् में सत्य बुद्धि रखते हैं। देहाभिमान गलित होने पर शान्ति पद प्राप्त होता है।

जब तक साधक को ध्यान व समाधि की साधना, मानसिक व्यायाम या मनोविनोद की तरह प्रतीत होगी, तब तक शान्ति पद दूर रहेगा। योगी की दृष्टि में समाधि में ही सत्य का संस्पर्श होता है।

सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। गीता ६. २८ ।।

जिस तरह भोगी के लिए जगत् सत्य हैं, यह स्वतः प्रमाणित है, योगी के लिए ब्रह्म की सत्यता अनुभूत व स्वतः प्रमाणित है। इसके लिए उसे तर्क या प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। समाधिगत अनुभव की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
सत्यता की धारणा बनने पर व्यावहारिक जगत् पर आस्था घटने लगती है। भोगी और योगी की दृष्टि में दिन रात का अन्तर ठहरता है (गीता २. ६९.)। योगी की दृष्टि में जाग्रत अवस्था मोह निशा में सोये हुए व्यक्ति का स्वप्न दर्शन है।

मोह निशा सब सोवनि हारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा।।
(अयोध्या काण्ड)

जिस स्वप्न को हम असत्य मानते हैं जागने पर जिसके सभी अनुभव असिद्ध होते हैं, उसी स्वप्न की दशा में स्वप्न के शरीर से स्वप्न जगत् में आवश्यक और उपयुक्त व्यवहार करते ही हैं। इसलिए सन्तों ने जगत् की व्यावहारिक सत्ता मान्य की है, पारमार्थिक सत्ता मान्य नहीं की।

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंचु जिय जोइ।।
(अयोध्या काण्ड)

प्रबोध (ज्ञान) होने पर जगत् के हानि लाभ पूर्णतः महत्त्वहीन हो जाते हैं। शान्ति पद प्रबोध की स्थिति है, उसमें व्यावहारिक जगत् का महत्त्व समाप्त हो जाता है, देहाध्यास (अहंभाव) नहीं रहता।

अनेक जन्मों के संस्कारों के प्रभाव से जगत् में सहसा अनास्था नहीं होती, क्रमागत रूप से ही होती है। अवस्थाओं का परिवर्तन होता है, धारणा भी एक सी नहीं रहती। परन्तु समाधि सिद्ध (दृढ़) होने पर जगत् में अनास्था भी दृढ़ होती है, उसकी पारमार्थिक (अन्तिम रूप से तत्वतः या सिद्धान्ततः) सत्यता प्रतीत नहीं होती। तब जैसे जागने पर स्वप्न वाले देह का अध्यास नहीं होता वैसे ही प्रबोध होने पर जाग्रत अवस्था वाले देह में अध्यास नहीं रहता, अर्थात अहंभाव नष्ट होता है। अतः प्रबोध होने पर देहाभिमान, अहं अग्नि, की सम्भावना नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पहले ज्ञान की कच्ची अवस्था होती है जिसके लिए कहा है–

। बनसइ उपजइ जान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग । किष्किन्धा काण्ड ।

इस भूमिका में ज्ञान का उदय और अस्त होता रहता है। जैसे बार बार स्वप्नावस्था आती है और लुप्त व असिद्ध होती हैं। यह ज्ञान की अन्तिम अवस्था नहीं है। प्रतीतित: यह समाधि अवस्था चौथी अवस्था जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था की भाँति ही परिवर्तनीय है, तस्मात् इस पर भी उन अवस्थाओं की असत्यता के तर्क लागू होने लगते हैं। परिपक्वावस्था में तुरीय [चौथी] अवस्था शेष तीन की तरह नहीं है। यह उनमें व्याप्त है (तुरीयं त्रिषु संततम्)। ज्ञानी तीनों अवस्थाओं का साक्षी मात्र एकरस बना रहता है न कि ज्ञान की चौथी अवस्था शेष तीन को हटाकर या हटने पर आती है। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब दृश्य हैं (जैसे सिनेमा के रजत पट पर प्रदर्शित दृश्य), दृष्टा उस दृश्य में कहीं अपना स्वरूप नहीं मानता, वह दृश्य में सक्रिय नहीं, केवल साक्षी है। यह दशा शान्ति की दशा है, जो एकरस अखण्ड चलती है, यह जाने आने वाली नहीं है, यह सहज समाधि है, लगाई नहीं जाती, न छूटती है, न छोड़ी जाती है, न छुड़ाई जा सकती है। इसलिए शान्ति सागर का, आनन्द सिन्धु निमग्नता का, तथा यहाँ महाशान्ति का उल्लेख है, और घोषणा है कि उत्पात उसका भेदन नहीं कर सकते।

जो व्यक्ति जाग चुका है, क्या विगत स्वप्न वाली देह में उसका देहाध्यास [अहंभाव] कराया जा सकताहै ? नहीं। इसकी कोई तरकीब नहीं है, करोड़ों उपाय कीजिये वह जाग्रत पुरुष स्वप्न वाली देह में अह भाव नहीं रख सकता।

स्वप्नं पुनर्न भजते, प्रतिबुद्ध वस्तु: । श्री मद्भागवत ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जागा हुआ व्यक्ति स्वप्न की वस्तु का यथार्थवत् सेवन नहीं करता। इसी प्रकार दृढ़ ज्ञान होने पर [यथा – चितइ बितइ दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना ।। लंका काण्ड, महाशान्ति प्राप्त होती है। इस महाशान्ति के पद पर आते ही, महाशान्ति के [परम शीतल] जल का स्पर्श होते ही अहं अग्नि बुझ जाती है, और फिर अन्तःकरण में ऐसी शीतलता छाई रहती है कि उसके कारण अहं अग्नि का पुनः जल उठना सम्भव नहीं रहता।

निम्नतर सोपान वालों को यह जान पड़ता है कि जैसे जाग्रत अवस्था वाले पुकार कर, शोर मचा कर, अन्यतः विघ्न बाधा, उत्पात उपस्थित करके सोते हुए व्यक्ति को जगा सकते हैं, वैसे ही यह भी सम्भव होना चाहिये कि योग निद्रा भी भंग कर दी जाय, शान्त व्यक्ति को पुनः अशान्त कर दिया जाय, निवृत्त अहं भाव को फिर से उदित व सक्रिय कर दिया जाय। यह कल्पना ठीक नहीं है। एक तो जाग्रत अवस्था में आस्था रखने वाले मोह निशा में सों रहे हैं, परम शान्त योगी ही जाग रहे हैं। एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। अयोध्या कान्ड। सोते हुए लोग जागते हुए लोगों का कुछ नहीं विगाड़ सकते। जागा हुआ व्यक्ति सोते हुए को जगा सकता है, उसी तरह ज्ञानी शान्तिनिष्ठ सन्त दूसरे लोगों को शान्ति दे सकते हैं। अतः कह चुके हैं — जहाँ शान्ति सतगुरु की दई। [छन्द सं० ५१] स्वप्न देखता हुआ और बकता हुआ पुरुष जागे हुए व्यक्ति के लिए विघ्नकारी नहीं हो सकता।

जो व्यक्ति महाशान्ति में स्थित सन्त को सोया हुआ और अपने को जागा हुआ मानता है, उसकी मान्यता त्रुटिपूर्ण है। सचमुच मोह निशा में हम लोग सो रहे हैं और स्वप्न देख रहे हैं। हम लोगों के लिए श्री गोस्वामी जी का उपदेश है कि --

दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे। वि० प०।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसलिए महाशान्ति का स्पर्श होते ही, अहंभाव की निवृत्ति है, फिर अखण्ड असीम शीतलता और परमानन्दता है, वहाँ कोटि उपाय करने पर भी, अहं अग्नि का पुनः प्रज्जवलन संभव नहीं है।

इस स्थिति को भली भाँति समझ जाने पर यह हो नहीं सकता कि साधक को विषय वासना से छूटने और महाशान्ति पद में आरूढ होने का आकर्षण न हो। यही वैराग्य संदीपनी का प्रेरक व उत्साहवर्धक सन्देश है। हम इसे हृदयंगम करके वैराग्य के रसिक, भक्ति निष्ठ और शान्ति पदेच्छु बनें —

वैराग्य राग रसिको भव भक्ति निष्ठः।

पद्म पुराण, उत्तर खण्ड, श्री मद्भागवत्माहात्म्य (४. ७९)

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तेज होत तन तरनि को, अचरज मानत लोइ ।
तुलसी जो पानी भया, बहुरि कि पावक होइ ॥५५॥

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि (उपर्युक्त महाशान्त सन्त का सूर्य के समान तेज हो जाता है, उसके तेज को देखकर लोग आश्चर्य करते हैं। परन्तु वह सन्त जल के समान शीतल हो चुका, अब फिर अग्नि के समान (अहं अग्नि से युक्त तप्त और दाहक) नहीं हो सकता।

शान्ति सागर निमग्न सन्त की सौम्य शीतल निर्विकार दशा बता चुके। परन्तु श्री गोस्वामी जी का यह अर्थ कदापि नहीं है कि ऐसे सन्त व्यवहारिक जगत् में निष्प्रभावी हैं। अत: तेजस्विता का कथन करते हैं। आग और पानी परस्पर विरोधी हैं। अग्नि उष्ण है, दाहक हैं जल सौम्य है, शीतल है। विपरीत प्रकृति के तत्व हैं। पूर्व प्रसंग में शान्ति को जल निधि (समुद्र की तरह बता चुके हैं और अहंकार को अग्नि की तरह। परन्तु वह रूपक उस विरोधाभास को प्रकट करने के लिए ही उपयोगी था। अग्नि जल से बुझ जाती है उसी तरह अहं अग्नि भी महाशान्ति के जल के संस्पर्श से बुझ जाती है, यह भी बता दिया गया। परन्तु अन्यत: वह रूपक पूरा नहीं पड़ता। जल में शीतलता है परन्तु तेज (प्रकाश) नहीं है' अग्नि में दाहकता है परन्तु तेज भी है। शान्ति पद में शीतलता भी है, तेज भी है, इसलिए शान्ति एकदम जल की तरह नहीं है। सौम्यता, शीतलता, अगाधता प्रकट करने के लिए शान्ति को सागर कहा गया परन्तु शान्ति पद में भी तेज है, प्रताप भी है, अब यह विरोधाभास अलंकार का आश्रय लेकर समझाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शान्त सन्त के शरीर में सूर्य का सा तेज होता है, ऐसा तेज कि जिसे देखकर लोग आश्चर्य चकित होते हैं। इस वचन का अक्षरार्थ लेकर भौतिक जीवन में घटित करें तो वर्णन की अतिरंजना या अतिशयक्ति ही जान पड़ेगी, क्योंकि किसी भी सन्त में सूर्य क्या दीपक की तरह का भी प्रकाश नहीं मिलेगा कि अन्धकार निवृत्ति के लिए किसी अन्य प्रकार से उजाला करने की आवश्यकता न पड़े। अत: इस वचन को समझने के लिए अ[illegible] गहराई में जाने की आवश्यकता है। लोक भाषा में भी यह [illegible] जाता है कि अमुक व्यक्ति (सन्त) का चेहरा शूर्य की तरह देदीप्यमान है। साधारण मनुष्य के समझने लायक, इस वचन का सुगम अर्थ, इतना ही समझना चाहिए। परन्तु इस वचन का भावार्थ इतना ही नहीं है।

यह सही है कि तपोनिष्ठ, ब्रह्मचारी, भजनानन्दी सन्त का मुख अन्यन्त तेजस्वी जान पड़ता है। यह लक्षण किसी किसी सन्त में प्रमुख होता है। उनके चेहरे पर विशेष चमक या दमक प्रतीत होती है। किरनें फूटती हुई तो नहीं दिखाई देतीं परन्तु फिर भी एक विशेष तेज (उर्दू भाषा के अनुसार जलाल) प्रतीत होता है। यह तेज सब लोगों को एक सा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, परन्तु तेजस्वी चेहरा जन सामान्य द्वारा जाना ओर माना जाता है। चेहरे के रंग काले या गोरे होने से इसका कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता।

सूक्ष्म बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक तेजो बलय होता है, मुख के चारों ओर एक ज्योंति चक्र होता है। यह ज्योति चक्र या तेजो वलय सबका एक सा नहीं होता। उसमें अनेक रंग होते हैं। तपस्वी या सन्त पुरुष का तेजो वलय अधिक चमकीला होता है और उसमें आकर्षक रंगों की प्रधानता रहती हैं। किसी के भावोद्रेक के अनुसार तेजो वलय के रंगों में परिवर्तन होता रहता है। भगवान् के ध्यान के समय तेजो वजय विशेष उत्तम हो जाता है। उत्तम सतोगुणी भावों के उदय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के समय भी वह श्रेष्ठतर हो जाता है। इसी प्रकार शोक, क्रोध, ग्लानि आदि का भी तेजोवलय पर प्रभाव पड़ता है। तेजोवलय साधारण व्यक्ति को दिखाई नहीं देता, योगी को स्पष्ट दिखाई देता है। साधारणत: किसी कमरे का अँधेरा तेजो वलय से दूर नहीं होता, तेजो वलय का प्रकाश साधारण प्रकाश की तरह काम नहीं करता, उसमें गुणात्मक भेद होता है। इसी तरह कभी कभी योगी को अनुभव होता है कि कमरा सुगंध से भर गया है, परन्तु उसके पास बैठे दूसरे साधारण आदमी को इस सुगंध का अनुभव नहीं होता। जैसे योगी की अनहद (अनाहत) ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, जो पास के अन्य व्यक्ति को नहीं सुनाई पड़तीं। इन कारणों से भी इन्हें दिव्य अनुभूतियाँ कहा जाता हैं। जब किसी को भगवान् के दर्शन ध्यान में होते हैं या किसी दिव्य सृष्टि के सन्त के इसी प्रकार दर्शन होते हैं तो उस समय उनका तेजोमय रूप स्पष्ट रहता है। यह भगवान् की लीला है कि वे किसी को कितना तेज दिखाएँ। इसमें यह भी प्रश्न रहता है कि कितनी तीव्र अनुभूति करने की शक्ति दर्शनकर्ता में विकसित हो पाई है। कभी कभी श्री भगवान् के प्रताप से सन्तो को अपार तेज का अनुभव होता है, अनुभव के समय उस प्रकार की तीव्रता स्पष्ट रहती है, परन्तु केवल अनुभवकर्ता को, अन्य साधारण जनों को नहीं। बाइबिल व कुरान में (दोनों ग्रन्थों में) यह उल्लेख है कि हजरत मूसा (मोज़ेज़) को कोहे तूर (तूर नामक पर्वत पर भगवान् का इतना प्रकाश दिखाई पड़ा कि यह जान पड़ा कि वह पर्वत जला जा रहा है। कथा के अनुसार जो कुछ मूसा को दिखाई पड़ा वह भगवान् का पूर्ण तेज नहीं था, उनके लिए उपयुक्त सौम्य स्वरूप दिखाया गया था। श्री गीता जी के ग्या रहवें अध्याय में विराट् स्वरूप के दर्शन का वर्णन है अर्जुन को उस विराट् स्वरूप में इतना तेज दिखाई पड़ा कि यदि एक हजार सूर्य एक साथ आकाश में उदय हों तो उनके सदृश भगवान् का तेज था। (११. १२) संस्कृत के महाकवि माघ ने शिशुपाल वध महाकाव्य लिखा है। उसमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रारम्भ में ही देवर्षि नारद के आकाश मार्ग से अवतरण का वर्णन है। पहले एक ज्योति पुञ्ज आकाश से उतरता दिखाई पड़ा, निकट आने पर श्री नारद जीं का का स्वरूप प्रकट हुआ। भगवान् का जो अपार तेज अर्जुन ने देखा, वह चर्म चक्षुओं से देखा जाना सम्भव नहीं था, भगवान् कृष्ण ने दिव्य दृष्टि दी जब दर्शन हो सका।

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि सन्त जनों का दिव्य तेज सूर्य के समान हो सकता है, होता है। हाँ साधारण जन उसे यथावत् नही देख पाते, यद्यपि उन्हें भी मुख तेजस्वी जान पड़ता है। साधारण जन कभी कभी इस तेजस्वी मुख को देखकर ही आश्चर्यचकित होते हैं। तेजोवलय के प्रताप, प्रभाव से ही मुख तेजस्वी या मलीन दिखाई पड़ता है। मुखाकृति या उससे सूचित होने वाले भाव सब तेजो वलय के ही प्रभाव हैं। ग्रहण के समय सूर्थ को सीधे देखना इष्ट नहीं माना गया है। लोग शीशे में करखा लगाकर ग्रहण ग्रस्त सूर्य का प्रतिबिम्ब मात्र देखते हैं। कुछ न कुछ ऐसा ही मामला मुख तेज का भी है। व्यावहारिक जगत् में साधारण व्यक्ति को जो मुख तेज दिखाई देता है वह वास्तविक तेज का एक मलिन प्रतिबिम्ब मात्र हैं। उस प्रतीक दर्शन से हीं लोग आश्चर्य मानते हैं, परन्तु दिव्य दृष्टि सम्पन्न योगी तो सूर्प के समान तेज को यथा वत् देख सकते हैं, जो सचमुच आश्चर्य जनक होता है।

आश्धर्य तभी एक आश्चर्य रहता है, जब तक उसका रहस्य प्रकट न हो। अत: आश्चर्य जनक लक्षण को पहचानना चाहिए तथा उसका रहस्य भी समझना चाहिए। श्री गोस्वामी जी ने आश्चर्य अंकित कर दिया है। जल की सी शीतलता अह अग्नि का पूर्णत: अभाव परन्तु सूर्य का सा तेज एक साथ कैसे ? यही तो आश्चर्य का विषय है। अग्नि में दाहकता है, तेज भी है जल में इन दोनों में से कुछ नहीं है, तो फिर शान्त सन्त में चन्द्रमा की सी शीतलता व सूर्य का सा तेज एक साथ कैसे ? जब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कौशल होते हुए भी क्षमा, करुणा, उपकार, सेवा, 'सर्वभूत हित' आदि कोमल गुणों का बाहुल्य रहता है। शीतलता और तेजस्विता का समन्वित रूप सन्तों के जीवन में दिखाई देता है।

सूर्य पराक्रम का भी प्रतीक है, सन्तों के निष्काम निर्विघ्न शान्त जीवन में निष्क्रियता प्रतीत होती हो तो वह मिथ्याभास है उनके जीवन में प्रभाव, प्रताप, चमत्कार पराक्रम है। सन्तों का जितना प्रभाव जन जीवन पर पड़ा है, उतना सेनापतियों, सम्राटों' विद्वानों, शास्त्रार्थ महारथियों, लेखकों, शोधकर्त्ताओं आदि में से किसी वर्ग का नहीं पड़ा। सन्त कुछ न करके भी बहुत कुछ कर जाते हैं, सूर्य की तरह।

प्रस्तुत दोहे पर विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि श्री गोस्वामी जी के इष्ट देव श्री राम जी स्वयं रवि कुल रविराम हैं, तवापि शीतल हैं, शील सिंधु हैं सबको सुख देने वाले हैं। रामचन्द्र हैं। छन्द सं० २ में कह चुके हैं।

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुण ग्राम।
हृदय कमल फूलै नहीं, बिनु रवि कुल रवि राम॥

हृदय कमल को विकसित करने के लिए राम सूर्य हैं, मोहान्धकार निवारण के लिए भी राम सूर्य हैं (विद्रावितो मोह महान्धकारो। श्रीमद्भागवत ११. २९. ३७,)। सूर्य से नजर नहीं मिला सकते, उसके वास्ते राम 'चन्द्र हैं' कृष्ण भी 'चन्द्र' हैं।

राम चन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजै। वि० प०।

सबको आराम देने वाले का नाम राम, सबको आकर्षित करने वाला 'कृष्ण' है, सबको रुलाने वाला रावण है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रचण्ड तेज है तो दाहकता क्यों नहीं ? यही विचित्रता है, यही आश्चर्य है। अब इसका रहस्य देखिये। विज्ञान के अनुसार ऊष्मा की लहरें और प्रकाश की लहरें अलग अलग हैं। दोपहर के घाम के समय हमें सूर्य से दोनों प्रकार की लहरें खूब मिलती हैं, परन्तु संभव हैं कि सूर्य की किरणों को सौम्य बनाया जाय, इसमें प्रकाश भी कम होगा, लेकिन ऊष्मा (गरमी) तो बहुत कम हो सकती हैं, व्यवहार में तो मिट ही सकती है। यदि आप दोपहर के समय एक ऐसे कमरे में बैठे हों जिसके द्वारों और खिड़कियों में गहरे हरे या नीले रंग के शीशे लगे हों और बाहर का प्रकाश इन शीशों में होकर बन्द कमरे के भीतर आता हो तो आपको सौम्य प्रकाश मिलेगा, जिसमें गरमी का अभाव होगा। उमस लग सकती है, परन्तु बिजली का पंखा चल रहा हो तो उमस भी नहीं लगेगी। इससे यह सम्भावना सिद्ध होती है कि प्रकाश खूब हो परन्तु उसमें गरमी (दाहकता) बिल्कुल न हो। उपर्युक्त प्रबन्ध तो शीशमहल में सम्भव है, पर साधारण दैनिक जीवन में भी हम चन्द्रमा को शीतल पाते हैं, यद्यपि सूर्य का प्रकाश (घाम) ऊष्ण है और विज्ञान वेत्ता बताते हैं कि चन्द्र का प्रकाश भी सूर्य का ही चन्द्र तल से परावर्तित प्रकाश है, अर्थात चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश को ठंडा बनाकर पृथ्वी पर भेजता है। इस सबसे यह प्रदर्शित हो जाता है कि तेज और दाहकता में अटूट संबन्ध नहीं है। प्रबल परन्तु शीतल तेज सम्भव है। शरत्पूर्णिमा के चन्द्र का इसी सम्बन्ध में यश हैं। ऐसी मान्यता है कि शरत्पूर्णिमा की चन्द्रिका में अमृत का प्रभाव रहता है। इसलिए शान्त सन्त का एक साथ शीतल व अत्यन्त तेजस्वी होना साधारण दृष्टि से आश्चर्यजनक होते हुए भी विचार विवेक दृष्टि से संभव है जल की शीतलता और अग्नि की दाहकता विरोधी लक्षण हैं, परन्तु शीतलता और तेजस्विता का कोई वास्तविक विरोध नहीं है। अहंभाव युक्त रजोगुणी जीव में आसुरी सम्पत्ति के प्रबल होने पर दाहक लक्षण मिल सकते हैं, पर सन्तों में उनसे कहीं अधिक शक्ति, प्रभाव, प्रताप

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कौशल होते हुए भी क्षमा, करुणा, उपकार, सेवा, 'सर्वभूत हित' आदि कोमल गुणों का बाहुल्य रहता है। शीतलता और तेजस्विता का समन्वित रूप सन्तों के जीवन में दिखाई देता है।

सूर्य पराक्रम का भी प्रतीक है, सन्तों के निष्काम निर्विघ्न शान्त जीवन में निष्क्रियता प्रतीत होती हो तो वह मिथ्याभास है उनके जीवन में प्रभाव, प्रताप, चमत्कार पराक्रम है। सन्तों का जितना प्रभाव जन जीवन पर पड़ा है, उतना सेनापतियों, सम्राटों' विद्वानों, शास्त्रार्थ महारथियों, लेखकों, शोधकर्त्ताओं आदि में से किसी वर्ग का नहीं पड़ा। सन्त कुछ न करके भी बहुत कुछ कर जाते हैं. सूर्य की तरह।

प्रस्तुत दोहे पर विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि श्री गोस्वामी जी के इष्ट देव श्री राम जी स्वयं रवि कुल रविराम हैं, तवापि शीतल हैं, शील सिंधु हैं सबको सुख देने वाले हैं। रामचन्द्र हैं। छन्द सं० २ में कह चुके हैं।

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुण ग्राम।
हृदय कमल फूलै नहीं, बिनु रवि कुल रवि राम॥

हृदय कमल को विकसित करने के लिए राम सूर्य हैं, मोहान्धकार निवारण के लिए भी राम सूर्य हैं (विद्रावितो मोह महान्धकारो। श्रीमद्भागवत ११. २९. ३७,)। सूर्य से नजर नहीं मिला सकते, उसके वास्ते राम 'चन्द्र हैं' कृष्ण भी 'चन्द्र' हैं।

राम चन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजै। वि० प०।

सबको आराम देने वाले का नाम राम, सबको आकर्षित करने वाला 'कृष्ण' है, सबको रुलाने वाला रावण है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री राम नाम को भी– 'हेतु कृशानु भानु हिमकर को' कहा। श्री राम नाम अग्नि का भी बीज है, सूर्य का भी बीज है, चन्द्र का भी बीज है। श्री राम नाम में पापों को भस्म करने की अपार शक्ति है, मोहान्धकार की चिर निवृत्ति के लिए सूर्य के समान प्रचण्ड तेज है अन्तःकरण को चिर शीतल करने के लिए चन्द्रमा की सी शक्ति हैं।

तेज और शीतलता का एकत्र निवास जैसे राम नाम में है, जैसे भगवान् में हैं, वैसे ही सन्त में भी हैं। न उनका बल शारीरिक बल या पराक्रम पर आश्रित है, न उनकी शीतलता बनावटी पुष्पितावाणी या दम्भ पर निर्भर है, उसका रहस्य और गौरव आध्यात्मिक है। वैराग्य को साधारणतः जैसा नीरस समझा जाता है, वह वैसा नहीं है, सच्चा वैराग्य भगवदीय रस से परिपूर्ण, परम सरस होता है, इसको अविवेकी जन नहीं समझ पाते।

कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ शिला पहिचानत॥
तुलसी भूलि गए रस एहा। ते जन प्रकट राम की देहा॥
– – – (पूर्व छन्द सं० २८)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यद्यपि सीतल सम सुखद, जग में जीवन प्रान ।
तदपि शान्ति जल जनि गनौ, पावक तेज प्रमान ॥५६॥

यद्यपि शान्ति शीतल, समतापूर्ण, सुखदाई है, इस जग (लौकिक व्यवहार में) शान्ति पद निष्ठ सन्तों के लिए जीवन और प्राण के समान है, तथापि उसे (मात्र) पानी नहीं समझना जाहिये, उसमें अग्नि का सा तेज है ।

पूर्व निरूपण को दृढ़ करते हुए श्री शोस्वामी जो कहते हैं कि यद्यपि जल के से सौम्य गुण शान्ति में पाये जाते हैं यथा शीतलता, समता, सुख प्रद होना, जीवन प्राणवत् आवश्यक व श्रेयस्कर होना, परन्तु शान्ति को पराक्रम हीन नहीं समझना चाहिए, उसमें अग्नि का सा तेज प्रमाणित है । शान्ति एक रस शान्ति ही रहती है तथापि उसमें सौम्य गुणों के साथ प्रचण्ड प्रताप भी पाया जाता है, यही उसकी अलौकिकता हैं, चमत्कार है ।

शान्ति की शीतलता का ऊपर निरूपण हो चुका है, वह अहं भाव नाशिनी व अन्तःकरण को शान्त, अनुद्विग्न, आनन्दित रखने वाली है । अहं अग्नि क्रोध अग्नि तथा अन्य विकारों की अग्नि को वह सुलगने नहीं देती अन्तःकरण कभी भी अशान्त या तप्त नहीं होता ।

जैसे जल में समतलता बनाए रखने का गुण है । कूप में से या जलाशय (तालाब आदि) में से जल निकालने पर गड्ढा नहीं पढ़ता, जल तल समान हो जाता है, उसी तरह शान्ति के प्रताप से अन्तःकरण सम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
अर्थात् संतुलित, अचंचल, शान्त, एकरस रहता है। पूर्व छन्द सं० १३ में सन्तों की समता का उल्लेख हो चुका है। जो शान्त हैं, स्थिर प्रज्ञ है, सम है, न उद्विग्न होता है, और न किसी को उद्विग्न करता है, वह शान्ति के दिव्य लोक का वासी हैं, जहाँ स्पन्दन, हलचल, उत्तेजना, विकार, उष्णता, संघर्ष, राग, द्वेष आदि का प्रवेश नहीं। समता ही शान्ति की पहिचान है। शान्त पुरुष शत्रु, मित्र जय, पराजय, हानि, लाभ, मान, अपमान, आदि द्वंद्वों से परे रहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर रहती है, समता एकरस बनी रहतीं है, मुख कान्ति कभी मलीन नहीं होती। जैसा कि श्री अयोध्या काण्ड में श्री रामचन्द्र जी की मुख कान्ति के विषय में प्रारम्भ में ही स्तवन हुआ है—

प्रसन्नतां या न गता ऽभिषेकतस्, तथा न मम्ले वन वास दुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य मे, सदा सा मंजुल मंगल प्रदा॥

श्री रघुनाथ जी के मुखारविन्द की शोभा जो राज्याभिषेक के प्रसंग से विकसित नहीं हुई, न बनवास के प्रसंग से मलीन हुई, वही [एकरस] मुखश्री मेरे लिए मंजुल मंगल प्रदायिनी हो। इष्टदेव के मुख की कान्ति की समता, एकरसता पर श्री तुलसीदास जी न्योछावर हैं। जिस किसी के हृदय में शान्ति प्रतिष्ठित हो जाती है वहाँ भी यही समता ऐसा ही मानसिक सन्तुलन द्वंद्वातीत शान्त, निर्विकार दशा बराबर बनी रहती है। समता की जगह विषमता कभी नहीं आती।

जल सुखद भी है। शरीर शुद्धि, मानसिक स्फूर्ति, प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए स्नान किया जाता है। स्नान करने से जल सुस्ती, उदासी, आलस्य आदि दोषों को कम करता है या निवृत्त करता है। शान्ति का भी ऐसा ही प्रभाव है। श्रान्ति [थकान] क्लान्ति [अनुत्साह, ग्लानि] आदि विकार स्नान से दूर होते है। जल पीने से तृषा (प्यास) दूर होती है। जल शरीर की अतिरिक्त गरमी को प्रवाहित कर देने में उप-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

योगी है। भोजन की पाचन क्रिया में भी जल का बड़ा हाथ है। शुद्ध जल का प्रबन्ध रखने से और विधि पूर्वक प्रबन्ध रखने से स्वास्थ्य ठीक रखने में बड़ी सहायता मिलती है। परिपाक संस्थान की सफाई में जल का अत्यन्त उपयोग है। भोजन के बिना मानव जितने समय तक जी सकता है जल न मिले तो बससे भी कम समय तक जी सकता है। जल अनेक रूपों में सुखद है। फल शाकादि में भी प्राकृतिक रूप से शुद्ध जल की मात्रा रहती है, शुद्ध दूध में भी पर्याप्त मात्रा में शुद्ध जल रहता है। खाद्योजों [विटामिनों] की रक्षा व उपयोग में जल का हाथ है।

इस प्रकार जल कितने ही रूपों में प्राण-धारण, जीवन यापन में सहायक है। 'जीवन' जल का एक नाम ही मान लिया गया है। जैसे अन्न को लोग प्राणों का आधार मानते हैं, उससे अधिक प्राणों को [जीवन को] जल का आधार है।

शान्ति को जल कहकर संक्षेप में यह सूचित कर दिया गया है। कि जीवन में [साधारण मनुष्य के जीवन में भी] शान्ति का वैसा ही या उससे भी अधिक महत्त्व मान्य है।

चिन्ता, व्यग्रता, बेचैनी, चंचलता, विकार आदि का क्षीण होना, यह व्यावहारिक शान्ति हैं, शोक, मोह, क्रोधादि से जलन न हो तो यह भी सापेक्ष (अपेक्षाकृत) शान्ति है, ज्वर, फ़ोड़ा, फुंसी सूजन अदि की जलन या कष्ट न हो तो यह स्वास्थ्य सम्बन्धी शान्ति है। इस प्रकार की शान्ति हर एक को चाहिए। इसकी फिक्र उसे करनी ही होती हैं। इस निम्न सोपान की शान्ति के बिना काम नहीं चल सकता। जीवन यापन के साधन यदि अन्न की तरह आवश्यक हैं तो यह जल (या वायु) की तरह आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिस शान्ति का निरूपण प्रस्तुत प्रसंग में किया गया है, वह तो निरपेक्ष, पूर्ण शान्ति है, परन्तु वह तो साधना के उच्च सोपान पर अपना चमत्कार दिखाती हैं। साधारण मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के लिए, निम्न स्तर पर भी शान्ति का महान् उपयोग है। उससे कम उपयोग नहीं, जितना जल का है।

काम करने से गरमी पैदा होती है, ज्वर में भी गरमी होती है, क्रोधादि विकारों में भी, परन्तु यह गर्मी जाड़े को दूर करने में सक्षम नहीं होती उल्टे जाड़ा लगने की आशंका, रोगी हो जाने का डर बढ़ जाता है। परन्तु यह मान लिया गया है कि विश्राम (साधारण स्तर पर शान्ति ऐसे ताप को कम कर सकती है या दूर करने में सहायक हो सकती है। प्राकृतिक चिकित्सा या योग की दृष्टि से बहुत से रोग बिना दवा के या दवा के स्वल्प प्रयोग से शान्त हो सकते हैं, परन्तु शान्ति की अधिक आवश्यकता होती है।

इससे आगे बढ़कर हम देखते हैं कि विकारग्रस्त अशान्त मन ही अनेक रोगों का कारण है। डाक्टरी के साधारण पाठ्यक्रम से इस विषय की अधिक जानकारी नहीं मिलती परन्तु मानसिक चिकित्सा विशेषज्ञ महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सके हैं और उन्होंने आश्चर्य जनक परिणाम निकाले हैं। सिग्मण्ड फ्रायड नाम के महापुरुष ने मनोविश्लेषण की पद्धति निकाली और वह मत प्रतिस्थापित किया कि दबे हुए मनोविकार अचेतन मन में सक्रिय रहते हैं, और वे मानसिक रोगों की विकृतियों (अपलक्षणों) के कारण हैं। यदि वे चेतना मे लाए जा सकें तो उतने से ही सबन्धित विकृतियां ठीक हो जाती हैं। आज वह माना जाने लगा है कि अनेक भयंकर रोग मानसिक जटिलताओं, विषमताओं, ग्रन्थियों आदि के कारण ही होते हैं, शुद्ध प्रशान्त मन वाले को नहीं हो सकते। अब आभास भी हो रहा है कि मन प्रशान्त और शुद्ध हो जाय तो यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रोग ठहर भी नहीं सकते। ऐसा आभास हो भी जाय तो डाक्टरी इस समस्या पर अटकी रहती है कि भयंकर रोगों के शिकार लोगों का मन सहसा शुद्ध, प्रशान्त (स्वस्थ) कैसे बनाया जा सकता है ? दवाइयों से तो यह काम हो नहीं सकता। योग व अध्यात्म के पास इसकी कुंजी है। शान्ति के बढ़ते हुए चरण किस प्रकार त्रयताप का शमन करते हैं यह क्रम हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह स्पष्ट नहीं किया जा सकता, यहाँ उसकी प्रसांगिकता नहीं है. वह चिकित्सा सास्त्र, मनोविज्ञान, योग, शास्त्र, दर्शन शास्त्र अदि के क्षेत्र में आता है, यहाँ स्थानाभाव, योग्यता-भाव आदि का भी अवरोध है, परन्तु यह वात अकाट्य है कि शान्ति का विकास ताप त्रय नाशक और अन्तःकरण को शीतल करने वाला है। इतने से ही हमारा यहाँ प्रयोजन है।

शान्ति में समता का भी गुण है। समता ओर शान्ति का अटूट संबंध हैं। गुणातीत व्यक्ति ही सम है और वही शान्त हैं। समता अनुद्वेग का कारण है, अनुद्वेग में ही शान्ति मिलती है। सुख, दुख, हानि, लाभ, सफलता, विफलता, आदि में एक समान रहने वाले कीं ही शान्ति स्थिर रह सकती हैं। भक्तराज प्रहलाद के अनुसार समत्व ही अच्युत भगवान् की आराधना है। (श्रीमद्भागवत) स्वार्थ वश ही मनुष्यों में भेद दृष्टि व विषम दृष्टि होती है। नितान्त निःस्वार्थ, निष्काम, निरीह व्यक्ति समदृष्टि ही रखता है। शान्ति के साथ स्वाभायिक गुण समता है। जिसने मन में समती धारी। उसने सृष्टि विजय की सारी ।। (गीता ५. १९.)। सर्वत्र भगवान् को देखने वाला भक्त समदृष्टि ही रख सकता हैं।

अविवेकी मन में यह कल्पना होती है कि जिसकी प्रत्येक परिस्विति में और प्रत्मेक व्यक्ति में समदृष्टि हो उसका जीवन बड़ा ही नीरस होगा, क्योंकि वह किसी व्यक्ति या परिस्थिति में सुखानुभव नहीं करेगा। यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कल्पना इस भ्रम पर आधारित है कि सुख का एक मात्र स्रोत है कामना पूर्ति। समभाव होने पर निष्कामता इस स्रोत को समाप्त कर देती हैं। अतः सुख संभव नहीं रहता। भगवान् बुद्ध का ज्ञान इस कल्पना से उल्टा है। तृष्णा, कामना या वासना ही दुःख का मूल है, उसके विनाश से ही दुःख का विनाश होगा (सुख का नहीं)। वेद, स्मृति, आगम, महाभारत, पुराण आदि सास्त्रों में भी सुखी जीवन के लिए कामना की पूर्ति नहीं, निवृत्ति आवश्यक बताई गई है। जैन धर्म ने भी वासना की निवृत्ति को आवश्यक माना है। सारा आध्यात्मिक जगत् वासना की निवृत्त में दुख से छुटकारा [मोक्ष] देखता है। साधारण व्यक्ति की उल्टी दृष्टि माया के कारण है।

विषयों का सुख निषेधात्मक, ऋणात्मक, नकारात्मक, है। प्यास के दुख की निवृत्ति पानी से, भूख की भोजन से, रोग की दवा से होती हैं। विशेष दुःखों के प्रतिकार हेतु विषय सेवन होता हैं। श्री भर्तृहरि ने कहा है :—

प्रतिकारो व्याधेः सुखमिति मन्यन्ते ऽबुध जनाः।

(वैराग्य शतक)

जो व्याधि (या दुःख) का प्रतिकार मात्र है उसको अज्ञानी लोग सुख मानते हैं।

जिस प्रकार श्री भर्तृहरि जी ने सांसारिक सुखों को दुःख का प्रतिकार मात्र बताया है, उसी प्रकार अविवेकी जन शान्ति में केवल दुःख का अभाव मात्र देखते हैं, उसका कुछ अपना विलक्षण सुख है यह उनकी समझ में नहीं आता। परन्तु श्री गोस्वामी तुलसीदास तो कह चुके हैं कि शान्ति के समान सारी सृष्टि में कोई सुख है ही नहीं। (पूर्व छन्द ५०) इसलिए शान्ति को यहां सुखद कहकर उसका स्वाभाविक और प्रबल लक्षण ही बताया गया है। सुखमक्षयमश्नुते [गीता ५. २१.] अक्षय सुख

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्राप्त करता है। सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। गीता ६. २८.) बह्म की अनुभूति से अत्यन्त सुख पाता है। ये वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति (उपनिषद्) असीम में ही सुख है अल्प में नहीं। फिरहिं सनेह मगन सुख अपने। बाल काण्ड। आदि प्रमाणों से इस सुख का आभास मिलता है।

शान्ति जीवन प्राण के समान है क्योंकि – अशान्तस्य कुतः सुखम् [गीता २ ६६.], सुखात्सर्वः प्रमोदते। सुख पूर्वक ही जीवन धारण की इच्छा होतीं है। विषय सुख परिणाम में दुःखद है – दुःख योनय एव ते [गीता ५. २२.] तथा परिणामे विषमिव (गीता १८. ३८.) जब कि शान्ति सुख अक्षय है, स्थिर है, अगाध है।

नत्वतः हर एक को इसी शान्ति सुख की खोज है, वह दुःख का अत्यन्ताभाव चाहता है और उसकी आशा में जीवन धारण करता है, परन्तु वह मोह वश अपनी सुखेच्छा का मर्म समझता नहीं और विषयोपभोग में उस पूर्णानन्द को खोजता है परन्तु 'न वित्तेन तर्पणीयों मनुष्यो' उपनिषद्, [मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता]।

सुखाय कर्माणि करोति लोको, न तैः सुख वान्यदुपारम वा।
विन्देत भूयस्तत एव दुःख यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः॥
(श्री मद्भागवत ३. ५. २.)

सुख के लिए सारा ससार कर्म करता है, परन्तु न सुख मिलता है न उधर से मन हटता है, बार बार दुःख का ही अनुभव होता है। भले ही हम अपनी प्रवृत्ति का मर्म न समझें परन्तु शान्ति सुख की खोज ही जीवन का संबल है, प्राप्त होने पर प्राण के समान प्रिय है।

ऐसे उत्तम अलौकिक गुण होते हुए भी शान्ति को मात्र जल नहीं समझना चाहिये क्योंकि उसमें अग्नि का सा तेज और प्रभाव भी है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अग्नि का सा तेज, प्रताप इसलिए मान्य है कि अहंभाव, काम, क्रोध, आदि विकारों की अग्नि को भी भस्म और समूल नष्ट करने की शक्ति शान्ति में है, शान्त सन्त के मुख पर अभूतपूर्व तेज (चमक, जलाल) रहता है, उसके निरीह भाव के होने पर भी उसके तेज के प्रभाव से कितने ही सज्जन प्रेरित होते हैं और दुष्टजन आशंकित होते हैं।

यहाँ सन्देश यही है कि कोई मूर्ख यह न समझ बैठे कि गुप्त तेज वाले शान्त सन्तों का अपराध करने में, उन्हें सताने में, किसी अनिष्ट परिणाम की आशंका नहीं है, निर्भय होकर उनका अपराध किया जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें अपराधी के प्रति शान्त ऋषि ने कुछ भी प्रतिकूलता नहीं दिखाई, तथापि अपराध का महान् अनिष्ट परिणाम हुआ। च्यवन ऋषि की कथा, परीक्षित की कथा, जड़ भरत जी की कथा आदि इसके प्रमाण हैं।

एक तो अनन्य शरणागत भक्तों की रक्षा, योच-क्षेम की व्यवस्था भगवान् स्वयं करते हैं, दूसरे राज्य शक्ति और लोकमत ऐसे पापियों से विशेष प्रतिकूल होजाते हैं। बड़ी निष्ठा से जो पाप किया जाता है, उसका फल भी शीघ्र मिलता है। (योग सूत्र १. २१)। दिव्य शक्तियाँ भी ऐसे पापियों के विरुद्ध सक्रिय होती हैं। अहंभाव स्वयं पाप कर्म का और फिर उसके फल परिपाक का सहायक है, जिन पापों के विषय में यह मान लिया जाता है कि उनका अनिष्ट फल उदय हो ही नहीं सकता, इस मान्यता से ही सम्बन्धित फल परिपाक में सुविधा मिल जाती है। बहुत से डाकू आदि अपने शरण क्षेत्र में ही निवास करते वाले सन्तों का आदर करते हैं, उन्हें कभी नहीं लूटते और उनसे सशंकित भी नहीं होते। उनका अपराध करते डरते हैं, यद्यपि साधुओं के पास आत्म रक्षा का कोई लौकिक प्रबन्ध नहीं होता। महाराज अम्बरीश की रक्षा भगवान् का सुदर्शन चक्र करता था और दुर्वासा के क्रुद्ध होने पर महाराज तो परम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
विनीत और शान्त ही बने रहे परन्तु दुर्वासा घोर कष्ट में पड़ गए। अम्बरीश की प्रार्थना पर ही वे अन्त में चक्र-भय से मुक्त हुए। शास्त्रों में ऐसे ही अन्य दृष्टान्त भी हैं। इसीसे तपस्वियों को निगूढ़ या गुप्त तेज से युक्त माना गया है। हमें शान्ति का परमानन्द स्वरूप भी समझना चाहिए और प्रचण्ड प्रताप भी, जिससे अज्ञान या प्रमाद वश सन्तों का अपराध न हो जाय।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जरैं बरै अरु खीझि खिलावैं ।
राग द्वेष महँ जनम गवाँवैं ॥
सपनेहु शान्ति नहीं उन देहीं ।
तुलसी जहाँ तहाँ ब्रत एही ॥५७॥

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जो लोग काम क्रोधादि के विकारों में जलते रहते हैं राग, द्वेष में अपना जीनन नष्ट कर देते हैं, ऐसे व्रत (स्वभाव, अभ्यास) वाले लोगों को स्वप्न में भी शान्ति नहीं मिलती ।

अब श्री गोस्वामी तुलसी दास जी विपरीत मार्ग पर चलने वालों की दशा बताते हैं । जो शान्ति मार्ग के पथिक नहीं हैं, मोह माया वश विकारग्रस्त हैं, वाह्य जगत् के व्यक्तियों व विषयों के सहारे ही सुखी होना चाहते हैं, उनका जीवन कैसा चलता है उसका चित्र इस, चौपाई में प्रस्तुत है ।

जैसा कि यहर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में बताया है, मोह अविश्रा (विपरीत प्रतीति) से अस्मिता (अहंभाव) का उदय होता है । देहात्म-भाव का परिणाम यह होता है कि देह को जो सुखद लगे उसमें ममता या आसक्ति उत्पन्न होती है, राग हो जाता है, प्रतिकूल विषय में द्वेष हो जाता है । तब राग वाले विषयों की प्राप्ति, संग्रह दृढ़ीकरण, संवर्धन, द्वेषपात्रों का प्रतिकार, उनसे संघर्ष, उन्हें क्षीण करना, निरसन या निर्मू-लन ही जीवन का कार्यक्रम बन जाता है । यह कार्य किसी भी निश्चित अवधि में पूरा होने वाला नहीं है क्योंकि परिस्थितियों का विकास या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिवर्तन एकदम किसी की इच्छानुसार नहीं हो सकता। अतः इस कार्य क्रम में जटिलताएँ, विषमताएं बाधाएँ आती रहती हैं, जिनका सामना जीवन के अन्तिम क्षण तक करना पड़ता है। कभी कभी ऐसी कल्पना होती है कि कुछ बड़ी बड़ी समस्याएँ हल हो जायँ तो जीवन निश्चिन्त हो जायगा या बनाया जायगा। यह प्रतीति मृग मारीचिका के समान मिथ्या भास है।

कृताकृते च द्वंद्वानि कदा शान्तानि कस्य वा।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्याग परोऽ व्रती॥

(अष्टावक्र गीता ९.१.)

क्या क्या कर लिया है: क्या क्या करने को बचा है, ऐसे द्वंद्वात्मक भाव किसके और कब शान्त हुए हैं, ऐसा जान करके वैराग्य प्राप्त करो, त्याग परायण हो, लौकिक कार्यों के सम्पन्न कर डालने का व्रत (आग्रह) न करो।

श्री स्वामी रामतीर्थ ने सुख सम्बन्धी मृग मरीचिका को एक प्रवचन में बहुत अच्छी तरह समझाया है। उन्होंने भलीभाँति प्रदर्शित किया है कि हर एक व्यक्ति को सुख में कमी जान पड़ती हैं, भविष्य में ठीक ठीक सुख प्राप्ति की संभावना दिखाई पड़ती है, कभी कभी बीते हुए (यथा बालपन के) बड़े सुख के दिन थे ऐसा प्रतीत होता है। यथेष्ठ सुख है और रहेगा, ऐसी अनुभूति वर्तमान् में कभी नहीं होती। यह वैसा ही है जैसे प्यासे मृग को दूर पर जलाशय का मिथ्याभास होता है, परन्तु जहाँ पर वह पहुँचा हुआ है (या पहुँच जाय) वहाँ जल नहीं मिलता कि वह अपनी प्यास बुझा सके। मायाबद्ध भगवद्विमुख जीव का भी यही हाल है —

तृषित निरखि रविकर भव भारी।
फिरिहहिं मृग जमि जीव दुखारी॥

(बालकाण्ड)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

राग द्वेष से प्रेरित होकर, लौकिक पुरुषार्थ करते रहने का कहीं भी अन्त नहीं होता। वैसे अखण्ड पुरुषार्थ खत्ताव नहीं परन्तु जहाँ अविवेक पूर्ण व्यर्थ कर्म की श्रंखला चलती रहती है, वह कदापि प्रसशनीय यहीं है —

जरहिं पतंग विमोह वस भार वहहिं खर वृन्द।
ते नहिं सूर कहावहीं, समुझि देखु मति मन्द ।। लंकाकाण्ड ।।

विषयाभिलाषी का श्रम योगी की दृष्टि से व्यर्थ है, सुख प्राप्ति के लक्ष्य से उल्टा परिणाम देता है, अविवेकपूर्ण और निष्फल है। उल्टे तृष्णा के त्याग से तुरन्त शान्ति व सुख होता है। प्रह्लाद ने कहा कि — "दुःखौषधं तदपि दुःखम्" (श्री मद्भागवत ७. ९. १७)

दुःख दूर करने के उपाय रूप किया जाने वाला कर्म भी दुःख रूप है। सर्वत्र तापत्रय रहने पर भी गृहासक्त जीव उपरामता को प्राप्त नहीं होता। (श्रीमद्भागवत ७. ६. १४.) लोग बिषय सेबन में लगे हैं, उसे छोड़ते नहीं, इतने से उनकी सुखी दशा सिद्ध नहीं होती, क्योंकि विषयासक्त भोगी की सुखानुभूति घटती जाती है पर निर्भरता बढ़ती जाती है। यही मोह का बन्धन है।

अजानन्माहात्म्यं पतति शलभो दीप दहने,
स मीनोप्यज्ञानाद् ब्रडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विज्ञान्नन्तोप्येते वयमिह विपज्जाल जटिलान्।
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोह महिमा ।।
श्री भर्तृहरि, वैराग्य शतक।

पतिंगा अज्ञान वश दीपक की लौ पर गिर कर जलता है, मछली कटिया को न जानकर चारे को निगलती हैं परन्तु हम लोग खूब जानते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं कि विषय भोग विपत्ति के जाल से जटिल हैं तथापि विषय सेवन करते हैं, मोह की कैसी महान् महिमा है।

पहचानता हूँ तुझको व तेरे सितय को मैं।
लेकिन तुझीं को मांग रहा हूँ, खुदा से मैं॥

वस्तुत: कोई विषयाभिलाषी सुखी नहीं है, चाहे सम्पन्न हो या विपन्न।

संसार सुख दुख मिश्रित है ओर रहेगा, तथा परिस्थितियां भी बदलती रहेंगीं, स्थिर नहीं रह सकतीं। चक्रवत्परिवर्तन्ते दु:खानि च सुखानि च। घूमते हुए चक्र की तरह सुख दु:ख बदलते रहते हैं। आसक्त पुरुष अपने स्वजनों के लिए सुख की परिस्थिति की प्राप्ति व उसकी स्थिरता चाहता है, जिनसे द्वेष करता है उनके लिए स्थिर दु:ख चाहता है पर यह संभव नहीं है। कामनाओं की पूर्ति न होने से थिषयी सदा ताप त्रय पीड़ित रहता है। जिन कामनाओं की क्वचित् पूर्ति हो जाती है, वे बढ़ जाती है, जैसे आहुति से अग्नि शान्त नहीं होती और भी प्रचण्ड हो जाती हैं।

न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविष: कृष्णवर्त्मेव, भूयएवाभिवर्धते॥

(महाभारत)

बुझै कि काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।

(वि० प०)

अहं, काम, क्रोध सभी अग्निरूप हैं, किसी भी लौकिक उपाय से यह अग्नि शान्त नहीं होती, भोग से तो बढ़ती ही जाती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भोग विलासी सदैव विकारों की अग्नि में तपता ही रहता है, जल कर मर तो नहीं जाता, राख नहीं हो जाता, क्योंकि वैसा परिणाम प्रचण्ड भौतिक अग्नि के प्रभाव से स्थूल शरीर का होता है, परन्तु अन्तःकरण की जलन को अमान्य नहीं किया जा सकता। उससे व्याधि व मृत्यु होना संभव है। श्री विनय पत्रिका जी में कहा है—

राम नाम के जपे जाय जिय की जरनि।

यतः भोगाधिलाषी भनवत्सन्मुख नहीं होता, श्री राम नाम का अवलम्ब लेकर शान्ति पद नहीं प्राप्त करता, उसके जी की जरनि नहीं मिटती। इस अखण्ड दाह की व्यथा से हीं साधारण व्यक्ति बेचैन रहता है, यद्यपि इसका अभ्यस्त होने के कारण यह उसे पूरी तरह जलन के समान नहीं लगती और कभी कभी वह अपने को जलन से बिल्कुल मुक्त पाता है। वह कभी समाधान को प्राप्त नहीं होता। तत्वतः वह प्रबल प्रदाह में ही पड़ा रहता है, इसी से कहा गया है — जरै बरै।

अब दूसरी बात पर आइये, खीझि खिझावै'। स्वयं खीझता है और दूसरों को खिझाता है। खीझना अर्थात् परिस्थिति को प्रतिकूल पाकर असन्तुष्ट, रुष्ट या विषादयुक्त होना। किसी चक्रवर्ती सम्राट की भी यह स्थिति नहीं हो सकती कि सारी परिस्थितियाँ सदैव मनोनुकूल ही रहें। अभिमान जितना बढ़ जाता है, परिस्थति की थोड़ी सी भी प्रतिकूलता अधिक व्यथा देती है। अतः यह संभव ही नहीं सहज प्राप्त है कि अति सम्पत्ति शाली व्यक्ति अधिक व्यथित पाए जायें। उन्हें इसलिए भी खीझ होती है कि उनकी दृष्टि से उनकी सम्पत्ति के साथ वैसी व्यथा होनी ही नहीं चाहिये थी, परन्तु उल्टे वे उस व्यथा को अपने भौतिक साधनों से दूर करने में असमर्थ रहते हैं. अतः खीझते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खीझने वाले व्यक्ति असन्तुलित चित्त के हो जाते हैं, वे महत्त्वहीन बातों पर क्रुद्ध होने लगते हैं, नगण्य बातें उन्हें अशान्त कर देती हैं, वे समाहित नहीं रह पाते। जरन बरन वाली समस्या का ही परिणाम वह खीझ है। खीझ की अवस्था किसी को सुखदायी नहीं प्रतीत होती। खीझने वाले व्यक्ति के अनुचर या आश्रित लोग भयभीत हो सकते हैं, पर योगी की दृष्टि में वह बीमार की तरह करुणा का पात्र है। बहुत बार तो डाक्टर भी ऐसे व्यक्ति को रक्त चाप, मधुमेह या ऐसी ही किसी बीमारी का रोगी बताएगा। वह निर्णय भी दे सकता है कि उसकी मानसिक दशा ही उसकी बीमारी पैदा होने या बढ़ने का कारण हैं।

जो खीझता है वह न चाहते हुए भी दूसरों की खीझ का कारण बनता है। खीझ, अशान्ति, असमाधान की दशा में होती है, वह शान्ति की विपरीत दिशा में प्रगति होने की सूचक है। शान्ति व अशान्ति दोनों दशाएँ संक्रामक हैं। शान्त पुरुष के पास से शान्ति का संक्रमण होता है, अशान्त पुरुष के संसर्ग से अशान्ति का।

खीझता हुआ मनुष्य शान्ति पदारूढ़ मनुष्य को नहीं खिझा सकता। यह तो पहले ही स्पष्ट हो चुका है। शान्त पुरुष क्रोध, अभिमान आदि से नितान्त मुक्त रहता है। न वह किसी को उदिग्न करता है, और न किसी से उदिग्न होता है। (गीता १२ १५.)। यहाँ जो खिझाने का उल्लेख है वह साधारण जनों के सम्बन्ध में है, सन्तों के सम्बन्ध में नहीं है। जब खोझने वाला व्यक्ति स्वल्प (हल्के) या असमुचित कारणों से बार बार उत्तेजित होता हैं और दूसरों से रुष्ट होकर असंतुलित बातें करता है और उसी प्रकार के काम भी करता है तो दूसरों को भी उत्तेजना होती है। पत्नी, पुत्र, अनुचर, आदि उससे असतुष्ट होने लगते हैं। यदि स्नेही जन यत्न करने पर भी उसे प्रसन्न और सन्तुष्ट नहीं कर पाते तो उन्हें भी खीझ होती है। फिर वे भी झुँझला सकते हैं, चिड़-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चिड़े हो सकते हैं। अशान्ति, असन्तोष का वातावरण बढ़ता जाता है। बिलकुल व्यावहारिक दृष्टि से भी यह दशा शान्ति और समाधान की उल्टी है। यदि संयम, नियम, मर्यादा आदि का कोई अंकुश नहीं लगा और लोग विकार ग्रस्त प्राकृतिक प्रेरणानुसार ही कार्य करते रहे तो नारकीय वातावरण बन सकता है। श्री गीता में काम, क्रोध, लोभ नरक के तीन द्वार बताए ही गए हैं। (गीता १६. २१.)

राग द्वेषमय जीवन बिताने से ऐसे ही भयंकर परिणाम उदय होते हैं। साधारणत: यदि ऐसे भयंकर परिणाम नहीं उदय होते तो उसका कारण यह है कि स्वस्थ पारिवारिक परम्परा, सभ्य समाज का शिष्टाचार, लोकमत की मान्य मर्यादा, गुरुजनों का प्रभाव आदि तत्त्व अपना काम करते हैं और अशुभ को क्वचित् रोकथाम कर पाते हैं। यदि नशे, जुए आदि के प्रभाव से यह तत्त्व निष्प्रभावी हो गए तो तीव्र गति से से पतन होता है और भयंकर परिणाम आते ही हैं जो सर्व विदित है।

यदि कोई भगवद्‌भिमुख रहकर राग द्वेष के प्रभाव में ही बरतता है और मर्यादाओं को तोड़कर व्यसन और विलास में काल यापन करता है तो उसका जीवन अवश्य ही दु:खी रहता है, व्याधि भी आकर्षित हो सकती है, मृत्यु भी जल्दी आ सकती है। अंग्रेजी में कभी कभी ऐसे जीवन को तेज जीवन (फ़ास्ट लाइफ) कह देते हैं। यानी जीवन यात्रा तीव्र गति से कम समय में पूरी कर लेना। यह अलंकारिक प्रयोग अविवेक पूर्ण है। अशुभ, व्यसनी जीवन को तेज़ कहना मूर्खता है क्योंकि इससे किसी को यह प्रेरणा मिल सकती है कि वह तेज रेलगाड़ी की तरह इसको अच्छा समझे और पसन्द करे। सचमुच तेज़ जीवन तो वह है जिसमें शुभ दिशा में तीव्र प्रगति दिखाई दे और छोटे जीवन में इतना अधिक, उच्चस्तर का शुभ कार्य दिखाई दे जो अन्य लोगों के दीर्घ जीवन में भी आशातीत होता। इसलिए यदि आदि शंकरचार्य, सन्त ज्ञानेश्वर, स्वामी रामतीर्थ या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वामी विवेकानन्द के जीवन को तेज़ कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। यदि किसी तरह जल्दी से जल्दी मृत्यु तक पहुँचना ही तेज जीवन की पहिचान हो तो आत्म हत्यारों का जीवन सबसे तेज़ मानना होगा। तेज़ जीवन के मुहावरे के प्रचलित प्रयोग से लोग अपने को धोखा देते हैं। 'नष्ट जीवन' को 'तेज़ जीवन' कहना विडम्बना है। यहाँ चोपाई में यह उल्लेख सही है कि ऐसे लोग जन्म गवाँ देते हैं, यानी खो देते हैं, नष्ट हो जाने देते हैं।

जिन लोगों का साधारण विषयी जीवन है, एकदम विषय निष्ठ नहीं है उनके जीवन में राग द्वेष जनित अनर्थ परिपाक भी साधारण है। मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है —

विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविधि जीव जग वेद बखाने॥
(अयोध्या काण्ड)

विषयी जीव, साधक और सिद्ध — यह तीन वर्ग हैं। विषयी भी सब एक से नहीं होते। कोई अपने को विबशता से विषयी पाते हैं, कोई विषयी समाज से सामञ्जस्य करने के नाम पर विषयी हैं, और कोई उसी प्रकार के जीवन में निष्ठा रखते है, वे उस जीवन के व्रती है। साधारण विषयी जीवन भी शान्ति पद के अयोग्य बना देता है। विषयी शान्ति पदारूढ़ नहीं हो सकता। परन्तु साधारण विषयी जीव को अपने दैनन्दिन जीवन में, बदलती हुइ परिस्थितियों में कभी कभी कुछ अपेक्षाकृत शान्ति की घड़ियों की अनुभूति हैं। यह असली शान्ति की अपेक्षा कुछ नहीं है, यह शान्ति के अप्रतिम सुख का एक अंश मात्र भी नहीं है। यह स्वप्नवत् या क्षुद्र आभास मात्र है।

परन्तु जो विषय सुख के ही उपासक हैं, उसमें एकान्तिक निष्ठा रखते हैं, जिनका यह निश्चिय है कि कामोपभोग हो परम सुख है (गीता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

१६. ११.) जो राग द्वेषमय जीवन और इन्द्रिय सुखोपभोग के बती हैं, जो सिद्धान्ततः विषयी हैं केवल विवशता, सुविधा, या अनुकरण से नहीं, उन विपरीत पथ निष्ठ जनों को स्वप्न में भी शान्ति का असली सुख नहीं मिल सकता। वे कल्पना कर सकते हैं – 'मै ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ बलवान हूँ सुखी हूँ' (गीता १६. १४.) परन्तु उनका साधारण जीवन अखण्ड-चिंता-ग्रस्त रहता है, जिसका कोई बारापार नहीं। सच्चे शान्ति सुख का तो उन्हें सपना भी नहीं आता, व्यावहारिक जीवन में आभासमान् शान्ति से भी वे वचित रहते हैं। अभिमान वश कभी वे मिथ्या कल्पना में अपने को सम्पन्न और सुखी यानते हैं – कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया। (गीता १६ १५) मेरे समान और कौन है? परन्तु सदैव चिन्ता के भार से दबे हुए, व्यग्र बेचैन ही रहते हैं, शान्त कभी नहीं होते। राग द्वेष पर आधारित जीवन में शान्त हो ही नही सकते।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सोइ पण्डित सोइ पारखी, सोई सन्त सुजान ।
सोई सूर सचेत सी, सोई सुभट प्रभान ।।५८।।

सोइ ज्ञानी सोइ गुनी जन, सोई दाता ध्यानि ।
तुलसी जाके चित्त भई राग द्वेष की हानि ।।५९।।

श्री गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं कि वही पण्डित है वही पारखी है, वही चतुर सन्त है, शूरवीर है, सावधान है, वही प्रमाणिक योद्धा मान्य है, वही ज्ञानी है, गुण सम्पन्न है, वहीं दाता है और वही ध्यानी भी है जिसके चित्त से राग द्वेष मिट गए हों ।

यहाँ दो दोहों में श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने परमार्थ का यह तत्त्व भर दिया है कि राग द्वेष की निवृत्ति होने पर मनुष्य सभी उल्लिखित गुणों से युक्त हो जाता है और उसी रूप में मान्य है । यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार बिल्कुल नहीं है, यथार्थ कथन है, और इस उपदेश का रहस्य समझना आवश्यक है । राग द्वेष की हानि मात्र से कैसे उक्त सभी गुण हो जायँगे ।

राग द्वेष रहित व्यक्ति ही पण्डित हे । कैसे ? कबीर ने कहा है –

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय ।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै, सो पण्डित होय ।।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कृत में भी कहा है—

यथाखरश्चन्दन भार वाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।

,जैसे गधा जो चन्दन की लकड़ी को ढोता है, बोझ को जानने वाला है, चन्दन का जानने वाला नहीं हैं ।' इसी प्रकार श्रुति शास्त्र वेत्ता पडित (विद्वान्) भी जिसका आचरण तदनुकूल नहीं है, वह केवल अपने ज्ञान का बोझा ढोता है, उसका लाभ लेने बाला नहीं है । विद्या का फल विवेक हैं । जिस विद्या से विवेक का उदय नहीं होता, वह शीघ्र ही इष्ट हो जाती है । ,विद्या बिनु न्विवेक उपजाए'

(अरण्य काण्ड)

शब्द पण्डित में कुशल पुस्तकीय ज्ञान विद्या का अर्थ नहीं है, विवेक का भी अर्थ है । सच्चा पण्डित विवेकी होता है, केवल शास्त्र वचनों की तोता रटन्त सच्चा पाण्डित्य नहीं है । यह तो सही है कि राग द्वेष की हानि होने मात्र से बहुत सा पुस्तक ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता । वेपढ़ा बेपढ़ा ही रहना है, कम कम पढ़ा कम पढ़ा ही रहता है । परन्तु राग द्वेष रहित चित्त में विमल विवेक उदय होता हे, जिससे तत्त्व का निर्भ्रान्त (निश्चित, भ्रम रहित, ज्ञान होता है, जैसा पुस्तक ज्ञान से नहीं हो सकता ।

राग द्वेष रहित चित्त में विवेक के प्रकाश के होने का रहस्य इस प्रकार है कि जहाँ राग है वहाँ दोष दर्शन अंशत. या पूर्णत: बाधित होता है, जहां द्वेष है वहां गुण दर्शन अंशत: या पूर्णत: बाधित होता है । इस तरह दृष्टि विकृत होती है, दृष्टि एकांगी बनती है, समग्र व निष्पक्ष दृष्टि नहीं बनती । राग, द्वेष मुक्त चित्त सव्यग्राही बनता है । राग, द्वेष वश शास्त्रों को समझने में भी भूल हो जाती है, अर्थ विपर्यय होने लगता है । राग, द्वेष मुक्त चित्त अपनी अनुभूति से ही शास्त्र के मर्म को समझ जाता है । वह बेपढ़ा हो तो भी सहज ही एसी बातें करता है, जिनमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शास्त्र का मर्म भरा रहता है। सुनने वाला विद्वान् आश्चर्य चकित होता है कि बिना शास्त्र पढ़े यह व्यक्ति शास्त्र की बातें कैसे कह रहा है। विद्वान की वाणी शास्त्र प्रमाणों से मण्डित होती है, सन्त वाणी अनुभव पर आधारित होती हैं।

तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता आँखिन की देखी॥

(कबीर)

विद्वान को शास्त्र वचन तो बहुत याद रहते हैं, परन्तु मर्म को समझने में सन्त अधिक समर्थ होते हैं। विवेक अधिक होने से सन्त ही सच्चे अर्थ में पण्डित होते हैं, पुस्तक ज्ञान से रहित हों तो भी।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥

(बाल काण्ड)

एक बात और है, कोरे विद्वान का ज्ञान उस पर बोझ की तरह लदा रहता है। नई नई बातें वह सीखता जाय, उन्हें याद करके, भूल न जाय, समय पर प्रमाण याद आएँ और ठीक ठीक कहे या लिखे जायँ इस सब के लिए विद्वान को परिश्रम करना पड़ता है। शास्त्र प्रमाणों को कहाँ कहाँ से लिया गया है, इसे याद रखना भी श्रम साध्य है। परन्तु सन्त इस सब उत्तरदायित्व व भार से मुक्त रहता है। प्रसिद्ध (स्वर्गीय) शरणानन्द जी अन्धे थे परन्तु वे हाजिर जवाब बहुत थे, प्रश्न का उत्तर तुरन्त देते थे और वह ठीक शास्त्रानुकूल ही होता था। हाँ! कभी कभी कह देते डे मैं क्या जानूँ शास्त्र में क्या लिखा है, मैं तो अनुभव के आधार पर बोलता हूँ। तत्त्व दृष्टि से स्वामी राम कृष्ण परमहंस जी, श्री रमण महर्षि व शरणानन्द जी सच्चे पण्डित थे, पुस्तक ज्ञानियों व उपाधि धारियों से कही अच्छे। सन्तों की यह दृष्टि उपलब्धि और प्रभाव राग द्वेष रहित होने पर ही आश्रित है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यही नहीं कि राग द्वेष युक्त व्यक्ति शास्त्र बचनों के मर्म को ग्रहण नहीं कर पाता, विकृत ग्रहण करता है, प्राय: वह द्विधा व्यक्तित्व भी रखता है। शास्त्रोपदेश (जैसा उसकी समझ में आता है, उसे भी व्यवहार में नहीं लाता इसलिए निरूपण जिन बिचारों का करता है, आचार उनसे भिन्न विचारों, विपरीत बिचारों पर भी, करता है। इस तरह दंभ होता है। हाथी के दांत खाने के और दिखाने और होते हैं। दूसरों को धोखे में रखने की चेष्टा होती है, उसके साथ स्वयं अपने को धोखा देना प्रारम्भ होता है। जिन विचारों को वह निरूपित करता है, उन पर उसे स्वयं विश्वास नही क्योंकि उसे उनसे असम्बद्ध (बेमेल) विचारों पर आचरण करना आवश्यक जान पड़ता है। इस प्रकार वह सभ्रम की दशा में रहता है। शास्त्र के कुछ सिद्धान्तों के विषय में वह सशय-शील या अविश्वासी होता है, कुछ को वाणी से निरूपित करता है परन्तु अपने विकृत ग्रहण के अनुसार, कुछ बातों को सही बताता है, परन्तु अपने लिए अशक्य या कठिन समझता है, उनके अनुसार चलता नहीं है। ऐसा व्यक्ति विवेकी नहीं माना जा सकता और यदि पुस्तकीय विद्या खूब है परन्तु विवेक क्षीण है तो सच्चे अर्थ में वह पण्डित नहीं माना जा सकता। ऋषि मुनियों ने सत्य निष्ठा से जो उपदेश किये हैं उन्हें जो विश्वास पूर्वक ग्रहण नहीं कर पाया वह शास्त्र का मर्मी या विद्वान् कैसे मान्य हो हो सकता है? वह पढ़तमूर्ख है जिसके लक्षण श्री स्वामी समर्थ राम दास जी द्वारा दास बोध में बताए गए हैं। तस्मात् वह पण्डित नहीं है। विपरीतत: राम द्वेष मुक्त पुरुष शुद्ध अन्त:करण होने के कारण, शास्त्रों को पढ़ा हो या न पढ़ा हो शास्त्रों के मर्म का जानने वाला, बता सकने वाला, शास्त्रानुसार आचरण करने वाला, तदनुसार सम्मति देने और मार्ग दर्शन करने में समर्थ होता है। अत: वही असली पण्डित है।

वही 'पारखी' है। 'पारखी' अर्थात् सही पहिचान कर सकने वाला। किसकी पहिचान? विशेषत: यहां तात्पर्य है सन्त की पहिचान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मे । माया मोह के बन्धन से छूटने के लिए राग द्वेष युक्त पुरुष को भी सच्चे सन्त का आश्रय चाहिये। विरले विरले पाइए, माया त्यागी सन्त (पूर्व छन्द स० ३२) के अनुसार सच्चे सन्त दुर्लभ हैं।

सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दण्ड भरि एकउ बारा ।।
(बाल काण्ड)

महत्सगस्तु दुर्लभोऽ गम्यो ऽमोघश्च। नारद भक्ति सूत्र।

आदि शकराचार्य ने भी 'महापुरुष संश्रय' को दुर्लभ बताया है। साधवो न हि सर्वत्र, चन्दन न वने वने।

सच्चे सन्त का सम्पर्क आवश्यक है परन्तु वे दुर्लभ हैं, कम होने से दुर्लभ हैं, परन्तु इसलिए भी दुर्लभ हैं कि उनको पहिचानना कठिन होता है।

सन्त ही सन्त को पहिचान सकते हैं, ऐसा कहा जाता हैं। यहाँ भी राग द्वेष विहीन (सन्त) को पारखी माना है। यह बात सही मान्य हो तो भी इससे पूरा काम नहीं चल सकता, क्योंकि आवश्यकता तो यह पड़ती है कि मोह ग्रस्त, मायावश जीव, सन्त को पहिचाने और उसका आश्रय ग्रहण करे। अत: राग, द्वेष क्षीण होने से पहले ही सन्त की पहिचान करना आवश्यक है, यह कैसे होती है, या हो सकती है, इसका स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक नहीं है, विषयान्तर होगा। संक्षेप से यह संकेत देना पर्याप्त होगा कि श्रद्धा (या सात्विक श्रद्धा) का विकास इसमें बहुत सहायक है। पहिचान और परख एकदम पर्यायवाची (समानार्थक) शब्द नही है। पीतल और सोना पास पास हों तो साधारणत: सोने को पहिचान सकने वाले बहुत हैं, परन्तु जौहरी को ही स्वर्ण पारखी माना जायगा। जो बात यहाँ समझनी है वह यह है कि सन्त की पहिचान की शक्ति (विशेषत: परखने की शक्ति) उसी अनुपात में प्राप्त होती जिस अनुपात में राग, द्वेष क्षीण होते हैं। राग, द्वेष मुक्त पुरुष ही सन्तों के पारखी हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जैसे धूर्त और सज्जन व्यक्तियों को पहिचानने में अनुभवी, दक्ष और चतुर व्यक्ति समर्थ होता है, उसी शक्ति से सन्त की भी पहिचान (या परख) की जा सकती है, ऐसी कल्पना ठीक नहीं है। इसी कल्पना का आश्रय लेकर बरतने से बड़े बड़े विद्वान और चतुर व्यक्ति धोखा खा सकते हैं। साधारण लौकिक चतुरता बरतने से यह सभावना बनी रहती है कि सतर्क या सावधान रहते हुए हम सन्त को भी असन्त मान लें। लौकिक चतुर मनुष्य को इसकी हानि नहीं जान पड़ती, क्योंकि वह केवल इसलिए सतर्क रहता है कि असन्त को सन्त मानकर हानि न उठा जाय। परन्तु इसमें उसे कोई हानि नहीं प्रतीत होती कि वह सच्चे सन्त को प्राप्त करके भी न पहिचान सके असन्त मान बैठे। यह हानि उसे इसलिए समझ में नहीं आती कि उसे सच्चे सन्त के पाने की तीव्र आवश्यकता का अनुभव नहीं है। सच्चे सन्त से मिलने की लगन या तड़प ही नहीं है। इसलिए वह इस बात की सतर्कता नहीं रखता कि कहीं ऐसा न हो कि सच्चे सन्त मिलें पर वह उन्हें पहिचान न सके उनसे लाभ न उठा सके। जहाँ सतर्कता बहुत है, श्रद्धा या मुमुक्षुत्व शिथिल है, सन्त की उपेक्षा की संभावना भी अधिक है।

राग, द्वेष का अभाव सन्त की खास पहिचान है। रूप, वेश, कुल, धन, क्रिया, उपासना पद्धति, दार्शनिक विचारधारा, रहन सहन के भेद गौण हैं। राग द्वेष का अभाव एक आन्तरिक गुण है, बाहरी आचरण के निरीक्षण से उसका पता लगाना कठिन है। यह ठीक है कि ऐसे आन्तरिक लक्षण का आचरण पर प्रभाव पड़ता ही है परन्तु इस प्रभाव की पकड़ (परख) राग द्वेष दूषित चित्त को ठीक ठीक नहीं हो पाती। इस प्रभाव का भी दम्भ संभव है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कई बार सन्त गुप्त रहने की इच्छा से ऐसे प्रभाव के विपरीत आभास दे देते हैं, जिससे किसी मन्द अधिकारी या अनधिकारी पुरुष की उन पर श्रद्धा न जमने पाए। ऐसे कारणों से यह अति कठिन कार्य है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कि स्वयं राग द्वेष से युक्त होते हुए हम दूसरे की राग द्वेष विहीनता को परख ले। परन्तु राग द्वेष रहित सन्त इस विषय में सच्चा और पक्का पारखी होता है।

साधारणत: लौकिक चातुर्य से लोग कुछ ऐसी धारणाएँ बना लेते हैं कि सच्चा सन्त ऐसे ऐसे लक्षणों वाला नहीं हो सकता। वैसा कोई भी लक्षण मिलने पर तुरन्त किसी व्यक्ति का सन्त होना अमान्य कर देते हैं। यह धारणाएँ एकदम व्यर्थ, निराधार या गलत तो हैं नहीं परन्तु इनका कसौटी की तरह प्रयोग कई बार गलत परिणाम तक पहुँचा देता है। ऐसी धारणाएं निम्नवत् हैं—

सच्चे सन्त हिमालय की कन्दराओं में ही हो सकते हैं या बीहड़ वनों में, शहरों में मिल ही नहीं सकते।

सिद्ध सन्त शहरों में भीख माँगते नहीं दिखाई पड़ते।

सच्चे सन्त की रहनि अवश्य ही तपस्यापूर्ण होगी, भोजन, वस्त्र, आवास आदि में उसका रईसी ठाठ नहीं हो सकता।

सन्त के जीवन में समाज, साधुता, शिष्टता आदि की मर्यादाओं के पालन में कोई कमी नहीं मिलनी चाहिए।

सच्चे सन्त अमीरों का आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकते।

सच्चे सन्त गद्दीधर, महन्त, प्रचारक या अध्ययन प्रधान, विद्वान या सार्वजनिक काम में लगे हुए नहीं हो सकते। आदि आदि।

यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी धारणाओं में सत्य का कोई अंश नहीं है, परन्तु इनका कसौटी की तरह प्रयोग भयावह हो सकता है। इन सबको पूरा सही मान लें तो इनका सम्मिलित प्रभाव यह होगा कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
शहरों में रहने वाले पढ़े लिखे तार्किक नागरिकों को जिस किसी से भेंट होगी उसका सन्त होना तो पहले से ही असिद्ध रहेगा। इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उपर्युक्त कसौटियों का लापरवाही म प्रयोग होने पर बहुत महान् ऐतिहासिक सन्तों की भी अमान्यता होने लगेगी, जिनकी अमान्यता के पहले यह कसौटियां ही अमान्य हो जायेंगी।

श्री राम कृष्ण परमहंस जी महान् नगर कलकत्ता में दक्षिणेश्वर मन्दिर में रहते और पूजा करते थे, श्री स्वामी विवेकानन्द व श्री स्वामी रामतीर्थ महान् प्रचारक थे, अनेक वैष्णवाचार्य, जगद्गुरु, जगदाचार्य, महामण्डलेश्वर आदि गद्दीधर थे और हैं, प्रचार कार्य से महान् सन्त नगरों में आते ही हैं, महोत्सवों में उनका प्रवचन होता है। कुछ के स्थायी केन्द्र महान् या उप नगरों में हैं और उन केन्द्रों में लौकिक सम्पन्नता भी मिलती हैं। इसलिए उपर्युक्त कसौटियाँ अन्तिम और निर्विवाद रूप से सही नहीं हैं। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि इनकी उल्टी धारणाएँ सही हो सकती हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त यह भी एक विचित्र रोचक तथ्य है कि कुछ लोग यह अपेक्षा रखते हैं कि सन्त महान् विद्वान होना चाहिए, कुछ लोग विद्या प्रधान व्यक्ति को सन्त मानने को तैय्यार नहीं है, कुछ लोग स्वामी हरिदास जी जैसे सन्त के प्रति इसलिए विशेष श्रद्धालु हैं कि अप्रतिम गयनाचार्य थे, कुछ गायनाचार्य को उसी रूप में मानेंगे सन्त रूप में मान ही नही सकते, कुछ लोगों के अनुसार सन्त को प्रचार में पड़ना ही नहीं चाहिए, कुछ समझते हैं कि केवल सन्तों द्वारा किया हुआ प्रचार सार्थक है। इस प्रकार परस्पर विरोधी मान्यताओं में पड़कर भटकते रहते है। सहज श्रद्धालु भक्त ऐसे तार्किकों की दृष्टि में अन्ध-विश्वासी असावधान व मूर्ख ठहरते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसलिए राग देष मुक्त सन्त ही सच्चे पारखी हैं, अन्य प्रकार की योग्यताएँ रखने वाले सच्चे पारखी नहीं हो सकते। वही सुजान सन्त हैं। सुजान हैं अर्थात् चतुर हैं, दक्ष हैं, विवेकी हैं, कुशाग्र बुद्धि हैं। सुजान सन्त की चतुराई परमार्थ के क्षेत्र में सदुपयुक्त होती हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी चतुराई का उपयोग है। सुजान का अर्थ चतुर अवश्य है, परन्तु इस अर्थ में साधरण अर्थ वाली चालाकी का तात्पर्य बिल्कुल नहीं है। साधारण अर्थ में जो व्यक्ति चालाक माना जाता है वह ऋजु (सरल) नहीं कुटिल होता है जबकि सन्त—

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। यथा लाभ सन्तोष सदाई।।
(उत्तर काण्ड)

संसार का साधारण चालाक आदमी और यहाँ उल्लिखित सुजान सन्त दोनों की चतुराई एक सी नहीं होती, बहुत भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। इसलिए इस चतुराई को पहचानना हैं कि वह कैसी होती है जो आजंव (सरलता) को नष्ट नहीं करती, उसके साथ साथ साथ चलती है। परमार्थ की दृष्टि से चतुराई कैसी होनी चाहिए, होती है, उस पर दृष्टिपात् कीजिये। योगी और भोगी की दृष्टि इस विषय में भी भिन्न, बल्कि विपरीत है।

श्री गोस्वामी जी ने स्वयं दोहावली जी में कहा है —

तुलसी चतुराई सोई, वृत्ति राम पद लीन।
पर धन पर मन हरन कहँ, वेस्या परम प्रवीन।।

इससे ही स्पष्ट हो गया कि गोस्वामी जी पर धन' पर मन हरण करने वाली चालाकी को अभीष्ट या सच्ची चतुराई नहीं मानते। श्री विनय पत्रिका जी में कहा है —

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इहाँ को सयानप अयानप सहस सम,
सूधे सतिभाय कहे मिटति मलीनता ।

श्री राम चरित मानस में श्री रामचन्द्र जी का ही कथन है–

निरमल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।।

श्री भर्तृहरि जी कहते हैं–

या लोक दय साधिनीं चतुरता, सा चातुरी चातुरी ।

जो चतुराई लोक परलोक दोनों को सवाँरने वाली चतुराई है, वही चतुराई है । जो लोक परलोक को बिगाड़ कर इस लोक में सुख सुविधा सवाँरते हैं, और अन्त में सँवारा हुआ सभी कुछ यहीं छोड़कर दुर्गति भोगने के लिए परलोकगामी होते हैं, वे शास्त्रों व सन्तों की दृष्टि में चतुर नहीं मूर्ख ही हैं ।

एक पुराना चुटकुला है । एक राजा के दरबार में एक विदूषक (मसखरा) था । राजा से उसकी हास्य विनोद की बातें होती रहती थीं । एक दिन राजा ने बिदूषक को एक छड़ी भेंट की और कहा कि तुम्हें कोई अपने से भी बड़ा मूर्ख मिले तो उसे यह छड़ी भेंट करना । विदूषक ने छड़ी ले ली । काल क्रम से राजा बीमार पड़ा और गंभीर रूप से बीमार रहा । विदूषक राजा को देखने पहुँचा । इस प्रकार बातचीत हुई :-

विदूषक –कहिये सरकार आपकी कैसी तबियत है ?
राजा –अरे ! कुछ न पूछिये अब चला चलाई है ।
विदूषक –सरकार कहाँ जा रहे हैं ?
राजा –बहुत दूर जाना है ।
विदूषक –सरकार की कब तक वापसी होगी ?
राजा –वापसी कभी नहीं होगी ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विदूषक –अच्छा तो सरकार की लम्बी यात्रा के लिए (जिससे वापसी होगी ही नहीं) क्या क्या तय्यारी की गई है ?

राजा –तय्यारी कुछ नही है।

विदूषक –छड़ी हाजिर है, हम लोग तो छोटी छोटी अल्पकालिक यात्राओं की तय्यारी आवश्यक समझते हैं।

यदि किसी को भी चिरकालीन या सदैव के लिए प्रवास करना हो और वह उन्हीं वस्तुओं की चिन्ता करे जो साथ नहीं जायँगी ओर साथ जाने वाले सामान को ठीक करने की सावधानी न रक्खे तो ऐसे व्यक्ति को कोई भी बुद्धिमान् (या चतुर या सुजान) नहीं कहेगा, उसे मूर्ख या या पागल ही कहा जायगा। परन्तु परलोक यात्रा के विषय में प्रायः सभी मनुष्य प्रमाद करते ही रहते हैं। विवेक दृष्टि से इसे चतुराई नहीं माना जा सकता, इसे अविवेक या मूढ़ता ही कहा जायगा।

श्री गुरू नानक जी की एक चटना है। वे एक सज्जन के यहाँ ठहरे। जब चलने लगे तो वे सज्जन उन्हें बहुत दूर तक पहुँचाने गए। रास्ते में एक कोठी मिली जिस पर सात झण्डे लगे हुए थे। गुरू जी ने पूछा, यह क्या हैं ?' वे बोले यहाँ एक सेठ जी रहते हैं, बड़े धनी हैं। जब वे एक लाख रुपया कमा कर रख लेते है तो एक झण्डा लगा देते हैं। गुरूजी सेठ जी से मिले। सेठ जी ने उनका बड़ा सत्कार किया और अपने करने योग्य सेवा पूछी। गुरू जी ने कहा –सेठ जी ! मेरे पास एक सोने की सुई है, आशंका है कि कहीं खो न जाय, कोई ले न ले। आप वह सुई लेकर रख लीजिये। परलोक में वापस कर दीजियेगा।' सेठ जी ने कहा, 'परलोक में कैसे वापस कर सकूँगा ? वहां कैसे जायगी ? गुरू जी ने कहा, 'जैसे और सब सामान जायगा वैसे, यह भी जायगी। सुई में कौन बोझा है ? इस तरह सेठ जी को बोध करा दिया गया कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
तमाम सम्पत्ति अर्जित करके रख रहे हो, जिसमें से एक सुई भी परलोक न जा सकेगी। काम न आ सकेगी। इसलिए जिनकी चतुराई 'लोक द्वय साधिनी' नहीं है, वह अविवेक युक्त है' सच्ची चतुराई नहीं है। कोई कोई इस लोक की परवाह न करके परलोक बनाना चाहते हैं, परन्तु इस लोक का व्यवहार बिगड़ने से परमार्थ पथ में भी विघ्न बाधा उपस्थित होती है। यतोऽभ्युटसः निःश्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः। जिससे संसार में उन्नति हो और परलोक में भी कल्याण (मोक्ष) हो वह धर्म है।

श्री मद्भागवत में भी सन्त की चातुरी का रहस्य बताया है —

एषा बुद्धिमतां बुद्धि मंनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥

(श्री मद्भागवत ११. २९. २२.)

यही असली लाभ है और सच्ची चतुराई है कि मिथ्या संसार के बदले सत्य स्वरूप परमात्मा को पा जाय, इस मरण शील देह के द्वारा अमृत स्वरूप (भगवान्, मोक्ष) की प्राप्त करे इससे बढ़िया व्यापार और लाभ क्या हो सकता है? जो प्रलोभन में, या आकर्षण में फँस जाता है, दूरदर्शी नहीं है, वह चतुर कहाँ है? सच्ची चतुराई में दूरदर्शिता सम्मिलित है। अतः राग द्वेष मुक्त व्यक्ति सन्त भी है, सुजान भी, चाहे दुनियाँ उसकी चतुराई की समझ सके या नहीं।

सन्तों की ऋजुता (सरलता) ही कभी कभी इसलिए चतुराई सिद्ध हो जाती है कि कुटिल लोग सरल आचरण का भी कुटिल अर्थ लगाकर धोखा खा जाते हैं जैसे –

सहज सरल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिस क्षेत्र में जो कार्यरत है उसी में प्रगति होने से चतुराई लक्षित होती है। सन्त भगवान् की प्राप्ति में लगे हैं, उनकी चतुराई इसी में है कि साधना सफल हो, भगवान् मिलें। भगवान् न मिल पावें, थोड़ी माया मिल जाय इसमें न सफलता है न चतुराई। भगवान् सरल व्यक्ति को ही मिलते हैं, कुटिल को नहीं –

तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्य शरणै नृभिः।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः॥

(श्रीमद्भागवत ३. १९. ३६.)

भगवान् ऋजु (सरल स्वभाव वाले) पुरुष के लिए 'सुखाराध्य' हैं, असाधु के लिए दुराराध्य हैं।

श्री गीतावली जी में तो श्री कौशल्या जी ने इसे भी कुशलता का का कार्य नहीं माना कि श्री दशरथ जी ने श्री राम जी को छोड़कर (वन वास देकर) धर्म का पालन किया–

हरि तजि धर्म शील भयो चाहत, नृपति नारि बस सरबस हारे।

दोहे में राग द्वेष मुक्त पुरुष को सूर (वीर, बहादुर, साहसी) भी माना है। वह कैसे ? यहाँ जिस साहस या शौर्य का उल्लेख है वह अखाड़े या युद्ध भूमि वाला नहीं है। अखाड़े की कुश्ती, या अन्य संघर्ष या सैनिक युद्ध के सच्चे वीर भी थोड़े ही होते हैं, वे प्रसंसनीय हैं, देश या धर्म के लिए आत्म-बलिदान करने वाले क्रान्तिकारी भी स्तुत्य शूरवीर गिने गए हैं। परन्तु समरभूमि के शूरवीरों से कहीं अधिक महान् वे लोग हैं जो मनोविजय करते हैं। 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत।'

राग द्वेष से रहित व्यक्ति सचमुच शूर वीर, बहादुर,) है। युद्ध के सिपाही या अखाड़े के पहलवान अपनी वीरता दिखाते हैं, परन्तु राग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

द्वेष से प्राय: प्रेरित रहते हैं। उनकी वीरता राग द्वेष रहित नहीं है। जिस तरह की वीरता वे दिखाते हैं, वह प्राय: रजोगुणी वीरता है और रजोगुण में राग द्वेष की प्रबलता रहती है। रजोगुणी व्यक्ति यह आशा ही नहीं कर सकता कि राग द्वेष रहित व्यक्ति वीर सिद्ध होगा। इसलिए उसे शंका हो सकती है कि श्री गोस्वामी जी ने यहाँ राग द्वेष रहित व्यक्ति को शूर क्यों माना है ?

लड़ाई के सिपाही हिंसा के कार्यों में अपनी वीरता दिखाते हैं, प्रतिपक्षी की पराजय या मृत्यु से उनकी वीरता का निश्चय होता है। सिपाही इसलिए वीर है कि मरने को तैय्यार है, परन्तु उसकी योजना मारने की ही है, मरने की नहीं। युद्ध में कभी कभी बलिदानी-दल गठित किये जाते हैं और उन्हें ऐसे काम में लगाया जाता है जिसमें उनकी मृत्यु तो अनिवार्य हो, परन्तु शत्रु को बहुत बड़ी हानि हो। जैसे भारतीय सेना के कुछ सिपाही शत्रु सेना के मार्ग में, सीने पर बम बाँध कर लेट गये, मुर्दे की तरह पड़े रहे। शत्रु के टैंक उन पर से निकले तो बम फटे। एक सिपाही मरा पर एक टैंक टूटा। इसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध में एक जापानी वायुयान से बम हाथ में लेकर कूदा और अंग्रेजी युद्ध पोत की चिमनी में चला गया। इंजन में जाकर बम फटा, जपानी मरा परन्तु युद्धपोत टूटा व डूबा। उस पोत के सिपाही भी सब मरे। ऐसे सिपाही अधिक वीर माने जाते हैं, क्योंकि उन्हें जीवित बच जाने की आशा नहीं होती। इसी तरह बहुत से क्रान्तिकारियों की वीरता की प्रशंसा हुई। महात्मा गाँधी अहिंसक सत्याग्रही की वीरता हिंसक सेना के सिपाही की वीरता से अधिक मानते थे, क्योंकि सत्याग्रही के सामने प्रतिपक्षी की जान लेकर स्वयं बचे रहने का विकल्प नहीं होता। भय या भौतिक हानि शत्रु की नहीं सत्याग्रही की ही हो सकती है। सच्चा सत्याग्रही सिद्धान्त पर बलिदान होने निकलता है, शत्रु का रक्त बहाने के लिए नहीं। अत: वह श्रेष्ठतर वीर है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कहा जाता है कि तलवार के घाव तो कालक्रम से भर जाते हैं, परन्तु बात (मर्मोक्ति व्यंग्य, अपमान के शब्द) के घाव नहीं भरते हैं। शस्त्र के घाव सहन करने वाले भी बात के घाव नहीं झेल पाते। यथा—

सूल कुलिस असि अँगवनि हारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥
(अयोध्या काण्ड)

बाग्वाणों की नोक, लोहे के तीरों की नोक से भी अधिक तीखी, पैनी, हो सकती है। ऐसे तीक्ष्ण शर को झेलकर जो शीतल सन्त तनिक भी विकारवान् (क्रुद्ध) नहीं होता [पूर्व छन्द ४९] वह क्यों न श्रेष्ठतर या सच्चा शूर [वीर] मान्य हो ?

एक दृष्टि से जीवन का हर क्षेत्र संघर्षमय है। सिपाही का संघर्ष शत्रु से है, बलिदानी का अधर्म या अन्याय से, सुधारक का संघर्ष कुरीतियों से है, अध्यापक का संघर्ष अज्ञान से, चिकित्सक का संघर्ष रोग से है, साधक का संघर्ष विकारों, प्रलोभनों से इत्यादि। प्रत्येक संघर्ष क्षेत्र में शूरता प्रदर्शन का अवसर है। वीरता का सदुपयोग हर क्षेत्र में प्रशंनीय है, दुरुपयोग (परेषाम् परिपीडनाय प्रयोग) निन्दनीय है। हिंसात्मक वीर का शौर्य व्यावहारिक जगत में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और शीघ्र प्रभावी जान पड़ता है, इसलिए जन दृष्टि में प्रमुख हो जाता है। परन्तु खतरे उठाकर आविष्कार या खोज करने वालों या उद्धारकों या संस्कृति उन्नयन-कारियों या धर्मनिष्ठों की वीरता विवेकियों की दृष्टि में कम नहीं अधिक है। दानवीर खड्गवीर से भी अधिक प्रशसनीय होता, है।

राग द्वेष मुक्त पुरुष की शूरता साधन के क्षेत्र में है। सम, विषम सुखद, दुखद परिस्थितियों को झेलते हुए चित्त को निर्विकार और सम, एकरस रखना अप्रतिम वीरता मानी गई है। जिसने अपने चित्त को समता में स्थित कर लिया उसने सारी सृष्टि पर विजय प्राप्त कर ली।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(गीता ५. १९.) तस्मात् वह अप्रतिम विजेता है। वह पुरुष जगन्नियन्ता से अभिन्न होकर सृष्टि विजय लाभ प्राप्त करता है।

यह भी समझना चाहिये कि हिंसा की लड़ाई जीतने पर अविवेकी की दृष्टि में लड़ाई समाप्त हो जाती है, सत्ता प्राप्त हो जाती है, परन्तु सत्ताधारी को असा भ्रम होना ही विनाश का कारण है। क्योंकि लड़ाई जीतने और सत्ता प्राप्त करने के बाद विजयोन्माद सहज सभव है। यह भ्रम सहज संभब है कि अब कोई संघर्ष नहीं है, अत: निश्चिन्त होकर मनमानी कर सकते हैं। युद्धकाल में त्याग की आवश्यकता थी, अब भोग का सुयोग प्राप्त है। बिवेक की दृष्टि से ऐसा कुछ नहीं है। उल्टे सत्ताधारी को धर्म स्थापना का कर्तव्य प्राप्त है। सत्ताधीश को राजमद हो जाय तो वह अपने को लौकिक पारलोकिक सभी नियमों से ऊपर मान लेता है। अत: वह मर्यादा पालक न होकर, मर्यादा का घातक बन जाता है। मर्यादाघात को उसका प्रश्रय मिल जाता है। इस प्रकार धर्म (कर्तव्य, नियतकर्म, मर्यादा, सदाचार) का हनन् होने लगता है। धर्म ही प्रजा को धारण करता है। धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित:।` धर्म का हनन् होने से समाज विश्रखलित होने लगता है और सत्ताधारी भी विनाशोन्मुख होने लगता है, जिसका कुछ समय तक उसको अनुभव ही नहीं होता। इसलिए व्यावहारिक जगत में भी युद्ध विजय के बाद धर्माधर्म के सघर्ष में विजय का प्रश्न ज्वलन्त रहता है। प्रमाद होने पर राजा भगवान् का अश न बनकर शैतान का अनुचर बन जाता है। इस श्रेय और प्रेय के युद्ध में यदि श्रेय की विजय न हुई तो युद्ध विजय का सारा नैतिक मूल्य समाप्त हो जाता है।

श्रेय और प्रेय के संघर्ष में श्रेय की विजय आत्म संयम के ही द्वारा होती है, धन, सत्ता या सेना से नहीं हो सकती। इसलिए समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए राजर्षि चाहिये विलासी सम्राट नहीं। राग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

द्वेष मुक्त सन्त ही सत्तायुद्ध और धर्मयुद्ध में कल्याणकारी भूमिका निभा सकते हैं। शेष लोगों का भोग के प्रवाह में वह जाना अवश्यंभावी हो जाता है, इसलिए राग द्वेष रहित दशा में ही सच्ची वीरता समाविष्ट है। यही सच्चे सन्त का गौरव है।

जो सबसे कठिन लड़ाई जीते, वही सबसे बड़ा वीर है। मन ही मनुष्य के बन्धन व मोक्ष का कारण है। अपना मन ही अपना शत्रु या मित्र है संयमित, नियंत्रित, सुविजित मन मित्र है, असंयमित मन ही शत्रु का काम करता है। इसलिए मन को जीतना आवश्यक है। 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत।' मन को जीतना युद्ध विजय से कहीं अधिक कठिन कार्य है। मन के जीतने में अखण्ड जागरूकता की आवश्यकता पड़ती है। इस लड़ाई में दिन रात, किसी समय बिना पूर्वाभ्यास के युद्ध प्रारम्भ हो सकता है। सदैव तय्यार रहने की बात है।

युद्ध के सिपाही को मारू बाजे बजाकर और नशे में लाकर, कुछ समय के लिए जान लेने और देने के लिए तत्पर कर दिया जाता है। उसका अनुशासन परेड में और उसकी वीरता युद्ध के समय ही रहती है, हर समय नहीं। साधक को अखण्ड सावधानी चाहिये, कहीं किसी समय मन धोखा न दे जाय।

सूर सती होना सहज, घरी पहर को काम।
साधू होना कठिन है, निशि दिन आठौ जाम॥

सारा संसार माया वश है, विरले विरले सन्त ही बचे हैं, अतः काम, क्रोध, आदि विकारों से रहित व्यक्ति अप्रतिम वीर हैं। श्री राम के राज्य में शत्रुओं के जीतने की समस्या नहीं थी परन्तु मन को जीतने की चर्चा चलती रहती थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीतहु मनहिं सुनिय अस, राय चन्द्र के राज।
(उत्तर काण्ड)

राग द्वेष रहित व्यक्ति को 'सचेत' भी कहा है। राग द्वेष से ही प्रमाद प्राप्त होता है, मनुष्य असावधान हो जाता है। पशु हो या मनुष्य आसक्ति के स्थान पर ही उनकी सावधानी में कमी की आशा की जाती है और शिकारी या शत्रु इस कमजोरी को जानकर इसका फायदा उठाता है। आसक्ति पराभव का मार्ग प्रशस्त करती है। जिसके राग और द्वेष क्षीण हो गए हैं, उसमें यह कमजोरी है ही नहीं, तस्मात् उसके लिए सदैव 'सचेत' व सावधान रहना सहज संभव है।

यहाँ 'सचेत' का अर्थ साधारण लौकिक व्यवहार में पूरी सावधानी और सतर्कता नहीं है। यद्यपि विकारमुक्त सन्त विवेकी होते हैं और आसानी से धोखा नहीं खाते, परन्तु लौकिक परिणामों को अधिक महत्त्व न देने के कारण वे कई बार लापरवाह या असावधान जान पड़ते हैं। उनकी असली सतर्कता पारमार्थिक ही है। वे माया के संभावित प्रलोभन या प्रहार के प्रति पूरे 'सचेत रहते हैं कि कहीं धोखे से भी विकारवश न हो जायँ। इस प्रकार से सचेत रहना सबसे अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार सचेत रहने से जो विकार रहित जीवन दृढ़ ओर स्थिर रहता है, उसका पारमार्थिक ही नहीं लौकिक या व्यावहारिक शुभ फल भी अत्यन्त महान् है। संसार कैसा है और इसके लोग आपस में कैसा व्यवहार करते हैं, इस विषय में अलग अलग साधकों का अनुभव एक सा नहीं है, भिन्न भिन्न यहां तक कि विपरीत भी है। यह अनुभव अन्तःकरण की भूमिका से सम्बन्ध रखता है। शुद्ध सन्न के लिए 'सर्वा सुखामया दिशः' 'सुखमय ताहि सदा सब आसा ।। (उत्तर काण्ड) चोर, डाकु, दुष्टजन भी सन्तों के प्रति अच्छा व्यवहार करने लगते हैं। सेन्त को सभी जगह सुख है। जिस पवित्र अन्तः करण का यह चमत्कार है, उसकी पवित्रता को स्थिर रखना और बढ़ाते जाता ही सच्ची सुजानता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सन्तों की दृष्टि में वही सचेत है जिसे माया ठग न सके। वह सचेत नहीं है जो वर्तमान् जीवन की व्यवस्था में ही सारा जीवन लगा देता है और परलोक के भावी जीवन की कोई व्यवस्था नहीं करता। यदि कोई यात्रा पर जाता है तो उन वस्तुओं की व्यवस्था करता है जो साथ जायँगी और यात्रा में काम आएँगी। इसके विपरीत जो साथ न जाने वाली वस्तुओं की व्यवस्था में लगा रहता है और यात्रा की और प्रवासी जीवन की आवश्यकताओं की परवाह नहीं करता वह सही अर्थों में सचेत नहीं कहा जा सकता। इसलिए रागद्वेष विमुक्त व्यक्ति ही सचमुच सचेत है।

वही प्रामाणिक योद्धा भी है। पहले शूर और सचेत कह चूके हैं, तथापि प्रमाणिक योद्धा कहकर एक प्रकार से पुनरुक्ति या पुष्टि की है। जो युद्धों में अथवा कुश्तियों में बार बार वीरता प्रदर्शित करता है वह शूर कहलाता है, परन्तु अविवेकी शूर होना पर्याप्त नहीं। अँग्रेजी में एक कहावत है कि विवेक ही वीरता का श्रेष्ठ अंश (सार) है। वीरता का कब, कैसा और कितना प्रयोग करना, इसका जानने वाला और तदनुसार व्यवहार करने वाला शूर और विवेकी दोनों है। श्री हनुमान् जी को सुन्दर काण्ड में 'अतुलित बल धामं। तो कहा परन्तु साथ ही ज्ञानिना मग्रगण्यम् भी कहा। 'बुधि विवेक विज्ञान निधाना। साधारण समय में आप ऐसे सीधे सादे बैठे रहते थे कि रावण को यह सूचना दे दी गई कि —

जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥
(सुन्दर काण्ड)

परन्तु पराक्रम के अवसर पर आपने अकेले ही लंका दहन व निशिचर बध किया और सभी लंकावासियों को ऐसा आतंकित कर दिया कि महाराणी जी को उत्पीड़ित करने का साहस भी न कर सकें।

'जरै नगर अनाथ कर जैसा। सुन्दर काण्ड।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आध्यात्मिक दृष्टि से प्रवृत्ति ही लंका का दुर्ग है। प्रबल वैराग्य ही दारुण 'प्रभंजन तनय 'श्री हनुमान हैं' आसक्ति का नाश ही लंका दहन है।

जो बल विवेक से सम्पन्न हैं, बार बार बिजयी होता है वह प्रामाणिक योद्धा मान लिया जाता है। जो आन्याध्मिक संघर्ष में बार बार विकारों पर विजयी होता हुआ अन्तिम विजय प्राप्त करता है वह प्रमाणिक वीर (सुभट प्रमान) मान्य है। राग द्वेष से नितान्त मुक्त सन्त ऐसा ही प्रामाणिक योद्धा है। उसकी वीरता और विजय सबके सामने नहीं आती, न उसका महोत्सव मनाया जाता है, अधिकारी पुरुष ही उसका गौरव समझ पाते हैं।

ऐसे सन्त को ही ज्ञानी कहा है। यहाँ ज्ञानी का अर्थ पुस्तक ज्ञानी या शास्त्र ज्ञानी नहीं है। अनुभूति-संयुक्त ज्ञान, अपरोक्षानुभूति से तात्पर्य है। राग द्वेष रहित सन्त को तत्त्वानुभूति हो जाती है। राग द्वेष से ही यंसार सत्य सुखद व कल्याणप्रद लगता है।

संसार स्वप्नतुल्यो हि राग द्वेषादि संकुलम्।
स्वकाले सत्त्यवद्भाति प्रबोधे ऽसत्यवद्भवेत्॥

राग द्वेष के अभाव में संसार न सत्य लगता है, न सुखद, न स्थिर, न श्रेयस्कर। तब ससार का सही रूप सामने आ जाता है, उसका प्रतीतिमान् स्वरूप किथ्याभास सिद्ध हो जाता है, तब उस परम तत्त्व की भी अनुभूति हो जाती है जिसकी सत्ता से यह जगत् सत्य भासता है।

यत्सत्वादमृषैव भाति संकलं रज्जौ यथा ऽहैर्भ्रमः।

(बाल काण्ड)

जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया। ,, ,, ,,
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई॥ ,, ,, ,,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

(श्री मद्भागवत १. १. १.)

जो अपने प्रताप से सदा (जगत् रूपी) भ्रम को निवारण कर रहे हैं, उन परम सत्य स्वरूप भगवान् का हम ध्यान करते हैं।

राग द्वेष की निवृत्ति से मोह (अविद्या) की निभृत्ति होती है, अहं-भाव की निवृत्ति होती है, विद्या (यथार्थ ज्ञान, तत्व ज्ञान) की प्राप्ति होती है, बोध हो जाता है। इसी असली ज्ञान को प्राप्त करने से सन्त ज्ञानी मान्य है।

पुस्तक या शास्त्र का यथावत् ज्ञान भले ही न हो परन्तु ऐसे ज्ञानी (अनुभवी) सन्त के वचन स्वाभाविक रूप से शास्त्र के मर्म से युक्त, शास्त्रानुकूल, होते हैं यथा श्री राम कृष्ण परमहंस देव जी के या महर्षि रमण के उपदेश ।। ऐसे सन्त की तुलना में मात्र पोथी पण्डित ही अज्ञानी ठहरता है।

ज्ञानी के साथ साथ ऐसे सन्त को गुणी भी कहा है। राग द्वेष से रहित अन्त:करण में अनेक शुभ गुण सहज ही आ जाते हैं। उनके अवरोधक विकार नहीं होंते तो उनका विकास सहज रूप में होता है।

सिमिटि सिमिटि जल भरै तलावा। जिमि सद्गुन सज्जन पहिं पावा ।।

(किष्किन्धा काण्ड)

गुनी का यहां साधारण अर्थ-विशेषज्ञ कलाकार, विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त आदि नहीं है। अच्छे, उत्तम, श्रेयष्कर, नैतिक गुणों से युक्त, यह अर्थ है। परन्तु यह समझने की बात है कि ऐसे नैतिक गुणों वाले मनुष्य में अनेक भौतिक गुण या योग्यताएं स्वत: आ जाती है।

गुणों का सदुपयोग होने से वे बढ़ते हैं, अनुपयोग से वे घटते हैं, दुरुपयोग से और भी तीवता से क्षीण होते हैं। राग द्वेष विहीन व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के द्वारा योग्यताओं और गुणों का सदुपयोग ही होता है, विकार उसमें विकृति उत्पन्न नहीं कर सकते इसलिए उन गुणों से अच्छी सेवा ही पाती है। सेवा बिगड़ती नहीं। असकी आड़ में स्वार्थ सिद्धि नहीं होती, अतः समाज को अधिक लाभ होता है और गुणों की धाक अच्छी जमती है। यश प्राप्त होने पर भी अभिमान नहीं आता इसलिए भी सेवा अच्छी चलती है। हानि लाभ आदि से भी बुद्धि चलायमान नहीं होती है, ऐसी स्थिर बुद्धि (स्थित प्रज्ञा) से भी गुणों की प्राप्ति व उनके विकास में बड़ी सहायता मिलती है। अविकारी पुरुष सात्विक कर्त्ता होता है। अतः उसके कर्म शुद्ध रूप में चलते हैं और विशेष प्रभावी होते हैं। अतः वह गुणी हो जाता है। बहुत बड़ी बात यह है कि उसके निरभिमान शुद्ध अन्तःकरण में भगवदीय शक्तियाँ क्रियमाण हो जाती हैं। भगवदीय शक्तियों के चमत्कार उसके सामने आते हैं तथा जोगों को उसकी सेवा में चमत्कारी प्रभाव दिखाई पड़ता है। जो गुण उसमें हो नहीं उसका भी प्रभाव दिखाई पड़ सकता है, और फिर उसका अकाट्य प्रमाण मिलने से वह मान्य हो जाता है।

चरण कमल बन्दौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे कहुँ सब कुछ दरसाई॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई॥
(सूरदास)

वह दाता भी माना गया। जो लोभी नहीं है, संग्रहीता नहीं है वही दाता हो सकता है। साधारण जन के पास जितना धन होता है, वह उसे कम ही लगता है। अतः वह लोभ वश और अधिक पाने के लिए प्रयत्न शील रहता है। लोभी को कभी भी यह अनुभव नहीं होता कि वह अधिक रखता है, देने की स्थिति में है, दान कर सकता है। माया की विडम्बना है कि बड़े बड़े रईस पड़े हैं जिनको धनी होने का अभिमान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी है, परन्तु उन्हें यह नहीं जान पड़ता कि वे उत्साह से खूब दान कर सकते हैं, दान के नाम से जो कुछ चलता हैं वह प्रायः प्रत्युपकार, परोक्षरूप से घूस होता है, उसमें भी स्वार्थ की प्रेरणा होती है। आजकल का बहुत सा दान अश्रद्धा या असत्कार से भी दूषित होता है, कभी कभी एकदम दाम्भिक होता है। यदि सभी दान सात्विक हो, प्रत्युपकारार्थ न होकर विशुद्ध सेवार्थ, देशकाल पात्र के अनुसार हो (गीता १७. २०.) तो देश और समाज का रूप ही बदल जाय, उद्धार हो जाय।

आचार्य विनोबा ने कहा है, जो समाज से अपने काम की उचित मजदूरी लेता है, वह मजदूर है, जो अधिक लेता है वह उतने अंश तक चोर है और जो सेवा बहुत करता है, लेता कम है, वह उस सीमा तक दानी है। इस दृष्टि से बहुत से सम्पन्न व्यक्ति चोर सिद्ध होंगे और निर्धन दानी सिद्ध होंगे।

सन्त प्रायः धन धान्य से सम्पन्न नहीं होंगे, परन्तु सतोगुण में स्थित होने के कारण दान की प्रेरणा उन्हें अधिक होगी। उनका दान मात्रा में कम भी हो पर अत्यन्त उत्कृष्ट और प्रभावशाली होगा।

यहाँ दाता का अर्थ धन दाता तक सीमित नहीं मानना चाहिए। दवा का दान, विषम परिस्थिति में परामर्श का दान, सदुपदेश, विद्या दान, अन्नदान, जलदान, सुविधा प्रदान, आदर दान, आश्रय दान, ज्ञान दान, अभय दान, यह सब दान ही है। किसी भी कष्ट पीड़ित व्यक्ति का कष्ट हरण, दान ही है। मुक्त सन्त का जीवन दान मय होता है। उसमें विज्ञापन, प्रदर्शन और अभिमान नहीं होता, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, आदि का दोष-स्पर्श भी नहीं होता, इसलिए वह सच्चे अर्थ में दान है, वैसा ही दान समाज में व्याप्त हो जाना चाहिए।

वही सन्त ध्यानी है। ध्यानी का यहाँ अर्थ है भगवान् का ध्यान करने वाला (परं तत्त्व या परं शक्ति या परं सत्य का ध्यान करने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वाला। लोभी धन का ध्यान करता है, परन्तु श्री भतृंहरि जी ने ग्लानि प्रकट की कि—

ध्यात वित्तमअहर्निश नियमितं, ध्यानैर्न शंभोः पदे।

हमने दिन रात नियमित रूप से धन का ध्यान किया परन्तु श्री शंकर जी के चरण कमल में ध्यान नहीं लगाया। श्री गोस्वामी जी ने राम चरित मानस के अन्त में प्रार्थना की है कि —

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

जब तक जगत् के पदार्थों व व्यक्तियों में आसक्ति शेष हैं मन उधर जाता रहेगा, ध्यान में विक्षेप होगा, राग द्वेष के क्षीण होने पर बिक्षेप का क्षय हो जायगा, ध्यान अखण्ड और निर्विघ्न हो सकेगा। जब जगत् मिथ्याभास रूप मान्य होगा तो जगत् में आसक्ति नहीं रह जायगी, जैसे जागा हुआ व्यक्तिस्वप्न में देखे हुए पदार्थ को पाने की इच्छा नहीं करता। तब मन की अन्य गति नहीं रह जायगी। भगवान् में अनन्य प्रीति होगी। तब ध्यान के बराबर जगत् का कोई भी सुख नहीं, ऐसी अनुभूति के साथ सन्त ध्यान में लीन रहेगा। कामनाएँ ध्यान में विक्षेपकारी हैं, कामनाहीन का ध्यान निर्विघ्न, गंभीर, और आदर्श होता है।

जिस प्रकार जागा हुआ व्यक्ति स्वप्न की वस्तुओं का ध्यान नहीं करता उसी प्रकार ज्ञानी (मुक्त, प्रबुद्ध) व्यक्ति जगत् का ध्यान नहीं करता, तत्त्व चिन्तन में हीं उसका कालयापन होता है। अतः वह उत्तम ध्यानी हैं।

इस प्रकार दो दोहों में श्री गोस्वामी जी ने राग द्वेष मुक्त सन्त के लक्षण कहे।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

राग द्वेष की बुझानी। काम क्रोध वासना नसानी ।।
तुलसी जबहिं शान्ति गृह आई।
तब उर ही उर फिरी दोहाई ।।६०।।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जब राग द्वेष की आग बुझ गई, काम क्रोध की वासना नष्ट हो गई तो हृदय रूपी घर में शांति छा गई, मन ही मन (प्रदर्शन, विज्ञापन के बिना) श्री राम जी की दोहाई फिर गई। अर्थात् अघोषित घोषणा हो गई कि यहां अन्तःकरण पर श्री राम जी का नियन्त्रण है, अतः कोई विकार इस पर आक्रमण (प्रहार) न करे।

छन्द ६० व ६१ में ग्रन्थ का उपसंहार है। अन्तिम परिणति, चरम दशा का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ का समापन है। पूर्व कथन की पुनरुक्ति पूर्वक पुष्टि है। यह तो कहा गया है। कि राग द्वेष की अग्नि बुझ जाती है, काम क्रोध के विकार नष्ट हो जाते हैं तो हृदय में शांति छा जाती है। यह नया विचार नहीं है, पहले निरूपित हो चुका है। इतना भेद प्रतीत हो सकता हैं कि पहले शाँति पद के प्रताप से विकार निरसन का उल्लेख था यहाँ विपरीततः विकार निरसन हो जाने पर शाँति छा जाने-का उल्लेख है। वास्तव में दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। विकारनिरसन से शाँति और शांति के कारण विकार हीनता, दोनों क्रम चलते हैं। यह वैसा ही है जैसे वैराग्य से भक्ति और भक्ति से वैराग्य होता है। दोनों बातें ठीक हैं। दोनों क्रम चलते हैं।

दसइँ दसहु कर संजम जो न करिय हित मानि।
साधन वृथा होहिं सब, मिलैं न सारँगपानि ।। वि० प० ।।
मैं जानी हरि पद रति नाहीं। सपनेहु तहिं विराग मन माहीं ।।
(वि० प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती । निज निज धरम निरत श्रुति रीती ।।
एहि कर फल पुनि विषय विरागा । तब मम चरन उपज अनुरागा ।।
(अरण्य काण्ड)

जेहि लागि विरागी अति अनुरागी विगत मोह मुनि वृंदा ।
(बाल काण्ड)

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम् ।।
(श्री मद्भागवत ३ ३२. २३.)

उर कछु प्रथम वासना रही । तब पद प्रीति सरित सो बही ।।
(सुन्दर काण्ड)

जिन रघुवीर जरण अपुरागे । तिन सब भोग रोग सम त्यागे ।।
(वि० प०)

सुमिरत रामहिं तजहिं नर, तृण सम विषय विलासु । अयोध्या कांड ।
रमा विलास राम अनुरागी । तजत वमन जिमि नर बड़भागी ।।
हरि निरमल मल ग्रसित हृदय, असमजस मोहिं जनावै ।।
जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवै ।।
(वि० प०)

मन ते सकल वासना भागी । केवल राम चरन लव लागी ।।
(उत्तरकांड)

राग द्वेष विनाश और काम क्रोध का निरसन वैराग्य ही है, और जिस शान्ति पद का वर्णन किया गया है वह परा भक्ति और शरणागति ही है, यह इस प्रकार प्रकट कर दिया गया है कि शान्ति पद प्राप्त होने पर हृदय में श्री राम जी की दोहाई फिर जाती है। अत: वैराग्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और भक्ति का अन्योन्याश्रय (पारस्परिक प्रभाव वाला) सम्बन्ध यहाँ लागू है।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं जब शान्ति घर (हृदय) में आ जाती है, तो श्री राम जी की दोहाई फिर जाती है। स्पष्ट हो गया कि वर्णित शान्ति के साथ सर्पमण भी है। राम की दोहाई फिर जाती है, अर्थात् राम का संरक्षण हो जाता हैं, राम का कब्जा हो जाता है, राम का नियन्त्रण हो जाता है' राम राज्य कायम हो जाता है। भगवान् का राज्य हृदय में कायम होने का उपदेश ईसाई धर्म में भी दिया गया है और गैब (अदृष्ट, दिव्य शक्ति, भगवान्) के भरोसे जीवन बिताने का उपलेश कुरान के आदि में सूरे बकर में भी है। शब्द इस्लाम में ही शांति और शरणागति का अर्थ भरा है। 'हुकुम रजाई चालना' (भगवदीय आज्ञानुसार आचरण करना) श्री गुरू नानक जी के उपदेश में भी है। सिक्ख शब्द शिष्य का ही अपभ्रंश (तद्भव रूप) है और शिष्य वही मान्य है जो अनुशासन में हो, आज्ञपालक हो, अनुगत, शरणागत हो।

प्रश्न यह उठता है कि शान्ति आ जाने से श्री राम जी की दोहाई फिर जाना क्यों आवश्यक है? यह क्यों नहीं हो सकता कि शान्ति है घर शरणागति नहीं है? इसी विषय पर विचार करने से श्री गोस्वामी जी का अन्तिम सन्देश समझने में सुविधा हो सकती हैं। शान्ति और शरणागति की अभिन्नता का सन्देश हृदयंगम करना आवश्यक है।

एक तपस्वी महात्मा कहते थे कि दुनियां में दो तरह के लोग है, मनमुखी और गुरुमुखी। मन की इच्छानुसार चलने वाले मनमुखी, गुरु आज्ञा में चलने वाले गुरुमुखी। बहुत बड़ी संख्या में लोग मनमुख हैं, मनमानी करते हैं। परन्तु राग द्वेष विहीन, काम क्रोधादि से रहित व्यक्ति मनमुखी नहीं हो सकता। उसके मन में कोई इच्छा, वासना या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तृष्णा नहीं हो सकती । अतः वह इच्छा का अनुसरण नहीं कर सकता। उसकी इच्छा (प्रवृत्ति) धर्म पालन की होगी । धर्म का स्रोत शास्त्र है और शास्त्र के द्वारा विश्व नियामक, परमपिता परमात्मा का आदेश ही प्रकट होता है – श्रुति स्मृती ममैवाज्ञे ।' अतः वह भगवदीय आदेश का पालक (रजाकार) होता है । मुस्लिम शब्द भी अरबी भाषा में 'आज्ञा-पालक' के अर्थ में प्रयुक्त होता है । कुरान में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा' (अयोध्या काण्ड) के अनुसार आज्ञा-पालक ही सबसे बड़ा सेवक है, वही शरणागत है ।

समता में स्थिति ही शान्ति की स्थिति है ।

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं । दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ।।
(अयोध्या काण्ड)

समत्वमाराधनमच्युतस्य (प्रह्लाद) समत्व ही भगवान् की आराधना है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः संग विवर्जितः ।। गीता १२. १८. ।
सुख दुःख सहौं रहौं सदा शरणागत तोरे । वि० प० ।
विगत मान सम शीतल मन, सुख दुःख समबुद्धि सहौंगो ।
(वि० प०)

'दैवाल्लब्धेन सन्तोषः (श्री मद्भागवत ३. २८. २.)

दई दई का करत है, दई दई सो कबूल ' (दैव का दिया हुआ स्वीकार कर ।

राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा हो ।
यही शरणागति है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भगवान् के प्रत्येक विधान में सन्तुष्ट व प्रसन्न रहना सच्ची शरणागति है। काम क्रोध आदि विकारों से रहित सन्त इसी रहनि मे रहते हैं।

सील सहनि सउकी सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिये एहि रहनि, सन्त जनन को काम ।। दोहावली ।।

ऐसी समता और शांति ही शरणागति हैं, उससे कुछ भी भिन्न नही। श्री राम जी की दुहाई फिरने की बात में बहुत बड़ा अर्थ भरा है। यह तात्पर्य है कि उर ही उर (मन ही मन) में, बिना किसी विज्ञापन के यह बात दृढ़ हो जाती है कि इस अन्त:करण में राम जी की हुकूमत सक्रिय है, राम जी का संरक्षण है, राम जी ही गति हैं। अत: बिना किसी शब्द के ही यह घोषित हो गया कि यहाँ माया की अमलदारी नहीं चलेगी, काम क्रोधादि विकार यहाँ कोई उत्पात न करें, श्री राम जी की आज्ञा का ही यहाँ विशुद्ध और पूर्ण अनुपालन और प्रवर्तन होगा।

दिल गुजर गाहे जलीले आवर अस्त। (हृदय भगवान् के मार्ग में ठहरने का पड़ाव है)।

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा ।। वि०प०।

जब हृदय में शान्ति छा जाती है तो मानो राजा के लिए कोठी की व्यबस्था सँभल जाती है। राजकीय विश्राम भवन आदि भी जब काम में नहीं आते हैं, तो अव्यवस्थित से पड़े रहते हैं, परन्तु निवास के समय के पूर्व उनकी व्यवस्था ठीक कर दी जाती है। सभी हृदयों में भगवान् का आवास स्थल है, सर्वव्यापी होने से भगवान् सभी जगहों पर सभी अन्त.करणों में हैं ही, परन्तु विशेष रूप से भगवान् का निवास सन्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हृदयों में होता है। वहाँ उनकी शक्ति क्रियमाण रहती है। जैसे राजा की सत्ता व शक्ति राज्य भर में व्याप्त है, परन्तु राजमहल में उसका विशेष दर्शन होता है, जैसा अन्य क्षेत्रों में राज्य में नहीं होता। उसी प्रकार अनन्य शरणागत सन्त हृदयों में श्री भगवान् की सत्ता व महत्ता का चमत्कार अधिक प्रत्यक्ष होता है।

यहाँ सन्त जीवन की दिव्यता का परोक्ष संकेत है। सन्न हृदय में भगवान् का व्यापक कानून तो चलता है पर इसके अतिरिक्त उनका निजी आदेश भी चलता है, जैसे राजमहल में राजा का निजी आदेश चलता है। महर्षि अरविन्द ने भलीभाँति समझाया है कि निरभिमान निर्विकार समर्पित अन्तःकरण के माध्यम से स्वयं भगवदीय सत्ता काम करती है। यह दिव्य शक्ति का अवतरण है। जिसके हृदय में त्रिगुणात्मिका माया और मायाकृत गुण दोषों आदि की समस्त खड़भड़ शान्त हो चुकी है, वह भगवान् के हाथ का यन्त्र बन चुका। अब उसका जीवन भगवान् की मुरली के समान है, उसमें जो स्वर भगवान् भरेंगे वही निनादित होगा। उसके हृदय में जयोध्या नगरी हैं, जिसके विरुद्ध किसी के युद्ध का प्रश्न नहीं होता और इस अयोध्या नगरी में ही राम राज्य स्थापित है, जहाँ राम की मर्जी से ही सब कुछ चलता है, मनमाना व्यवहार बिल्कुल नहीं होता।

यही राम जी की दुहाई फिरने का रहस्य है।

———

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फिरी दोहाई राम की, गे कामादिक भाजि ।
तुलसी ज्यों रवि के उदय, तुरत जात तम लाजि ।।६१।।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि जब हृदय में राम की दोहाई फिर गई तो कामादिक विकार भाग गए, जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार लज्जित (पराभूत, निवृत्त, विदा) हो जाता है।

राम जी की दोहाई फिर गई अर्थात् राम प्रताप प्रकट हो गया।

जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा।।
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। उहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका।।
जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अविद्या निशा नसानी।।
अघ उलूक जहँ तहां लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने।।
विथिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ऐ चकोर सुख लहहिं न काऊ।।
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।।
धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ए पंकज विकसे विधि नाना।।
सुख सन्तोष विराग विवेका। विगत सोक ए कोक अनेका।।

यह प्रताप रवि जाके, उर जब करै प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास।।

(उत्तर काण्ड)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसी प्रकार ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव जी के मोहान्धकार के दूर होने का उल्लेख है —

विद्रावितो मोह महान्धकारो य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ।
विभावसोः किं नु समीपगस्य शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य ।।
(११. २९. ३७)

महा मोह तम पुंज, जासु बचन रवि कर निकर ।। (बाल काण्ड)
जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा । वचन किरन मुनि कमल विकासा ।।
(अमोघ्या काण्ड)

सुनु गिरिराज कुमारि भ्रम तम रवि कर वचन मम ।।
(बाल काण्ड)

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किम कहिय विमोह प्रसंगा ।।
(बाल काण्ड)

वेद सार परम पवित्र गायत्री मन्त्र में भी सूर्योपासना है और बुद्धि के प्रेरक के रूप में ध्यान है ।

एक रहस्य और है. । सोता हुआ आदमी स्वप्न में व्यवहार करत हुआ अपने जागने का कुछ प्रबन्ध नहीं कर सकता, परन्तु सूर्योदय होने पर तो उसकी नींद खुल ही जाती है । भ्रम का कुहरा कितना ही गहरा हो सूर्य के ताप से, प्रताप से थोड़ी देर में छिन्न भिन्न हो ही जाता है, इसी प्रकार ज्ञान से मोंहान्धकार नष्ट होता है, ज्ञान सूर्यवत् है ।

यह मायामय संसार अद्भुत हैं, व्यवहार निष्ठ व्यक्ति को यह संसार सत्य जान पड़ता है और ईश्वर के अस्तित्व में भी सन्देह रहता हैं, परन्तु ब्रह्म के निज स्वरूप में जगद् भ्रम का कहीं पता नहीं चलता ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई ।।

(बाल काण्ड)

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह निशा लवलेसा ।। ,, ,,

सहज प्रकाश रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि विज्ञान बिहाना ।। ,, ,,

धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं, सत्यं परं धीमहि।

(श्री यद्भागवत १. १. १.)

संस्कृत में गुरु का अर्थ ही है – 'अन्धकार को दूर करने वाला।' गुरू गीता का वाक्य है —

अज्ञान तिमिरांधस्य ज्ञानांजन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्तै श्री गुरवे मनः ।।

अज्ञान के अन्धकार से जो अन्धा हो रहा था उसको ज्ञान रूप अंजन की सलाई लगाकर उसकी आँखें खोल देने वाले गुरु को नमस्कार है।

पूर्व छन्द संख्या २२ में कह आये हैं कि 'मोह अंध रवि वचन बहावै। अन्त में उपक्रम उपसंहार का तारतम्य मिला लेना ठीक रहेगा। इस ग्रन्थ के मंगला चरण (छन्द प्रथम) के बाद छन्द संख्या २ में ही श्री गोस्वामी जी कह आये हैं कि— करोड़ों उपाय करने से भी मोह तम नहीं मिटता, बिना रवि कुल रवि राम के उदय हुए हृदय कमल नहीं खिलता। वहाँ भी रवि के उदय से (मोह) तम का नाश कहा, यहाँ भी सूर्योदय से अन्धकार का पराभव बताया।

प्रबल वैराग्य का निरूपण, वैराग्र से शांति लाभ (ज्ञान प्राप्ति, ज्ञान के प्रकाश से मोह भ्रम विकारादि तम का नाश, भगवत् पद में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निमग्न समर्पित और निरभिमान जीवन इस ग्रंथ का चिरन्तन सन्देश है, यह उपक्रम व उपसंहार से भी स्पष्ट है।

राम नाम के जपे जाय जिय की जरनि।
कलियुग अपर उपाय ते अपाय भए,
जैसे तम नसिवे को चित्र के तरनि॥

(वि० प०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह विराग संदीपनी, सुजन सुचित सुनि लेहु ।
अनुचित वचन विचारि कै, जस सुधारि तस हेतु ॥६२॥

सज्जन लोग इस वैराग्य संदीपनी को ध्यान पूर्वक सुन लें, इसमें यदि कोई अनुचित वचन उनके विचार से आ गया हो, तो वे उचित सुधार कर दें ।

इस अन्तिम दोहे में गोस्वामी तुलसी दास जी ने यह बताया है कि इस ग्रन्थ का सेवन कौन करे और किस भाँति करे, साथ ही अन्त में दीनता पूर्ण वाक्य के माध्यम से बड़ी ही कुलशता से सन्देश दिया है ।

सुजन सन्त लोग इसे सुनें । वे ही इसके अधिकारी हैं । राम चरित मानस में भी कहा है—

करउँ मनोहर मति अनुहारी । सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ॥

सन्त लोग इसे सुनें, उन्हीं को इसमें रुचि भी होगी । वे भी सुचित होकर सुनें अर्थात् समाहित चित्त से श्रवण मनन निदिध्यासन करें । इस ग्रन्थ का मर्म समझने के लिए सूक्ष्म विचार की आवश्मकता है । सन्त जन भी सुचित होकर श्रवण करेंगे तब गहराई में पहुँचेगे ।

शब्दार्थ तो सरल है, यद्यपि कहीं कहीं शब्दार्थ विषयक विवाद सम्भव है, परन्तु वैसा विवाद उपयोगी नही, व्यर्थ होगा । ग्रन्थ के विज्ञ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाठकों को भावार्थ, लक्ष्यार्थ पकड़ना चाहिये। सुचित्त से श्रवण करना (या पाठ करना) इसलिए भी आवश्यक है कि यह ग्रन्थ अखिल ज्ञान का सार (पूर्व छन्द सं० ७) है। अखिल ज्ञान का ग्रहण सुचित्त से ही सम्भव है। शास्त्रों में सब ज्ञान भरा है, परन्तु हम लोग शास्त्र पढ़ पढ़ कर ज्ञानी नहीं हो पाते, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान (अनुभूति) का साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही अधिकारी है, अन्य व्यक्ति उसे प्राप्त नहीं कर सकता। पुस्तक ज्ञान से वाचालता आ सकती है। फिर यह भी समझना चाहिए कि जहाँ व्यास शैली में अति विस्तृत विवेचन हो वहाँ समझने की अधिक सुगमता रहती है। जहाँ सार मात्र प्रस्तुत है सूत्र मात्र अंकित हैं, समास शैली अपनायी गयी है, वहाँ सम्यक् अर्थ ग्रहण के लिए बहुत अधिक एकाग्रता और सूक्ष्म विचार की आवश्यकता होती है। जहाँ गागर में सागर भरा है, जैसे इस ग्रन्थ में, 'अर्थ अमित अति आखर थोरे (अयोध्या काण्ड) वहाँ सुचित ही एकाग्रता पूर्वक स्वाध्याय करने पर सम्यक अर्थ ग्रहण कर सकता हैं। अतः सुजन को भी सुचित होकर श्रवण करने का आवाहन है।

श्री गोस्वामी जी सन्त वाणी का माहात्म्य पहले कह ही चुके हैं (पूर्व छन्द २०)। सन्त की वाणी अनुभव का सुख उत्पन्न करती है, जगत् भ्रम को तो मानो उठाकर अलग रख देती है, सहज ही निवृत्त करती है। यदि हृदय में जम जाय, गड़ जाय, भिद जाय। इस ग्रन्थ में भी सन्त वाणी है वह वैराग्य को संदीप्त करने में पूर्णतः समर्थ है, ब्रह्मानुभूति करा देने वाली, मोह भ्रम को दूर करने वाली है। परन्तु दस मिनट में इस ग्रन्थ को मात्र पढ़ लेने का यह प्रभाव नहीं है। जब सन्त जन, सुचित (शुद्ध मन से, श्रद्धा, विश्वास, एकाग्रता पुर्वक, समाहित चित्त होकर श्रवण करेंगे तभी इस वाणी का आलौकिक प्रभाव प्रत्यक्ष होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शास्त्र निरूपण के समय उत्तम अधिकारी वक्ता व श्रोता के लिए सुखासीन, स्वस्थ, समाहित, शान्त, प्रसन्न होना, आवश्यक है। ज्ञानी भी व्यवहार में अन्तःकरण की वृत्तियों व इन्द्रियों के माध्यम से सक्रिय होता है अथवा शास्त्र निरूपण के समय श्रमित, क्षुधित क्षुभित या कुपित होना ठीक नहीं है। विवेकी श्रोतागण परिस्थिति व सुपास देखकर प्रश्न करते हैं, प्रश्न कर्ता में केवल जिज्ञासा न हो, श्रद्धा सेवाभाव हो।

श्री राम चरित मानस में जब श्री भरद्वाज ने याज्ञवल्क्य मुनि से प्रश्न किया तो सेवा पहले की—

जागबलिक पुनि परम विवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी।।
सादर चरण सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे।।
करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदुबानी।।
(बाल काण्ड)

इसी प्रकार पार्वती जी ने जब शंकर जी से कथा सुननी चाही तो भी देशकाल अवसर की अनुकूलता देखकर प्रश्न किये —

बैठे सोह काम रिपु कैसे। धरे सरीर शान्त रस जैसे।।
पारवती भल अवसर जानी। गईं शंभु पहिं मातु भवानी।।
(बाल काण्ड)

गरुड़ जी काकभुशुण्डि जी के पास पहुंचे तो वे सुखासीन थे, कथा आरम्भ करने ही वाले थे —

कथा आरम्भ करै सोइ चाहा। तेही समय गएउ खगनाहा।।
फिर गरुड़ जी ने समुचित शब्दों में कथा के लिए प्रार्थना की—
सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता। सरल सप्रेम सुखद सुपुनीता।।
भयउ जासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुनगाहा।।
(उत्तर काण्ड)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री लक्ष्मण जी ने श्री राम चन्द्र जी से विधिपूर्वक तात्त्विक प्रश्न किये।

एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन वचन कहे छल हीना ।।
(अरण्य काण्ड)

इसी प्रकार शास्त्रों में और भी विपुल उदाहरण मिलते हैं। तत्त्व निरूपण तभी अच्छा चलता है जब वक्ता श्रोता समाहित हों।

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधस, मुनि नृपो भगवतोऽभ्युपेत्य
प्रणम्य मुर्ध्नावहित: कृताञ्जलिर्नत्वा गिरा सूनृतयान्व पृच्छत्
(श्रीमद्भागवत १. १९. ३१.)

देखिये परीक्षित जी ने श्री शुकदेव मुनि से कैसे प्रश्न किया —

प्रशास्तमासीनमकुण्ठमेधसं, मुनि नृपो भागवतोऽभ्युदत्वा ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहित: कृताञ्जलि नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ।।
(श्रीमद्भागवत १. १९. ३१)

श्री शुकदेव मुनि प्रशान्त बैठे थे उस समय प्रणाम करके विनयपूर्वक प्रश्न प्रस्तुत किया गया।

इसी प्रकार विदुर जी ने भी मैत्रेय जी से प्रश्न किया–
द्वारिद्युन्द्या ऋषभ: करूणां मैत्रेयमासीन मगाध वोधं ।
क्षत्तोपसृत्याच्युत भाव शुद्धं प्रप्रच्छ सौशील्य गुणाभितृप्त: ।।
(श्री मद्भागवत ३. ५. १.)

श्री विदेह जी ने ऋषीश्वरों से भगवद्धर्म पूछे तो कहा कि यदि आप मुझे इस योग्य समझें कि मै इन्हें सुनूँ तो भागवत धर्मों का उपदेश करें। (श्री मद्भागवत ११. २. ३१.)

यदि श्रोता उपदेश का श्रवण करके समझने व धारण करने की स्थिति में न हो तो ,वक्ता उपदेश नहीं करते जैसे शकर जी ने कहा है–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ताते उमा न मैं समुझावा । रघुपति कृपा मरम सब पावा ।
(उत्तर काण्ड)

यदि कोई व्यग्र है, संशय शील है, श्रद्धालु नहीं है या बहस करके अपनी विद्वता प्रदर्शित करने या वक्ता को नीचा दिखाने के लिए प्रश्न करता है तो वह तत्त्व ग्रहण के अयोग्य है। वह सुचित से सुनने की स्थिति में नहीं है। शास्त्र की मर्यादा है कि — नापृच्छतः क्वचिद् ब्रूयान् न चान्यायेन पृच्छतः। [मनु] बिना पूछे कुछ न कहे, अन्याय पूर्वक पूछने पर भी न कहे। श्री गोस्वामी जी ने सुजनों द्वारा सुचित होकर श्रवण किये जाने का आह्वान किया है। दोहे का उत्तरार्द्ध उसी सन्दर्भ में ग्रहणीय हैं।

यह वैराग्य संदीपनी है। वैराग्य को जगाना, बढ़ाना, संदीप्त करना इसका प्रयोजन है। 'इहाँ न विषय कथा रस नाना बालकाण्ड।

तेहि कारण आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे।।
(बाल काण्ड)

विषयी लोगों के लिऐ यह ग्रम्थ नीरस है, तस्मात् सर्वविदित और सुप्रचलित भी नहीं है। जो वैराग्य राग रसिक हो उसके लिए यह ग्रन्थ अनुकूल हैं, वह इसके सहारे अपने वैराग्य को तीव्र और दृढ़ कर सकता है। जो विषय सुखों में ही आसक्ति और आस्था रखता हैं उसे इसमें रुचि न होगी। दोहावली जी में कहा है कि – जग ते तुहु छत्तीस (३६) टूटौ राम चरन छत्तीन (६३)। जिसे यह मार्ग अभीष्ट है जो विषय विमुख भगवत्सन्मुख रहना चाहता है, वह सन्त इसका श्रवण करे और वह भी इस प्रयोजन से कि वैराग्य तीव्र और बृढ़ हों, मोह भ्रम नष्ट हो, ज्ञान प्राप्त हो, शान्ति पद में लीनता हो, हृदय में राम की दुहाई फिरे, निर्विकार चित्त, समर्पित जीवन अनन्य भक्ति हो। इसो प्रयोजन से, श्रद्धा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पूरित हृदय से, पूरी एकाग्रता से, सच्ची साधना के रूप में, सम्यक् विचार और मनन पूर्वक श्रवण ही, सुचित होकर श्रवण है, जिसका आह्वान किया गया है।

जिसका वैराग्य जागा नहीं, तीव्र और दृढ़ नहीं हुआ, उसके द्वारा यदि इस ग्रन्थ का सेवन (श्रवण, पठन, पाठन, स्वाध्याय, अनुसन्धान) हुआ भी है तो वह सार्थक नहीं कहा जा सकता। इसलिए वह सुजन दारा सुधित से श्रवण सिद्ध नहीं होगा।

'सुचित' में अहंकार का अभाव भी जाता है। जब सन्त सुचित होकर श्रवण करेगा तो छिद्रान्वेशी बुद्धि उसमें होगी नहीं। वह इसमें श्रम करके समय नष्ट नहीं करेगा। कि शायद वह भाषा, व्याकरण, छन्द, अलंकार की कोई त्रुटि निकाल सके। सन्त सार ग्राही होते हैं। वे छोटे और बड़े शास्त्र ग्रन्थो से सार मात्र ग्रहण कर लेते हैं, अन्य बातों की परवाह नहीं करते।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यो कुशयो नरः।
सर्वत्र सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

(श्री मद्भागवत ११. ८. १०.)

सन्त परमार्थ सिद्धान्त तत्व निरूपण, भगवन्महिमा, पर हीं ध्यान देंगे रस, अलंकार, छन्द, शैली, भाषा, आदि पर नहीं।

सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरसि सन्त गुन ग्राही॥

(बाल काण्ड)

श्री मद्भागवत में भी सन्तों की ऐसी ही वृत्ति बताई गई है।
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्र प्रगृणीत कर्हिचित्।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्षया ।।
तद्वाग्विसर्गो जनताघ विप्लवो यस्मिन प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशो ऽङ्कितानि यत्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति-
साधवः ।। (श्री मद्भागवत १.५. १०-१)

जैसे राम चरित मानस में 'सुजन सुचित युनि लेहु सुधारी' (बाल कांड) कहा वैसे ही यहाँ अन्तिम कथन है, 'अनुचित वचन विचारि कै, जस सुधारि तस देहु ।' यह श्री गोस्थामी जी का दैन्य वाक्य है, परन्तु उपेक्षणीय कदापि नहीं हैं । स्मरणीय है कि परमार्थ निरूपण सदैव निर-भिमान भाव से ही होना चाहिये । न वक्ता अभिमान युक्त होना चाहिये न श्रोता । शास्त्र निरूपण या तत्त्व तिरूपण यथावत् होना चाहिये, तत्व निष्ठ होना चाहिये, व्यक्ति निष्ठ नहीं । आज कल शोध ग्रन्थों में बताना पड़ता है कि लेखक की अपनी मौलिक देन क्या है । परन्तु शास्त्रकार यथासंभव अपना व्यक्तित्व लुप्त रखते थे । दर्पण का गौरव यह हैं कि बिम्ब के अनुसार ही ठीक ठीक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करे । दर्पण के कारण प्रतिबिम्ब में अन्तर न पड़े । शास्त्रकार पारमार्थिक सत्य को प्रतिबिम्बित करता है, उसके अएने व्यक्तित्व की छाप उस पर न पड़ने देना ही उसका गौरव हैं । सत्य अर्थ प्रकाशित करना ऋषि का गौरव है, निज रुचि के अनुसार सिद्धि और असिद्धि करना नहीं । यह कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों के भेद से निरूपण भिन्न भिन्न होते ही हैं, परन्तु यह सब उसी प्रकार है जैसे विभिन्न न्यायालयों द्वारा विधि के प्राविधानों का अर्थ करण एक सा नहीं होता । योग्य से योग्य श्रेष्ठतम न्यावाधीश का अर्थ करण इसलिए मान्य है कि वह प्राविधान का शुद्धतमृ प्रामाणिक अर्थ है । उसमें न्यायाधीश की रुचि या व्यक्तिगत विचारधारा का प्रभाव मान्य नहीं है । यही हाल शास्त्रानुकूल ग्रन्थ प्रणेता का है, वह स्वतन्त्र प्रणेता नहीं है, शास्त्र के सही अर्थ का प्रकाशक हैं ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विचार अपौरुषेय है। उस पर किसी का स्वामित्व नहीं। ऋषि गण मन्त्रों के दृष्टा माने गये, सृष्टा या स्वामी नहीं। अतः विचार के शोध या समर्पण का श्रेय ऋषि को हैं, होगा व रहेगा, परन्तु कोई विचार किसी की सम्पत्ति नहीं है। पण्डितों, प्रचारकों, आचार्यों, सन्तों द्वारा स्वाध्याय व शोध का कार्य बराबर चलता रहता है, परन्तु कोई भी कभी यह न कहे कि उसका विचार अन्तिम है, उसमें अब शोध की सम्भावना नहीं रह गई है। जैसे उसने पूर्ववर्ती विचार को अन्तिम नहीं माना, वैसे ही उसके द्वारा प्रतिपादित विचार भी अन्तिम मान्य नहीं, मनन संशोधन का अवसर है और रहेगा। अतः यह कथन कि सुजन सुचित से सुन करके सुधार कर सकते हैं, किसी भी ग्रन्थ की उत्तमता, उपादेयता या प्रामाणिकता को कुछ भी कम नहीं कर सकता। उल्टे इससे लेखक की दीनता की वृत्ति के अतिरिक्त निष्पक्षता, उदारता, व अनाग्रही वृत्ति सिद्ध होती है।

श्री भर्तृहरि जी ने नीति शतक में लिखा है कि जब मैं कुछ नहीं जानता था तब मुझे सर्वज्ञता का अभिमान था, जब ज्ञानी जनों के पास बैठ बैठ कर कुछ कुछ जाना तो पता चला कि मैं कुछ नहीं जानता। महत्मा सुकरात्त का यह कथन प्रसिद्ध है 'मैं एक ही बात जानता हूँ कि में कुछ नहीं जानता।' ज्ञान के प्रगाढ़ व तेजस्वी होने से अभिमान गलित होता हैं तब यह वृत्ति भी नहीं रहती कि मैं ही ठीक कहता हूँ शेष सब गलत कहते हैं। श्री गोस्वामी जी जो कुछ लिखते हैं वह भगवत्कृपा से भगवत्सेवार्थ ही है और साधु समाज को समर्पित है। श्री राम चरित मानस में वरदान माँगा गया है —

होहु प्रसन्न देहु वरदानू। साधु समाज भणित सनमानू॥
(बाल काण्ड)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्री गोस्वामी जी महाराज जिस समाज की सम्मति का आदर करते हैं वह साधु समाज हैं। वह पण्डित, प्रचारक, प्रोफेसर, शास्त्रार्थी, विवादी, आलोचक, गर्वान्वित, गौरवान्वित या सिद्ध समाज में अपनी कृति का आदर पाने के लिए उत्सुक नहीं है महत्वाकांक्षा से सर्वथा रहित है। वस्तुत: महत्वाकांक्षी व्यक्ति तत्व निरूपण का अधिकार भी नहीं रखता।

श्री गोस्वामी जी ने जो यह कहा है कोई अनुचित वचन हो तो उसका सुधार कर लिया जाय वह साधु समाज के प्रति कहा है। साधु-समाज यदि सर्वानुमति से किसी वचन को अनुचित पाए तो संशोधन कर ले, इसमें कवि को कोई आपत्ति नहीं है। कोई आलोचक जैसा चाहे ग्रंथ में फेर बदल कर दे, यह गोस्वामी जी का मन्तव्य नहीं है।

सच्चे साधु दोष दर्शी नहीं होते, वे यथासम्भव बिचार और मनन के द्वारा सामञ्जस्य पूर्ण, समन्वित अर्थ ही करेंगे। तथापि यदि कोई बात उनकी विवेकपूर्ण दृष्टि में शास्त्र के प्रतिकूल हो तो वे उसे मानने के लिए विवश नहीं हैं। उसे अवश्य संसोधित किया जाय।

ज्यों बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।।
(बाल काण्ड)

जैसे माता पिता बालक की तोतली वाणी को प्रेम से, प्रसन्नता से, सुनते हैं, बच्चारण सम्बन्धी त्रुटियों का विचार नहीं करते, उनकी उपेक्षा करके भाव ग्रहण करके प्रसन्न होते हैं, वैसे ही साधुजन भाव ग्राही होते है, वे सार ग्रहण करते हैं, प्रासगिक त्रुटियों को महत्व नहीं देते हैं।

श्री गोस्वामी जी परम विनीत हैं, दास भाव रखते हैं, अपने को दासानुदास की भूमिका में रखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नाम लै भरै उदर एक, प्रभु दासी दास कहाइ । वि० प० ।

प्रभु दासी 'तुलसी' उसके दास 'तुलसीदास कहलाते हैं, अत: आप यह नहीं मानते कि आप साधु-समाज को उपदेश देने की स्थिति में हैं। जैसे छोटे विद्यार्थी अपना पढ़ा हुआ पाठ गुरुजनों को सुनाते हैं, उसी विनीत भाव से आप अपना तत्व सम्बन्धी कथन साधु समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हैं, अत: संशोधन की सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

श्री राम जी ने भी जब प्रजा को उपदेश किया तो सत्ता, अधिकार प्रभुता आदि के भावों से नितान्त अलग रहकर बोले।

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुमहिं सोहाई ।।
जो अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहिं बरजेहु भय बिसराई ।।

(उत्तर काण्ड)

जब इष्ट देव की यह विनयपूर्णता और ऐसा शील है तो फिर अनन्य भक्त का क्यों न हो ?

श्री कृष्ण ने भी गीता में कहा है– विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु। (१८. ६३.) इस सब पर पूरा विचार करके जैसा चाहो करो।

सम्प्रदायिक या संकीर्ण दृष्टि से इस ग्रंथ की आलोचना सरल है, परन्तु वह व्यर्थ है, क्योंकि वह साधु समाज सम्मत नहीं हो सकती। तत्व निरूपण में श्री गोस्वामी जी की दृष्टि सर्व भौमिक है, साम्प्रदायिक नहीं। वैसी ही विशाल और उदार दृष्टि से इस ग्रंथ का मर्म जाना जा सकता है। साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखा हुआ साहित्य उत्कृष्ट होने पर भी प्राय: सम्प्रदाय तक सीमित रह जाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सुधार लेने की बात में सत्य निष्ठा रखते हुए भी, विनयपूर्ण शब्दों में गहन अध्ययन, मनन जादि की प्रेरणा निहित है। क्योंकि सन्त वृत्ति से सावधान होकर समुचित श्रवण मनन पूर्व शर्त के रूप में अंकित है।

पहले श्री वैराग्य संदीपनी को अखिल ज्ञान का सार (पूर्व छन्द ७) बताया और अब सुजन जन को सुचित श्रवण के लिए आहूत किया। इसी में यह प्रेरणा छिपी है कि इस छोटे से ग्रन्थ में अखिल ज्ञान का सार कैसे आ गया, इसका पता लगाया जाय। श्री राम चरित मानस महा-काव्य में व्यास (विस्तृत) और समास (संक्षिप्त) दोनों शैलियों से निरूपण हुआ है। उसके आदि में कहा कि--

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदण्यतो-
ऽपि। (बाल काण्ड)

परन्तु यहाँ इस छोटे से ग्रंथ में ही वेद पुराण मत, पूर्ण शास्त्र विचार और अखिल ज्ञान का सार प्रस्तुत होने का दावा किया गया। अब यदि किसी को भी यह देखना हो कि अखिल ज्ञान का सार यहाँ कैसे माना गया तो उसे अखिल ज्ञान का विचार करना होगा। और इस पर भी कि वह सार रूप से यहाँ ग्रथित है या नहीं। यह काम विद्वान् सन्त जन ही सम्यक् स्वाध्याय के बाद कर सकते हैं। यदि उनमें ऐसी जिज्ञासा जाग्रत हुई और उन्होंने श्रवन मनन को अपनाया तो इसमें नहीं कि वैराग्य जागृत होगा या दृढ़ होगा। इससे श्री वैराग्य संदीपनी का प्रयो-जन सिद्ध होगा। वैराग्य से शुद्ध अन्तःकरण में शांति विराजमान् होगी और राम राज्य की दुहाई फिरेगी। तब तो अखिल ज्ञान का सार स्पष्ट लक्षित होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभिमानी उपदेशक को सुनकर प्रतिकूल प्रक्रिया सहज है। परन्तु जो विनय पूर्वक सद्विचार पूर्ण निवेदन प्रस्तुत करता है और अपनी गलती जानने और मानने को उत्सुक है उसका विचार सहज ही लोकप्रिय हो सकता है।

'सबहि मान प्रद आपु अमानी। (उत्तर काण्ड) ऐसे सन्त भगवान् को प्राणप्रिय हैं इसलिए भी विवेकी वक्ता श्रोता का आदर करते हुए प्रवचन करते हैं। वे मानते हैं कि शास्त्र तो सही हैं ही यदि कोई त्रुटि होती उसका उत्तरदायित्व उनका है न कि शास्त्र का। इसलिए सन्तों ने जहाँ तहाँ 'मति अनुसार कहने की बात अकित की हैं। श्रीमद्भागवत की कथा के विषय में श्री सूत जी ने स्वयं कहा है :-

सोहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथा मतिः।

(श्री मद्भागवत १. ३. ४५.)

वह कथा मै आपको सुनाऊँगा, जैसा कुछ मैने पढ़ा है, जैसी भी मेरी बुद्धि है (उसके अनुसार)।

तत्व निरूपण में 'इदमित्थं, (यही है इतना ही है) नहीं कहा जा सकता। इसलिए भी दर्पाभिमान रहित विनय पूर्ण कथन ही विहित है। तस्मात् उसी साधु मर्यादा का पालन करते हुए श्री गोस्वामी जी ने ग्रन्थ का समापन किया हैं।

यहाँ यह देख लेना भी अच्छा होगा कि न केवल शास्त्रकार बल्कि महान भाष्यकार भी भारतीय सस्कृति की स्वस्थ परम्परा के अनुसार विनय पूर्ण कथन के अग्रणी रहे हैं। श्री नद्भागवत के महान टीकाकार श्री धर स्वामी जी ने अपनी बुद्धि को भगवच्चरित्र के अनुशीलन में सक्षम नहीं माना–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्व तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः ।

जहाँ मन्दराचल डूब जाता है, वहाँ परमाणु की क्या हस्ती है ?

श्री लोकमान्य तिलक जी का कर्मयोग रहस्य श्री गीता जी पर बहुत ही अनोखा विद्वत्ता पूर्ण भाष्य है, परन्तु उसमें उन्होंने लिखा—

सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी ।

जानूँ उसका भेद भला क्या मैं अज्ञानी ।।

जहाँ परम पूज्य ऋषियों की यह भूमिका है और महान् भाष्यकारों की यह विनय शीलता है, किसी साधारण जन के भाष्यकार के रूप में प्रवृत्त होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु श्री भगवान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ : हैं । 'मूकं करोति वाचालं, वे मूक को भी वाचाल कर सकते हैं, इसी प्रकार सन्तों की कृपा से भी आशातीत कार्य होते देखे गये हैं, जैसे सन्त ज्ञानेश्वर की शक्ति से भैंस के पड़वे के द्वारा वेदोच्चार । अतः किसी अयोग्य द्वारा भी महत्प्रयास हुआ प्रतीत हो तो सन्त भगवन्त की कृपा से सम्पादित समझना चाहिये । सारा श्रेय भगवान् को हीं है । और किसी को नहीं । 'सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं । (वि० प०) तथा नाम प्रसाद सही जो कहै कोउ शिला सरोहर जामो । (वि० प०) श्री नरसी मेहता जी ने भगवान् के आशीर्वाद व आज्ञा से भक्तिपूर्ण हजारों पद गाए और गुजराती साहित्य में अप्रतिम स्थान प्राप्त किया ।

श्री गोस्वामी जी महाराज भगवान् के अनुपम कृपापात्र हैं, अतः आपके द्वारा सर्व गुण सम्पन्न आदर्श निरूपण होना सहज और स्वाभाविक है । यदि कोई सदाशय पूर्वक संशोधनार्थ भी इस ग्रन्थ के अध्ययन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
में प्रवृत्त होगा तो स्वयं उसके अन्तःकरण का संशोधन होने लगेगा। ऐसा अनुपम यह प्रस्तुतीकरण है।

जय जय सीताराम की, जय लक्ष्मण बलवान।
भक्तन माल गुमेरु जय, तुलसीदास महान॥

—:o:—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैराग्य संदीपनी

अवधेश दयाल

कृत भाष्य सहित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैराग्य संदीपनी

अवधेश दयाल

कृत भाष्य सहित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैराग्य संदीपनी

अवधेश दयाल

कृत भाष्य सहित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE